अंक : 61, भाग : 1, वर्ष : 2015-16
Volume : 61, No. : 1 Year : 2015-16
ISSN : 0554-9884

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका

प्रज्ञा

PRAJÑĀ

''प्रज्ञा'' अंक–60, भाग–2, वर्ष–2014-15 ''विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विशेषांक'' के विमोचन के अवसर पर लिया गया चित्र
दिनांक 14.09.2015 (स्थान–कुलपति कक्ष, केन्द्रीय कार्यालय)
(बायें से) प्रो. देवेन्द्र कुमार, सिरामिक अभियान्त्रिकी विभाग, आई.आई.टी.; प्रो. एस.बी. राय, भौतिकी विभाग; प्रो. श्रीनिवास पाण्डेय, सम्पादक, ''प्रज्ञा'' जर्नल;
बीच में – प्रो. गिरीश चन्द्र त्रिपाठी, कुलपति; प्रो. कमल नयन द्विवेदी, द्रव्यगुण विभाग; प्रो. राधेश्याम राय, हिन्दी विभाग एवं
प्रो. सदाशिव कुमार द्विवेदी, संस्कृत विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

''प्रज्ञा'' पत्रिका ''विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विशेषांक'' का अवलोकन करते हुए
माननीय कुलपति एवं ''प्रज्ञा'' के सम्पादक मण्डल के सदस्यगण।

प्रज्ञा

PRAJÑĀ

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

अंक 61, भाग 1

वर्ष 2015-16

Published
by
The Banaras Hindu University

PRAJÑĀ

(Journal of Banaras Hindu University)

Vol. 61, No. 1 (2015-2016)
ISSN : 0554-9884

© Banaras Hindu University
August 2015

All Correspondence should be addressed to
The Editor "**PRAJÑĀ**"
BANARAS HINDU UNIVERSITY
VARANASI- 221 005

Printed at :
Kishor Vidya Niketan
B-2/236-A-1, Bhadaini, Varanasi-221001

प्रज्ञा

मुख्य संरक्षक : प्रो० गिरीश चन्द्र त्रिपाठी

कुलपति, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

संरक्षक मण्डल

प्रो० राजीव संगल
निदेशक, भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान (बी०एच०यू०)

प्रो० राणा गोपाल सिंह
निदेशक, चिकित्सा विज्ञान संस्थान

प्रो० रवि प्रताप सिंह
निदेशक, कृषि विज्ञान संस्थान

प्रो० अखिलेश सिंह रघुवंशी
निदेशक, पर्यावरण एवं सम्पोष्य विकास संस्थान

प्रो० संध्या सिंह कौशिक
प्राचार्या, महिला महाविद्यालय

प्रो० कुमार पंकज
प्रमुख, कला संकाय

प्रो० आर० आर० झा
प्रमुख, सामाजिक विज्ञान संकाय

प्रो० ए० के० श्रीवास्तव
प्रमुख, विज्ञान संकाय

प्रो० जी० आञ्जनेय शास्त्री
प्रमुख, संस्कृत विद्या धर्म विज्ञान संकाय

प्रो० राम कृपाल पाण्डेय
प्रमुख, प्रबन्धशास्त्र संकाय

प्रो० आशा राम त्रिपाठी
प्रमुख, वाणिज्य संकाय

प्रो० भृगुनाथ पाण्डेय
प्रमुख, विधि संकाय

सम्पादक मण्डल

प्रो० राघवेन्द्र प्रताप सिंह
राजनीति विज्ञान विभाग, सामाजिक विज्ञान संकाय

प्रो० राधेश्याम राय
हिन्दी विभाग, कला संकाय

प्रो० सदाशिव कुमार द्विवेदी
संस्कृत विभाग, कला संकाय

प्रो० कमल नयन द्विवेदी
द्रव्यगुण विभाग, आयुर्वेद संकाय, चिकित्सा विज्ञान संस्थान

प्रो० देवेन्द्र कुमार
सिरामिक अभियांत्रिकी विभाग, भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान, बी.एच.यू.

प्रो० सच्चिदानन्द मिश्र
ज्योतिष विभाग, संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंकाय

प्रो० जय शंकर झा
अंग्रेजी विभाग, कला संकाय

प्रो० मिथिलेश कुमार पाण्डेय
अंग्रेजी विभाग, कला संकाय

प्रो० एस० बी० राय
भौतिकी विभाग, विज्ञान संकाय

श्री सुरेश कुमार
दृश्य कला संकाय

सम्पादक

प्रो० श्रीनिवास पाण्डेय
हिन्दी विभाग, कला संकाय

कुलगीत

मधुर मनोहर अतीव सुन्दर, यह सर्वविद्या की राजधानी।
यह तीन लोकों से न्यारी काशी।
सुज्ञान धर्म और सत्यराशी।।
बसी है गङ्गा के रम्य तट पर, यह सर्वविद्या की राजधानी। मधुर0।।
नये नहीं हैं ये ईंट पत्थर।
है विश्वकर्मा का कार्य सुन्दर।।
रचे हैं विद्या के भव्य मन्दिर, यह सर्वसृष्टी की राजधानी। मधुर0।।
यहाँ की है यह पवित्र शिक्षा।
कि सत्य पहले फिर आत्म-रक्षा।।
बिके हरिश्चन्द्र थे यहीं पर, यह सत्यशिक्षा की राजधानी। मधुर0।।
वह वेद ईश्वर की सत्यबानी।
बनें जिन्हें पढ़ के ब्रह्मज्ञानी।।
थे व्यास जी ने रचे यहीं पर, यह ब्रह्म -विद्या की राजधानी। मधुर0।।
वह मुक्तिपद को दिलानेवाले।
सुधर्मपथ पर चलाने वाले।।
यहीं फले-फूले बुद्ध शंकर, यह राज-ऋषियों की राजधानी। मधुर0।।
सुरम्य धाराएँ वरुणा अस्सी।
नहाए जिनमें कबीर तुलसी।।
भला हो कविता का क्यों न आकर, यह वागविद्या की राजधानी। मधुर0।।
विविध कला अर्थशास्त्र गायन।
गणित खनिज औषधि रसायन।।
प्रतीचि-प्राची का मेल सुन्दर, यह विश्वविद्या की राजधानी। मधुर0।।
यह मालवी की है देशभक्ति।
यह उनका साहस यह उनकी शक्ति।।
प्रकट हुई है नवीन होकर, यह कर्मवीरों की राजधानी।
मधुर मनोहर अतीव सुन्दर, यह सर्वविद्या की राजधानी।।

- डॉ0 शान्ति स्वरूप भटनागर

●

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नाऽपुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्।।

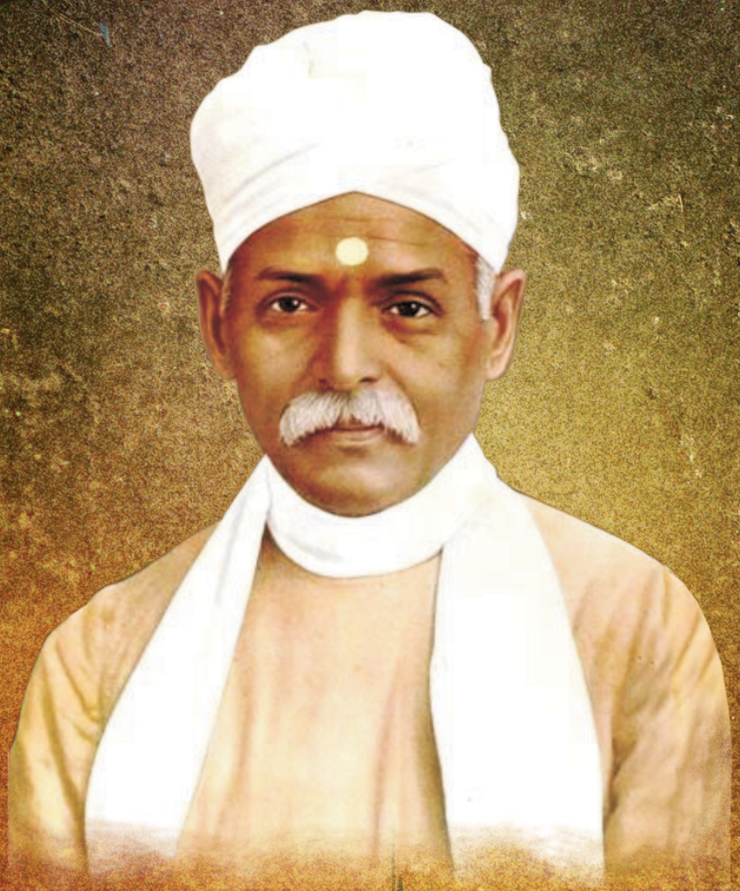

पं. मदन मोहन मालवीय जी

संस्थापक - काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

आविर्भावः वि. सं. 1918 पौषकृष्ण 8 (25/12/1861)

तिरोभावः वि. सं. 2003 मार्गशीर्षकृष्ण 4 (12/11/1946)

कुलगीतम्

(संस्कृतरूपान्तरम्)

शंकरदेव अवतरे

मधुरमनोज्ञातितरां सुरूपा समस्तविद्यावर-राजधानी

इयं त्रिलोक्या बहिरस्ति काशी
सुज्ञानधर्मादिक-सत्यराशिः
स्थितास्ति गङ्गारमणीयतीरे समग्रविद्यावर-राजधानी

एषा प्रसिद्धाऽत्र पवित्रशिक्षा
सत्यं हि पूर्वं तत आत्मरक्षा
गतो हरिश्चन्द्र इहैव पण्यं तत्सत्यशिक्षाकर-राजधानी

अधीत्य यानीश्वरसत्यवाचः
नित्यं नरा ब्रह्मविभूतिभाजः
चकार तान् व्यास इहैव वेदान् सा ब्रह्मविद्याक्षय-राजधानी

स शङ्करो मुक्तिपदप्रदाता
बुद्धश्च सद्धर्मपथं विधाता
इहैव वृद्धिं च गतौ समृद्धिं राजर्षिपूज्यामर-राजधानी

असी-सुधारा-वरुणा-जलेषु
स्नातौ कबीरस्तुलसी च येषु
तरङ्गिता किं कविताऽत्र न स्याच्छब्दार्थ-विद्याधर-राजधानी

कलार्थशास्त्राणि च गायनानि
खगोल-भूगोल-रसायनानि
प्राचीप्रतीच्यद्भुतसङ्गमेयं संसारविद्यावर-राजधानी

सा मालवीयस्य हि देशभक्तिः
तत्साहसश्चैव तदीयशक्तिः
इयं नवीनाविरभूदजस्रं या कर्मवीराव्यय-राजधानी

मधुरमनोज्ञातितरां सुरूपा समस्तविद्यावर-राजधानी

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
BANARAS HINDU UNIVERSITY
An Institution of National Importance established by an Act of Parliament

प्रो. गिरीश चन्द्र त्रिपाठी
कुलपति
Prof. Girish Chandra Tripathi
Vice-Chancellor

Varanasi–221005 (INDIA)
Phone : 91-542-2368938, 2368339
Fax : 91-542-2369100, 2369951
E-mail : vc@bhu.ac.in
Website : www.bhu.ac.in

अगस्त ३१, २०१५

शुभ-संदेश

विश्वविश्रुत काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की प्रसिद्ध शोध-पत्रिका **'प्रज्ञा'** के वर्तमान अंक-६१, भाग-१, वर्ष-२०१५-१६ के प्रकाशन के अवसर पर मुझे अत्यन्त हर्ष का अनुभव हो रहा है। यह पत्रिका १९५८ ई० से लेकर आज तक काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की वैदुष्य परम्परा एवं महामना के विचारों को पाठकों में सम्प्रेषित करने में सफल रही है। इसमें राष्ट्रीय एवं अन्तरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त विद्वानों के लेख छपते रहे हैं, जिससे यह प्रबुद्ध पाठक वर्ग में लोकप्रिय एवं समादरणीय रही है। इस पत्रिका में हिन्दी, संस्कृत एवं अंग्रेजी भाषा में लिखे शोध-प्रपत्र/लेख प्रकाशित होते रहे हैं। गत अंकों की भाँति इस अंक में भी ज्ञान/विज्ञान के अनेक क्षेत्रों से सम्बन्धित कई स्तरीय लेख प्रकाशित हैं।

इस अंक के सफल प्रकाशन हेतु मैं सम्पादक प्रो० श्रीनिवास पाण्डेय एवं उनके समस्त सहयोगियों को साधुवाद देता हूँ और आशा करता हूँ कि यह अंक गत अंकों की भाँति जिज्ञासु पाठकों की ज्ञान-पिपासा की पूर्ति करेगा और इस महान विश्वविद्यालय के यश में और अधिक वृद्धि करेगा।

(गिरीश चन्द्र त्रिपाठी)

सम्पादकीय

वसंत पंचमी 1916 को स्थापित इस महान विश्वविद्यालय के सौ वर्ष पूरे होने जा रहे हैं। इन सौ वर्षों के अन्तराल में भारतरत्न पूज्य महामना पं0 मदन मोहन मालवीय जी द्वारा रोपा गया विरवा आज विशाल वट वृक्ष बन गया है और देश-विदेश में अपनी विशिष्ट पहचान बना चुका है। इस विद्यामंदिर से निकले अनेक सपूतों ने ज्ञान/विज्ञान, शासन/प्रशासन, राजनीतिक क्षेत्र/सामाजिक क्षेत्र एवं अध्यात्म/संस्कृति के क्षेत्रों में बहुमूल्य योगदान किया है। महामना का पवित्र उद्देश्य था कि यहाँ के स्नातकों में प्रतिभा एवं ज्ञान के साथ-साथ उज्ज्वल चरित्र बल एवं शुभ संस्कारों का विकास हो। हम महामना के इस शुभ संकल्प को पूरा करने में निरन्तर सक्रिय हैं।

'प्रज्ञा' जर्नल के प्रमुख अंक–61, भाग–1, वर्ष 2015-16 में 42 शोध प्रपत्र/लेख संकलित हैं, जिनमें 31 लेख हिन्दी भाषा में, 02 लेख संस्कृत भाषा में और 09 लेख अंग्रेजी भाषा में लिखे गये हैं। इस अंक में ज्योतिषशास्त्र, दर्शनशास्त्र, शिक्षाशास्त्र, संगीतशास्त्र, हिन्दी साहित्य, संस्कृत-साहित्य, शारीरिक शिक्षा, सांख्यिकी, रसायन विज्ञान, विधि, प्राचीन इतिहास एवं संस्कृति तथा वाणिज्य आदि ज्ञान/विज्ञान के अनेक क्षेत्रों से सम्बन्धित लेख संकलित हैं। आशा है गत अंकों की भाँति यह अंक भी पाठक वर्ग में समादरणीय एवं लोकप्रिय होगा।

'प्रज्ञा' जर्नल के प्रस्तुत अंक–61, भाग–1, वर्ष 2015-16 के सफल प्रकाशन के अवसर पर मैं सर्वप्रथम इस विश्वविद्यालय के यशस्वी कुलपति आदरणीय प्रो0 गिरीश चन्द्र त्रिपाठी के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ, जिनके आशीर्वाद एवं प्रोत्साहन से इस अंक का सफल प्रकाशन हो सका है। कुलसचिव श्री केशव प्रसाद उपाध्याय, वित्त अधिकारी श्री अभय ठाकुर एवं अन्य अधिकारियों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, जिनका हमें बराबर सकारात्मक सहयोग मिलता रहा है। 'प्रज्ञा' के संरक्षक मण्डल एवं सम्पादक मण्डल के सभी सदस्यों को मैं साधुवाद देता हूँ, जिनका हमें समय-समय पर मार्गदर्शन मिलता रहा है। पत्रिका के स्तरीय प्रकाशन में रचनात्मक सहयोग करने के कारण मैं इस अंक के विद्वान् लेखकों का हृदय से कृतज्ञ हूँ। इस पत्रिका के यथासमय प्रकाशन हेतु मेसर्स किशोर विद्या निकेतन के डॉ. सन्तोष द्विवेदी एवं समस्त सहयोगियों को धन्यवाद देता हूँ। अंत में मैं 'प्रज्ञा' कार्यालय के सहयोगियों श्री राजेश कुमार, श्री जयप्रकाश एवं श्री अशोक कुमार को निरन्तर सहयोग करने के लिए धन्यवाद देता हूँ।

(प्रो. श्रीनिवास पाण्डेय)

सम्पादक, 'प्रज्ञा' जर्नल

विषय-सूची

1. भारतीय ज्योतिष का वैज्ञानिकत्व- एक समीक्षा 1
प्रो0 सच्चिदानन्द मिश्र

2. सर्वास्तिवाद में इन्द्रिय की अवधारणा 13
डॉ0 सीमा मुन्शी एवं
प्रो0 प्रद्युम्न दुबे

3. सामाजिक मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' कृत प्रबंधकाव्य 'उर्मिला' का समीक्षात्मक अध्ययन 16
शैलेश कुमार एवं
प्रो0 श्रीनिवास पाण्डेय

4. राष्ट्रगौरवम् में पर्यावरण-विचार 22
काजल ओझा एवं
प्रो0 उपेन्द्र पाण्डेय

5. अज्ञेय के कथा-साहित्य में स्त्री-मनोविज्ञान 25
प्रतीक्षा दुबे एवं
प्रो0 बलिराज पाण्डेय

6. रवि-रश्मियों सा दिव्य भाल... 28
डॉ0 पवन कुमार शास्त्री

7. मुक्त छन्द की अवधारणा और कवि निराला 29
डॉ0 राकेश कुमार द्विवेदी

8. भारतीय वाङ्मय : अनुमान-विचार 32
योगेश कुमार त्रिपाठी एवं
डॉ0 शिवराम गंगोपाध्याय

9. दलित विमर्श की वैचारिकी और महात्मा गाँधी 35
डॉ0 राकेश कुमार राम

10. वेदों में पुरुषार्थ विवेचन 38
अजय कुमार यादव एवं
प्रो0 उमेश प्रसाद सिंह

11. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी की छायावादी दृष्टि 40
रंजना पाण्डेय एवं
प्रो0 बलिराज पाण्डेय

12. काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के भोजपुरी अध्ययन केन्द्र में स्थित लोककला संग्रहालय : एक संक्षिप्त अवलोकन 42
डॉ0 शीतल राणा

13. शिक्षा व्यवस्था में मूल्यगत ह्रास ''कैसी आगी लगाई के सन्दर्भ में'' 47
हनी दर्शन एवं
डॉ0 उर्वशी गहलौत

14. अशोक वाटिका में श्रीसीताजी जिस वृक्ष के नीचे रहती थीं वह शीशम का वृक्ष था 50
श्रीधनञ्जय प्रसाद शास्त्री

15. वैदिक शिक्षा समीक्षा एवं वर्तमानकालिक उच्च शिक्षा का वैश्वीकृत एवं नवीनीकृत स्वरूप 53
डॉ0 निधि गोस्वामी

16. वैदिक काल में विज्ञान एवं तकनीकी शिक्षा का स्वरूप 57
डॉ0 लतापंत तैलंग एवं
डॉ0 वरद राज पाण्डेय

17. महामना की दृष्टि में विज्ञान, उद्योग व तकनीकी शिक्षा का नैतिकतामूलक स्वरूप 61
डॉ0 मनोज कुमार सिंह एवं
डॉ0 व्रजराज पाण्डेय

18. चतुरी चमार और निराला की दलित संवेदना 65
डॉ0 संगीता यादव

19. वैदिककालीन भारत में नैतिक शिक्षा का स्वरूप 67
डॉ0 वरद राज पाण्डेय एवं
श्री सम्पत कुमार पाण्डेय

20. समकालीन का नया आयाम-अंजली इला मेनन 70
अर्चना सिंह एवं
प्रो0 सरोज रानी

21. भारतीय चित्रकला में अष्टनायिका 75
अलका गिरि एवं
प्रो0 लयलीना भट

22. वर्तमान परिप्रेक्ष्य में संगीत शिक्षा की संस्थागत शिक्षण प्रणाली 79
एकता मेहता एवं
प्रो0 सरयू आर. सोन्नी

23. भारत के बहुप्रतिष्ठित वाग्गेयकार पं0 रामाश्रय झा 'रामरंग'' 83
प्रिया पाण्डेय एवं
डॉ0 के0 ए0 चंचल

24. भारतीय संगीत में दार्शनिक एवं आध्यात्मिक पक्ष 87
डॉ0 ज्ञानेश चन्द्र पाण्डेय एवं
प्रमोद कुमार तिवारी

25. पूर्वी उत्तर प्रदेश की लोक संस्कृति एवं उनके गीत 90
चन्द्रजीत वर्मा एवं
डॉ0 के0 ए0 चंचल

26. हिन्दू षोडश संस्कार व उनके भोजपुरी लोकगीत 93
डॉ0 कुमार अम्बरीष चंचल

27. स्वर एक-रूप अनेक 96
संदीप कुमार ओझा एवं
डॉ0 शिवराम शर्मा

28. व्यक्तित्व के विकास में संगीत की भूमिका 100
सुनील कुमार गुप्ता एवं
डॉ0 ज्ञानेश चन्द्र पाण्डेय

29. हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत एवं लखनऊ 103
सत्य प्रकाश एवं
प्रो0 सरयू आर0 सोन्नी

30. आदिकाव्य रामायण एवं उनमें निहित सांगीतिक वाद्य : एक ऐतिहासिक अध्ययन 108
डॉ0 भीमसेन सरल

31. शारीरिक शिक्षा में चित्रकला और महामना की प्रासंगिकता 112
मधु ज्योत्स्ना

32. मम्मटमुकुलभट्टयोर्वृत्तिविमर्शः 114
विमलेन्दु कुमार त्रिपाठी एवं
प्रो0 सदाशिव कुमार द्विवेदी

33. दाम्पत्यजीवने विंशतिःकूटानां पर्यालोचनम् 120
डॉ0 शत्रुघ्न त्रिपाठी एवं
गणेश त्रिपाठी

34. Ten Autonomous Factors for Women's Empowerment (AFWE) : A Regional Study in India 126
Dharma Raj and
Prof. B. P. Singh

35. Universe- An Infinite Living Energy Continuum 131
Prof. Ranjana Ghose and
Prof. Krishan Kumar Narang

36. Climate Change- A Challenge to World Agriculture 135
Dr. Ram Narayan Meena

37. Restrorative Justice : An Overview 140
Dr. Bibha Tripathi

38. A Study of Gold Working in Ancient India: An Overview 145
Dr. Nidhi Pandey

39. Technological Pedagogical Content Knowledge (TPACK) : A Framework for Teacher Knowledge 150
Mrs. Sangeeta Chauhan

40. Online Education : A Technological Boon 154
Vishakha Shukla

41. Effect of Household Environmental Health Hazards on Childhood Morbidity in Eag States and Assam 158
Krishna Kumar Pandey and
Dr. Hemkhothang Lhungdim

42. Positive Thinking - The Master Key to Success 170
Pawas Kumar and
Dr. O. P. Rai

नोट : ''**प्रज्ञा**'' जर्नल में प्रकाशित होने वाले लेखों से सम्बन्धित नियम एवं निर्देश : **125** & **174**

●

आवश्यक सूचना : ''प्रज्ञा'' पत्रिका के इस अंक में छपे हुए सभी लेखों/शोध-प्रपत्रों में व्यक्त विचार लेखकों के स्वयं के विचार हैं। उनसे सम्पादक, प्रकाशक अथवा विश्वविद्यालय प्रशासन का सहमत होना आवश्यक नहीं है।

भारतीय ज्योतिष का वैज्ञानिकत्व - एक समीक्षा

प्रो. सच्चिदानन्द मिश्र[*]

भारतीयखगोलशास्त्र में निरयणगणना-

* भारतीय ज्योतिष त्रिस्कन्धात्मक गणित,गोल तर्क तथा यन्त्राश्रित एवं यन्त्रगम्य कालविधायक त्रिकालिक एवं सार्वदेशिक वेदांग है। गणित सिद्धान्त संहिता तथा होरा इसके मुख्यांग है। उपर्युक्त गणितादि की सहायता तथा सापेक्षता से कालविधान के अन्तर्गत समग्र विधान 3या 5 मुख्यवर्गीकरण साधार,सतर्क एवं बुद्धिगम्य है। आधिभैतिक + आधिदैविक + अध्यात्मिक ये तीनों स्वरुप भिन्न -2 प्रायुक्तिकी से कैसे त्रिस्कन्ध ज्योतिष के अनुशीलन से गम्य है? गणितीय सत्यापन के साथ वेधगोलीय तथा पांचभौतिक,एवं त्रिगुणात्मक विभिन्नरुपक सत्यापन तथा परीक्षण संघसाध्य विषय है। व्यक्तिसाध्य विषय भी ज्योतिष के अन्दर है। खगोलीय सूक्ष्मवेध तथा गणीतीय सत्यापन के विना सूक्ष्मवादियों के अन्तर का भी समाधान सम्भव नहीं है। आधुनिक आचार्यों में म.म. सुधाकर,श्रीमान दीक्षित, श्रीमान केतकर तथा चुलैट आदि ने विकृत सायन का खण्डन किया है। वस्तुतः नक्षत्रपुञ्ज निरयण है, तथा सौरमण्डल सायन। अगर भाषान्तर में कहें, तो नक्षत्रपुञ्ज निरयण है अर्थात् स्थिर नक्षत्र सापेक्ष गणना निरयण है, तथा सूर्य सापेक्ष गणना सायन। स्थिर नक्षत्रों की सापेक्षता से सौरमण्डल कहाँ है, इसका ज्ञान अयनांश संस्कार से करते हैं। वस्तुतःअयनांशविमर्श में मैंने अयनतत्त्व तथा अयनांश की समुचित समीक्षा की है। लेकिन केवल गणितीय दृष्टि से 207,209,212,शकाब्दों में शून्याायनांश काल कौन सा ठीक हैं। अन्तर का कारण योगतारान्तर तथा नक्षत्रचक्रारम्भ में अन्तर मानना यहाँ भी हेतु हैं। नक्षत्रविद्या तथा महाकाशविज्ञान में यह स्वतन्त्र तथा अतिविस्तृत विषय है। अचल प्रभावी ये अतिदूरस्थ नक्षत्र कितने अधिक महत्वपूर्ण हैं, कि उन्हें छोड़कर हमारे किसी इष्ट की सिद्धि संभव नहीं है। यतः वैदिकानां नक्षत्रेषु प्रसक्तिरिति। वेद में नक्षत्र इष्टि की ही प्रधानता है।आधुनिक महाकाशविज्ञान उसी दिशा में गतिशील है, इसे उभयशास्त्र मर्मज्ञ अब फिर से समझने लगे हैं।[1]

* सूर्य भी आदित्यसंज्ञक नक्षत्रों का एक हिस्सा मात्र है। इससे सौरमण्डल तथा सौरपरिवार के आहादि भी इसके हिस्से हो जाते हैं। यह त्रिपादूर्ध्वोऽद्वैतपुरुषः का प्रतीक है। नक्षत्रों के अचल प्रभाव सौरमण्डलीय संचरण वश अन्तरित होते हैं, तथा आकर्षणादि सम्बन्धों के बदलते रहनें से प्रभावान्तर के कारण बनते हैं। संहिता एवं जातक के समस्त प्रभाव निरयणन्तर्भुक्त सायन एवं मन्दकेन्द्र की सापेक्षता से प्रभावी होते हैं। इस सत्य को प्राचीनों ने बहुत पहले से प्रकट कर दिया था।[2]

यात्रा विवाहोत्सवजातकादौ खेटैस्फुटैरेव फलस्फुटत्वं।स्यत्प्रोच्यते तेन नभश्चराणां स्फुटक्रिया दृग्गणितैक्य कृद्या।। सि.शिरोमणि स्प.अ.श्लो. 1 से सूक्ष्मनिरयण गर्भीय गणना समग्र प्रभावशास्त्र की दृष्टि से महत्व पूर्ण है। यही कारण है, कि नक्षत्रों के निरयण भोग एवं सायन भोग तथा सौरमण्डलीय निरयण, सायन तथा केन्द्रिक सापेक्षता से होने वाले गोलीय परिवर्त्तन एवं प्रभावों के कारण हीं प्राचीन शास्त्रों में निरयणान्तर्भुक्त समन्वय के मार्ग मिलते हैं। ये समस्त तथ्य बीज निष्कर्ष रूप में आज भी बहुत कुछ प्राप्त हैं। निरयण नक्षत्रपुञ्ज में अयनगति के कारण कोई परिवर्तन नहीं होता। नक्षत्रों की निजी गति एवं परिवर्तन से उनकी आकृति बदलने में एक महायुग बीतने के अनेक वैदिक प्रमाण आज फिर से अनावृत्त एवं तद्जन्य रहस्य भेदित होरहे है। आधुनिक कालखण्ड भौतिक विज्ञान की दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण है।अब आधिदैविक तथा अध्यात्मिक द्वार खटखटानें का दौर भी अतिविकसित देशों में प्रारम्भ होचुका है। भारत में यह सन्दर्भ अभी व्यक्तिगत स्तर से आगे नहीं बढ पारहा।[3]

* नक्षत्र मण्डल निरयण होने से अयनगति के कारण उनकी आकृति तो नहीं बदलती लेकिन भूपृष्ठीय सापेक्षता से भूसूर्य सम्बन्ध की निष्पत्ति से भूगोलीय विषुवाग्र बिन्दु का अश्विन्यादि नक्षत्रपुञ्जों की सापेक्षता से (नक्षत्रों के ध्रुवीय भोगांश, शरांश एवं क्रान्त्यंश प्रभृति) विलोम चलन होने से इनके सौर सापेक्षिक संस्थान, मान, तथा ध्रुवांक काल सापेक्ष बदलते जाते हैं।यह अयनगति से उत्पन्न होता है।[4]

भूगोलीय ध्रुवाक्ष कोट्यक्ष 24^0 त्रिज्यावृत्त में कदम्ब के चारों ओर ध्रुव तारा का भ्रमण विषुवाग्र कोट्यग्र के भगोलीय सापेक्षता से होने वाले विलोम गति से होने बाले स्थान परिवर्तन से गणितीय ध्रुवस्थान में दृश्य तारा ध्रुवतारा तथा अश्विन्यादि रेवत्यन्त 27 या साभिजित 28 नक्षत्रों में कालभेद से तात्कालिक दृष्टि से नक्षत्र प्रथमत्व तथा मासप्रथमत्व बदलता जाता है।ऐसा भगोलान्तर्गत सौरसंस्थान की स्थिति होने से होना निसर्ग है।[5]

* इन तथ्यों की जानकारी वैदिक काल में होने पर भी इनके विधायक ग्रन्थ अनुपलब्ध होने से वैदिकविज्ञानवाद का सुप्त रूप को फिर भारतीय नवजागरण काल में मथुरानाथ शुक्ल के बाद पं. नीलाम्बर झा, सी.आई.ए. बापूदेव शास्त्री, म.म. सुधाकर द्विवेदी प्रभृति भारतीय ज्योतिर्वैज्ञानिकों ने सगणित त्रिस्कन्ध ज्योतिष के सभी पक्षों को पूर्ण व्यवस्थित किया, इसमें आज सन्देह नहीं है।[6]

---

* विद्यावाचस्पति, प्रोफेसर, पूर्व अध्यक्ष, ज्योतिष विभाग, धर्मविज्ञानसंकाय, काशीहिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी

* विद्यावाचस्पति मधुसूदन ओझा जी ने वैदिक विज्ञानवाद को नई गति दी तथा जो मन्त्र यास्क बी.सी.800 के बाद दुर्बोध हो गये थे, उन्हें सुगम गणितीय एवं तर्क निष्ठ भाषा में व्यक्त कर वैदिक विज्ञानवाद को युगोचित गति दे दी, लेकिन स्वतन्त्रता के बाद भी संस्कृत विरोधी भाषा के साथ संस्कृत वाङ्मय के सर्वहित साधक रूप को इसलिए नष्ट करना चाहे तथा चाह रहें,कि यदि सभी संस्कृत वाङ्मय से अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार जुड़ गये तो कहीं उनके छल-छद्म का पर्दाफाश न हो जाये। क्योंकि,ज्योतिष विज्ञान वैदिक महाविज्ञान का नेत्र है, अतः जैसे समस्त क्षमता सम्पन्न होने पर भी अन्ध व्यक्ति चाह कर भी बहुत कुछ नहीं कर सकता, वैसे इस का उद्देश्य जहाँ एक ओर भारतीय ज्योतिष के विज्ञानमयत्व को सिद्ध करना है, वहाँ दूसरी ओर अन्धविश्वास को मिटाकर असतो मा सद्गमय की ओर मानव समाज को उन्मुख भी करना है।[7]

* स्वर + ज्योतिष के कालान्तर्भुक्त अविनाशी स्वरूप को प्राचीनों ने पिण्ड एवं ब्रह्माण्ड की निष्पत्ति से कैसे जाना? यह प्रश्न वैदिक वाङ्मय में उत्तरित होने पर भी आज बोधार्थ अन्वेषणान्तर्गत है। पराध्वनि एवं पराज्योति की समष्टि चिनगारी रूप आत्मा के अस्तित्व को भौतिक विज्ञान से सिद्ध कैसे किया जाये? पुनर्जन्म, आत्मा, परमात्मा, कालसापेक्षिक पिण्डीय एवं ब्रह्माण्डीय स्वतन्त्र तथा योगज प्रभाव एवं सटीक पूर्वानुमान के वैदिक वैज्ञानिक क्रम को आज फिर से कैसे प्रकट किया जाये?[8]

* धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष स्वरूप चतुर्विध पुरुषार्थ की प्राप्ति का निगमागम सम्मत मार्ग क्या अन्धविश्वास हैं? अगर हाँ तो कैसे? नहीं तो क्यों? यद्यपि संस्कृतवाङ्मय इन तथ्यों का सकारण विमर्श तो करता है, लेकिन क्या? हमारी वर्त्तमान क्षमता उन्हें ठीक-ठीक समझ कर व्यवहारिक रूप देने की है? अनेक प्रश्न हैं। बहुत सारे प्रश्नों के उत्तर सरहस्य ज्ञात हैं, लेकिन फिर भी अभी भी अज्ञात का पलड़ा बहुत भारी है।[9]

* यद्यपि भारतीय विद्याओं के सभी पक्ष इसमें सामान्यरूप में आ गये हैं। कुछ उत्तरीत हैं, कुछ प्रश्न है। कुछ रहस्यमय तथ्य फिर से नवीन अन्वेषण क्रम में आ गये हैं। अतः चराचर सत्तात्मक विश्व सत्तात्मकवेदरूप होने से हमारे लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। ज्योतिष को गुह्यमाध्यात्मसंज्ञक क्यों कहा है? नक्षत्रों का भारतीय स्वरूप एवं पाश्चात्य अन्वेषण के साथ नक्षत्रमूल खगोलीय ऐतिहासिक गणना पद्धति के ग्राह्यपक्ष को भी विमर्शित करनें की जरुरत है।[10] द्युलोकीय विकास को पौराणिक ग्रन्थों में देवादि दिव्यमण्डलीय विकास एवं दिव्य चेतना दिव्यमहिमा से जोड़ा है। वैदिक मूल 'द्यावापृथिवी माता द्यौरन्तरिक्षं विष्णुः पिता च' पृथ्वी माता द्युलोक पिता के सिद्धान्त से द्वैतविश्व पिण्ड से मानव तक सचेतन एवं जड़भौतिक की समष्टि मानव को ब्रह्मसृष्टि का सर्वोत्तम विकास सभी भारतीय पक्ष किसी न किसी रूप में स्वीकार करते हैं। षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च के साथ योगमूल सम्बद्ध ज्ञापक निष्पत्ति महर्षि पतञ्जलि द्वारा व्यक्त होने पर भी भारतीय 14 विद्यात्मक क्रम में स्थापित नहीं रख सके।[11]

4 उपवेदों में धनुर्वेद एवं अथर्वादि शास्त्रों की तथा कथित अहिंसक उपेक्षा से केन्द्रिक विकास खण्डित हो गया। हिंसकपशुवृत्ति के लिए न सदाचरण का महत्व रहा नही सत्शिक्षा का। आयुर्विज्ञान तथा गान्धर्ववेद भी विभिन्न कारणों से विधिवत् गतिशील नहीं रह सका।[12]

* पूर्वानुमान एवं भारतीय प्रभावशास्त्र का संहितोक्त वैज्ञानिक धाराएँ देश की गुलामी से आगे क्षीण मात्रा में प्रवाहित कैसे रही तथा आज नव्ययोग से कैसे विश्व हित में विश्वरक्षा निमित्त इनकी महत्वपूर्ण भूमिका आज भी प्रासंगिक हैं, इसे भी यथा साध्य अयनांशविमर्श,नक्षत्रविद्या आदि में निरूपित करने की चेष्टा की गयी है।उन तथ्यों पर भरतीय ध्यान दें तो आज भी जीवन के सभी क्षेत्रों में अच्छी शुरुआत हो सकती है।[13]

* इस में जिन विषयों के ऊपर संकेतात्मक विमर्श प्रस्तुत किये गये हैं, एतदर्थ आधारभूत ग्रन्थों का भी जिक्र (चर्चा की गयी) है। इस में-प्रारम्भ से अन्त तक प्राचीन भारतीय विद्याएँ ज्योतिष एवं आधुनिक विज्ञान समस्याएँ एवं समाधान से प्रारम्भ कर ज्योतिष अनेक वैज्ञानिक विद्याओं की समष्टि एवं गणिताश्रित गोलसम्बद्ध यन्त्र, तर्क एवं विमल बुद्धिगम्य सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक शास्त्र क्यों है? इन्हें विधिवत दर्शाया है। ज्योतिष एवं आधुनिक विज्ञान की तुलना करते हुए समाधान पक्ष पर विशेष ध्यान केन्द्रित किया गया है।[14]

1. समस्याएँ तथा घटनाएँ अकारण उत्पन्न नहीं होती। 2. संयोगात्मक सभी तथ्य सहेतुक है। 3. 14 महाविद्याएँ सद्विविध सुरक्षा -आन्तरिक एवं बाह्य। 18 वा 20 वैदिक, तान्त्रिक, पौराणिक महाविद्यात्मक धाराएँ आज भी महत्वपूर्ण हैं। समग्र विश्व आज भी किसी न किसी रुप में इनका अनुकरण कर रहा है।
4. युग भेद, स्थान एवं देशभेद, काल भेद एवं पिण्ड वा पात्र प्रकृति भेद, समष्टि एवं व्यष्टि की सापेक्षता से परिवर्तन शील संसार तथा सृष्टि स्थिति संहारक एवं पालक काल के सम्बन्धों को समीक्षित करने वाली नेत्ररूप कालविधायक ज्योतिष को छोड़कर कोई अन्य विद्या नहीं है। इसके साथ इसके गणितीय एवं तर्कनिष्ठ मूलाधार से सभी तथ्य गम्य हैं।

भास्कराचार्य ने कहा भी है-

अस्ति त्रैराशिकं पाटी बीजं च विमला मतिः।

किमज्ञातं सुबुद्धिनामतो मन्दार्थमुच्यते।[15]

यही त्रिकालिक सत्य है। बुद्धि ही पारमार्थिक बीज है, यदि निर्दुष्ट हो। समस्या का समाधान, प्रारम्भिक निदान, अनुमानित क्रम, ज्योतिष के विकास में बाधक तत्त्व-संस्कृत संस्थानों को सप्रयोग तथा संसाधन युक्त बनाना क्यों जरूरी है? आत्मविद्या एवं 24 उपसिद्धियाँ-आज सुषुप्ति के दौर से क्यों गुजर रहें हैं? 24 सिद्धियाँ क्या हैं? कैसे संस्कृत शिक्षा युगानुरूप बने? एतदर्थ एक सर्वाभिप्रायिक प्रस्ताव, संस्कृत शिक्षण का सैद्धान्तिक एवं सांस्कृतिक स्वरूप वैदिक विद्याओं के मूल एवं पद्धतियाँ, संस्कृत योग से संस्कृत शिक्षण संस्थान एवं नवीन शिक्षण संस्थान तथा उभयनिष्ठ समन्वित केन्द्रीय शिक्षण संस्थान का निर्माण तथा प्रारम्भ से समन्वित विकास तक की यात्रा एवं संस्कृत को सर्वव्यापक बनाने के उपायों पर भी विमर्श किया गया है। भारतीय ज्योतिष स्वरूप, स्थिति तथा वर्त्तमान ह्रास-एक समीक्षा के अन्तर्गत ज्योतिष शास्त्रान्तर्गत विभिन्न विद्या शाखाओं के बारे में विधिवत् जानकारी दी गयी है। कालविधायक ज्योतिष, का काल वर्गीकरण, भारतीयज्योतिष का स्वरूप एवं विभाग त्रिस्कन्ध वा पञ्चस्कन्धात्मक ज्योतिष मूल पर द्विविध गणित जब गोलीय अध्ययन में प्रयुक्त होता है, तब उसे गणित सिद्धान्त ज्योतिष कहते हैं। गणित

सिद्धान्त स्कन्ध, संहिता, होरा, केरल तथा शुभ शकुन के बारे में भी सर्व स्वीकृत वैज्ञानिक पद्धति में जानकारी दी गयी है।ज्योतिष का हर स्कन्ध गणित,गोल,तर्क एवं यन्त्राधारित होनें से विज्ञानमय है। गणित सिद्धान्त स्कन्ध के कल्पादि गणना सिद्धान्त, युगादि गणना तन्त्र तथा इष्टवर्षादि गणना करण के बारे में भी यथार्थ जानकारी दी गयी है। गणित की मूल शाखाओं के साथ नवीन गणितीय एवं खगोलीय विकास के बारे में भी यथार्थ विवरण प्रस्तुत किये गये हैं। प्राचीन गणित सिद्धान्त के निम्नाङ्कित विभाग आज प्राप्त होते हैं।[16]

* **गणित तथा गोल का सर्वविज्ञान मूलत्व ---**

1. व्यक्तिगणित-इसके अन्तर्गत अंकगणित,के दश प्रकार तथा सर्वविध क्षेत्रगणित, घनक्षेत्रीय एवं गोलीयगणित, काष्ठसम्बद्धकर्कच,कुट्टक तथा अंकपाश छः विभाग मूल रूप में प्राप्त होते हैं।
2. अव्यक्तगणित-बीजगणित -इसके कई भेद प्रयोग भेद से होगये हैं।
3. त्रिकोणगणित --सरल एवं चापीय त्रिकोण गणित ये दो भेद हैं।
4. रेखागणित, ये गणित के मूल विभाग गोलीय क्षेत्रों के योग से काफी विस्तृत हो जाते हैं।
5. ग्रहगणित-ग्रहगणित के 11 विभाग हैं। इसमें ग्रहो तथा नक्षत्रों के आनयन के विभिन्न प्रभेद सम्बद्ध है।
6. गोलीय-उपपत्ति एवं गोलीय यन्त्र तथा वेध -ये अत्यन्त महत्व पूर्ण हैं। काल सापेक्ष गणना एवं वेध की युक्तियाँ इससे सम्बद्ध है।
7. सोत्तरप्रश्न-सोदाहरण सर्वविध गणित एवं गोलीय गणित तथा गोलीयोपपत्ति का समवेत रूप इसमें प्राप्त होता है।
8. पञ्चाङ्गगणित-वस्तुतः यह करण ग्रन्थ का विषय है। विभिन्न सिद्धान्तों का प्रत्यक्ष अवगमन इसके द्वारा होता है। गोलीय वेध की भूमिका भी इससे जुड़ी है। वस्तुतः पञ्चाङ्ग निर्माण में वर्षफल संहिता, वृष्टिविद्या एवं वातावरण, सुभिक्ष, दुर्भिक्ष, कृषि, सामाजिकव्यवहार, विभिन्न शुभाशुभ कार्यों के मुहूर्त्त, धर्मशास्त्रीय विधान एवं व्रत पर्व उत्सव आदि का समन्वित रूप इसे बहुआयामी बना देता है।लेकिन इसका मूल भी गणित तथा गोलीय वेध है।

* संहिता स्कन्ध -इसके अन्तर्गत समग्र पृथ्वी पर होने वाले विभिन्न शुभाशुभ प्रभाव, दिव्य, नाभस, भौम, मिश्र एवं योगज के रूप में वर्गीकृत किये गये हैं। इसमें 100 वैज्ञानिक शाखाओं का सारांश वराह ने हर्ष श. 427 में प्रस्तुत किया था। वास्तुस्थापत्य भी संहिता का उत्तरभाग है। स्वर ज्योतिष संहिता तथा मानव एवं योग महाविज्ञान के साथ तन्त्र तथा आयुर्वेद को भी समन्वित करके चलता है। इसमें युद्ध एवं सुरक्षा का भी समावेश है।
* **संहितोक्त शान्तिकल्प** तथा धर्मशास्त्रोक्त शान्तिकल्प भी ज्योतिष, योग, आयुर्वेद, मन्त्र,मणि, तन्त्र, यन्त्र औषधि एवं अभिषेक के रुप में चिकित्सकीय ज्योतिष का समन्वित रूप है। इसका कुछ भाग Medical Astrology में प्रयुक्त होते रहे हैं।
* **शान्तिकल्प-**सर्वविधशान्ति एवं अशुभ मात्र का शमन शान्तिकल्प है। इसमें मानव जीवनरक्षक एवं विकासक अनेक विद्याओं का समन्वय है।

इस प्रकार इस युग में अगर मानवमात्र का कल्याण करना है तो इसे कम से कम 24 विभागों में विस्तृत निवेश कर पूर्वापर समन्वय की दृष्टि से गठित करना संहिता के युगानुरुप समुचित विकास के लिए आवश्यक है। नक्षत्र राशि तथा ग्रहों के प्रभाव दिव्यप्रभाव के रुप में तथा नाभस प्रभाव भूगोलीय ग्रहगोलीय एवं विभिन्न गोलीय अन्तरिक्ष से सम्बन्धित प्रभाव है। भौमप्रभाव में भूकम्प,एवं भूपृष्ठस्थ नानाविध प्रभाव आते हैं।

* सामुद्रिक शास्त्र-इसके संहितोक्त तथा जातकोक्त दो रूप समन्वयानुरोध से प्राप्त होते हैं। वराह ने सामुद्रिक परीक्षण की 14 पद्धतियाँ दी हैं। वे सभी वस्तु एवं पदार्थ तथा अन्य जीवजन्तुओं पर भी सर्वविध रहस्यावगमनार्थ बराबर लागू होते हैं।ये सभी प्रकार से भौतिकादि परीक्षण में प्रयोज्य हैं।गणित मूल से तथा शिल्प योग से इन सूत्रों के प्रयोग से भूत भविष्य तथा वर्त्तमान को जाानना संभव है।यथा-

1. उन्मान-किसी सजीव,निर्जीव या पदार्थ में लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई, मोटाई का समवेत रूप उन्मान होता है।
2. मान-वजन, प्रमाण, समष्टि तथा व्यष्टि का मान प्रमाण-
3. गति-गमन, चलन, परिवर्तन,तथा वृद्धि एवं ह्रास
4. संहति-घनत्व, दृढ़ता, अंगसन्धियाँ विभिन्नरुपक जोड
5. सार-सप्तसार, रक्तादि वीर्यान्त प्रमुखत्व,एवं संरचना गत मूलतत्त्व
6. वर्ण-रंग, गुणवत्तता, चेतना जन्यस्थिति एवं स्तर एवं क्षमता भेद
7. स्नेह-चिकनाहट, पदार्थ एवं वस्तु से मानव तक तैलांश प्रमाण एवं दीप्तांश
8. स्वर-ध्वनि, शब्द, स्वरप्राधान्य, अग्नितत्त्व प्राधान्य
9. व्यंजन-अलंकरण, शोभा, सोमतत्त्व प्राधान्य, लावण्य आदि
10. प्रकृति-सत्त्वरजतमप्रकृति, गुणाधिक्य, संरचनागत गुण एवं भूतजन्य प्राधान्य
11. सत्व-बल, चेतनाजन्य दृढ़ता एवं परिष्कार
12. अनूक-जन्मान्तरागमन एवं जन्मान्तर प्रभाव
13. क्षेत्र-मानवाभिप्राय से आचरण शीर्षादि चरणान्त अंगलक्षण अर्थात् शरीर एवं वक्ष्यमाण 10 प्रकार के शीर्षादि पादान्तलक्षण भेद आदि।
14. मृजा-पञ्चमहाभूतमयी शरीरच्छाया-(पात्र या पिण्ड छाया)अर्थात् भूतविशेष का प्राधान्य। वस्तुतः वराह के समय में ज्योतिष, आयुर्वेद, रसायनशास्त्र, तथा सामुद्रिक में एवं मूर्ति-शिल्प, चित्र एवं सर्वविध यन्त्र निर्माण में इनके प्रयोग होते थे। आज भी चिकित्सादि शास्त्रों में इनके अधिकांश विधान आधुनिक वैज्ञानिकों द्वारा प्रयुक्त किये जा रहे हैं। यथा वराह-अ. 58 श्लो. 1-115 द्रष्टव्य एवं समीक्षणीय है।

उन्मान मान गति संहति सारवर्ण,
स्नेह स्वर प्रकृति सत्वमनूकमादौ।
क्षेत्रं मृजां च विधिवत् कुशलोऽवलोक्य,
सामुद्रविद् वदति यातमनागतं च॥

गणितीय योग से ये सूत्र सभी प्रकार के वैज्ञानिक प्रयोग के मूल है।

* **भौमप्रभाव-** इसके अन्तर्गत भूगर्भीय, भूपृष्ठीय प्रभावों के स्वतन्त्र वर्गीकरण के साथ राशिपुञ्ज, केतु तथा सौरमण्डलीय योगज प्रभाव के भी प्रमाण मिलते हैं।पृथ्वी का स्वतन्त्र प्रभाव भौमप्रभाव है।

* **शुभशकुन** के अन्तर्गत भी काल, दिशा, देश, पात्र, प्रकृति, आकृति, चेष्टा, विकृति, मनोभाव, स्वर, प्राकृतिक वातावरण एवं लक्षण, मानव के साथ पशु, पक्षी, कीट, पतंग, सरीसृप आदि के चेष्टादि के अनुसार अनेक विद्याओं के योग से शुभाशुभ प्रभाव निर्धारण की अद्‌भुत पद्धति इसमें मिलती है। गणित के योग से यह पद्धति भी पूर्ण वैज्ञानिक है।

* **होरास्कन्ध-** यह मानवीय शुभाशुभ दर्शक सर्वाविध व्यवहारोपयोगी स्कन्ध है, तथा मानव के आजन्म मरणरान्त समस्त शुभाशुभ प्रभाव का दर्शक भी है। यह विद्या शुद्ध मानवीय होकर भी समग्र विश्व प्रभाव का मानवीय प्रभाव दर्शक होने से महत्वपूर्ण है। यह प्रारब्ध के साथ वर्तमान, भविष्य एवं मरणान्तर गति को भी व्यक्त करता है। इसके निम्नाङ्कित शाखाएँ हैं-1. जातकगणित, 2. होराप्रभाव दर्शक सिद्धान्त, 3. नष्टजातक, 4. शान्तिकल्प, 5. प्रश्न। इन्हीं मूलों के आधार पर इनकी अनेक पद्धतियाँ समग्र विश्व में प्रचलित हैं, लेकिन ऋषिपद्धतियों में सर्वाधिक मुख्य पराशर, जैमिनी आदि की पद्धति तथा दक्षिण भारतीय नाड़ी पद्धति उपलब्ध हैं।

* **प्रश्नतन्त्र-** इसके अनेक रूपों में 7 पद्धतियाँ मुख्य हैं। वे निम्नांकित हैं

1. लाग्निक प्रश्नतन्त्र, 2. स्वरप्रश्नतन्त्र, 3. केरलीप्रश्नतन्त्र, 4. शकुनप्रश्नतन्त्र, 5. रमलप्रश्नतन्त्र, 6. मूकप्रश्नतन्त्र, 7. अंकप्रश्न-तन्त्र।

* **मुहूर्त्तविद्या-** कर्त्ता, काल एवं कार्य में साम्य तथा विषमत्व का अन्वेषण मुहूर्त्त विद्या है। इन तीनों के प्रकृति साम्य से शुभ तथा वैषम्य से अशुभकाल खण्ड का चयन मुहूर्त्त विद्या है।हर काल खण्ड अपनें हिसाब से ठीक है। अनुकुलता तथा प्रतिकुलता के निर्धारण में कर्त्ता, कारण तथा कार्य की निष्पत्ति से कालखण्ड का निर्धारण करना मूहुर्त्त विज्ञान या विद्या है।

* **यन्त्रविद्या- 'यन्त्रीयतेऽनेनेति यन्त्रम्' से प्राकृतिक नैसर्गिक निर्माण के अनुकरण से सर्वविध मानवीय निर्माण की प्रक्रिया इसके अन्तर्गत आती हैं। अभियान्त्रिकी की अति उत्कृष्ट भारतीय परम्परा क्षीणवस्था को प्राप्त होने पर भी सैद्धान्तिक दृष्टि से आज भी इसका कोई मुकाबला नहीं है। जरूरत संस्कृत वाङ्मयनिष्ठ वैज्ञानिक आख्यानों से नवीन विकास को जोड़ने की है।भारद्वाज प्रणित यन्त्रसर्वस्व से काश्यपशिल्पम् समरांगणसूत्राधारआदि महत्वपूर्णग्रन्थों पर भारत में अभी भी व्यापक शोध प्रारम्भ नहीं हुआ है।**[17]

*'**कालः पचति भूतानि**' के प्रमाण से काल सभी का पाचक है। कालांश एवं क्षेत्रांश की निष्पत्ति से यह काल विधायक शास्त्र सर्वविज्ञानमूल तथा सभी सन्दर्भों में दृष्टिरूप होने से विश्वमहार्णव को एवं भवसागर को पार उतारने की परिचर्चा वैदिक वाङ्मय में है,। उस सर्वज्ञानमय या ज्ञानरूप वेद एवं सर्वविध बोध का नेत्र ज्योतिष अद्वैत से द्वैत तथा द्वैत पिण्ड से अद्वैत तक की यात्रा का मार्ग प्रशस्त करता है। यह द्वैत से अनन्त तक तथा अनन्त से द्वैत तक का प्रत्यक्ष ज्ञापक विधान भी आगम प्रयोग, प्रत्यक्ष दृष्टान्त, समीक्षण, निष्कर्षावगमन, सिद्धान्तीकरण तथा व्यवहारिक निवेश के प्राचीन 20 महाविद्यात्मक महावैज्ञानिक निवेश को वेद, वेदाङ्ग एवं शास्त्र के रूप में प्रयुक्त प्राचीन विधान, शिक्षण क्रम, विशेषज्ञता निर्माण तथा दिव्य वैज्ञानिक धाराएँ, जिनमें से अनेक लुप्त तथा सुप्त हैं, फिर भी प्राचीन संकेतों को समझ कर सदिश प्रयोग करने पर समस्त तथ्य आज भी संघीय क्रमिक विकास से गम्य हैं। यह तथ्य पूर्वापर वैज्ञानिक क्रम से सिद्ध प्राय है। वे लुप्त प्राचीन दिव्य वैज्ञानिक धाराएँ जो लुप्त या सुप्त हैं,ब्रह्माण्डीय योग से प्रकट करना असंभव नहीं है। देखें भारतीयज्योतिष नक्षत्रविद्या ।

* सभी 20 महाविद्याओं के वैदिक, तान्त्रिक, पौराणिक निगमागम समस्त महावैज्ञानिक धाराओं में विशेषज्ञता निर्माण की प्रक्रिया अलग-अलग हैं, लेकिन सभी का मूल शब्द गणन एवं अंकन तथा योग है।तर्क एवं शिल्प की युगीय क्षमता भेद अलग -2 बनते जाते हैं। प्रश्न, स्वर, दूर्गादि निर्माण तथा धनुर्वेद में ज्योतिषादि अनेक शास्त्रों के प्रयुक्त होने के प्रमाण मिलते हैं।

* मानवीय सर्वाङ्गीण विकास में ज्योतिषादि की अहं भूमिका तथा तन्त्रात्मक, मन्त्रात्मक एवं यन्त्रात्मक शास्त्रों में ज्योतिष की भूमिका कैसे सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक है, एतदर्थ निगमागम सम्मत प्रमाण द्रष्टव्य तथा समीक्षणीय हैं।

* **भारतीयज्योतिष नक्षत्रविद्या में प्रयुक्त ज्योतिष के विभिन्नविषयों के वैज्ञानिकत्व -इसके अन्तर्गत भारतीय ज्योतिष शास्त्र के स्वरूप एवं आधुनिक सम्बद्धता की समीक्षा की गयी है। अध्यात्मनिष्ठ विवेक नियन्त्रित वैज्ञानिक विकास में ज्योतिष समस्त ज्ञान, विज्ञान, कला, दर्शन एवं अध्यात्म के विद्यात्मक वर्गीकरण में इनकी भूमिका दृष्टि की है।**[18]

* सिद्धान्त, संहिता एवं होरा के भारतीय स्वरूप वैज्ञानिकता, भूगोलीय संस्थान,भूगोलीय कटिबन्ध विभाग तथा आधुनिक भूगोल विद्या से सम्बन्ध के ऊपर संक्षिप्त प्रकाश डाला गया है,जिससे भविष्य में समन्वित शैक्षिक एवं अन्वेषणात्मक धारा का निर्माण हो सके। क्रान्तिवृत्त,राशिचक्र, भूपृष्ठीयक्षितिज तथा क्रान्तिवृत्तीय भूक्षितिज सापेक्षिक लग्न क्यों प्रभाव शास्त्र की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं? इन तथ्यों पर विमर्श किये गये हैं।[18]

* जातकस्कन्ध के विधान पक्ष में कालनर की संकल्पना के ऊपर प्रकाश डालते हुए कैसे यह दिव्य, नाभस, एवं भौम प्रभावों से तथा आजन्म निधनान्त जैवविश्व तथा मानव को प्रभावित करता है? प्रारम्भिक तथ्य प्रस्तुत किये गये हैं। इस क्षेत्र में अभी यह शुरुआत मात्र है।[19]

फलित का वैज्ञानिकत्व में त्रिस्कन्ध ज्योतिष शास्त्र के अन्तर्गत फलित ज्योतिष को भी एक पूर्ण वैज्ञानिक एवं प्राकृतिक पद्धति है-एतदर्थ एक लघु समीक्षा प्रस्तुत की गयी है। नवविधकालमान, त्रिस्कन्ध ज्योतिष मेदनीय ज्योतिष, त्रिगोलीय प्रभाव तथा पृथ्वी मुहूर्त्त विज्ञान बनाम लघुकालखण्ड का प्रभाव कालांश एवं क्षेत्रांश का विविध रूप, एवं संहिता का विस्तार तथा वैज्ञानिकता का संक्षिप्त दिग्दर्शन कराया गया है।राशिमण्डलात्मक कालनर तथा आत्मादि के रुप में सौरमण्डलीय संयोग को भूपृष्ठीय जनन तथा निधन से कैसे जोडा गया,यह अन्वेषणीय है।[20]

ज्योतिषशास्त्र पर भ्रमात्मक आरोप का निवारण तथा दिग्शूलादि विधान के वैज्ञानिकता को भी दर्शाया गया है। वस्तु के स्वतन्त्र तथा सापेक्षिक एवं योगज प्रभाव के मूलविधान संकेतित किये गये हैं।

वैदिक नक्षत्र विचार के अन्तर्गत नक्षत्रपुञ्ज तथा राशिमण्डल, नक्षत्र विचार तथा ज्योतिषशास्त्र, वैदिक वाङ्मय में नक्षत्र विचार, नक्षत्र शब्द की व्युत्पत्ति, विभिन्न संहिताओं तथा ब्राह्मणों में प्रयुक्त नक्षत्रविज्ञान के उच्चस्तरीय निष्कर्ष, महाभारत में नक्षत्रविज्ञान, वेदाङ्ग ज्योतिष की नक्षत्रपद्धति, तथा इसमें प्रयुक्त सांकेतिक विधान, रामायण में नक्षत्र विचार के प्रमाण, कल्पसूत्रों में नक्षत्र विचार के प्रमाण, स्मृतियों में नक्षत्र विचार आदि तथ्य संक्षेप में प्रदर्शित किये गये हैं।

प्र. 10 इसके अन्तर्गत वेदाङ्गकालिक सिद्धान्त का विकास शीर्षक के अन्तर्गत सिद्धान्त ज्योतिष में नक्षत्र विचार, नक्षत्र क्या है?, भग्रहयुति में नक्षत्र विचार क्यों महत्वपूर्ण है? नक्षत्रों के ध्रुवीय तथा कदम्बीय भोगांश तथा शर त्या हैं? सिद्धान्तग्रन्थों में भग्रहयुति तथा नक्षत्रों के भोगांश कैसे निश्चित किये जाते हैं, जबकि नक्षत्र अनन्त दूरी पर अवस्थित है।

इस के अन्त में नक्षत्रों के भोग, शर, क्रान्ति, पुञ्जगत, तारा संख्या, इनके ध्रुवीय तथा कदम्बीय भोगांश तथा शरांश दिये गये हैं। वस्तुतः भारतीय ज्योतिष नक्षत्र विद्या का प्रथम भाग का उत्तरार्ध नक्षत्रों के सर्वाभिप्रायिक विचार हैं, वहाँ पूर्वार्ध में भारतीय ज्योतिष के वैज्ञानिकत्व को सिद्ध करने हेतु विभिन्न आवश्यक तथ्य प्रस्तुत किये गये हैं।

यह ज्योतिष शास्त्र एवं संस्कृत शिक्षण की ओर फिर से मुड़ने की साधार प्रेरणा देता है। प्रारम्भ कहाँ से तथा कैसे करें तथा पर्यावसान कहाँ हैं, इसका स्पष्ट संकेत रहने पर भी संस्कृत शिक्षण के वैज्ञानिक अन्वेषण को वास्तविक स्वरूप प्रदानार्थ यह प्रारम्भ मात्र है। विशेषज्ञवृन्द यदि इन सन्दर्भों पर ध्यान देंगे, तो सर्वोदय एवं सर्वाङ्गीण विकास के साथ 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का यथार्थ परिप्रेक्ष्य में विकास संभव होगा।कई विषयों के साथ नक्षत्र विज्ञान एवं नक्षत्र सम्बद्ध अन्य महत्वपूर्ण तथ्यों को प्रकाशित किया गया है। प्रथम भाग के निष्कर्ष गोलीय आधार रूप एवं आधेय रूप होने से ध्यातव्य हैं।

* नक्षत्र विचार से अयनांश का विचार, इसके परस्पर सम्बन्ध प्राचीन निष्कर्ष पर आधारित है। निरयणान्तर्भुक्त सायन समन्वित पद्धति एवं खगोलीय ऐतिहासिक पद्धति पर-इसमें विधिवत् विमर्श प्रस्तुत किये गये हैं। समस्त भारतीय पद्धति सूक्ष्म निरयण है। इसमें कालगणना तथा गोलीय गणना में तीन स्थितियाँ क्रान्तिवृत्तीय स्थानाभिप्रायिक ग्रहानयन प्रभावमात्र की दृष्टि से तथा भूपृष्ठीय कैक्षिक सायन या निरयण ग्रहादि साधन ग्रहण उदयास्तादि की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। आज ये तथ्य विधिवत् अन्वेषित होनें पर भी प्राचीनों नें नक्षत्रों को क्यों मुख्य मानकर सौरमण्डलीय आनयन में भी स्थानाभिप्राय से कालान्तरप्राप्य प्रभावों को जोडा,यह अभी भी समग्र विश्व के लिए साध्य है।[21]

*** वैदिक नक्षत्र विज्ञान के दिव्य संकेत-**

इसमें नक्षत्रपुञ्जाभिप्रायिक अयन संपात क्रान्तिपात बसन्त संपात एवं शरत संपात का चक्रात्मक भ्रमण तथा दोलनात्मक प्रतीति के ऊपर विमर्श प्रस्तुत किया गया है। वैदिक ज्योतिष के दिव्यसंकेतों को भी इस प्रक्रम में यथा साध्य संकेतित किये गये हैं। नक्षत्र विचार के कुछ महत्वपूर्ण वैदिक संकेतों को भी इस प्रक्रम में सुलझानें की चेष्टा की गयी हैं। नक्षत्रों के नाम, देवता, लिङ्ग, वचन तथा दिव्याधिपत्य तैत्तिरीय संहिता के आधार पर दिये गये हैं, जो आज भी अन्वेषण की दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण होने के साथ-साथ वैदिक क्रम को काफी प्राचीन सिद्ध करते हैं।वर्त्तमान समस्त ऐतिहासिक अन्वेषण बी.सी.8000लोकमान्य तिलक,बी.सी.25000 अविनाशचन्द्रदाश,बी.सी.300000वर्षोंतक पं. दीनानाथ शास्त्री चुलैट, से प्राचीनसिद्ध नहीं कर पाते वहाँ परम्परागत मत 3800000 बी. सी. से भगवान व्यासकृत बी. सी. 3000तक इसे वर्गीकृत होनें के प्रमाण समीक्षार्थ प्रदान करते हैं।? समस्त परवर्ती भारतीय तथा यूरोपीयन अन्वेषक केवल भाषा-विज्ञान के आधार पर इसे ईशा पूर्व 10000 की सीमा पार नहीं करा पाते, जबकि श्रीमान् चुलैट इसे क्रान्ति की चक्रगति प्रमाण एवं भूगोलीय तथा खगोलीय परिवर्तन के आधार पर खगोलीय ऐतिहासिक पद्धति के अन्तर्गत वैदिक काल की ज्ञात सीमा को 3 लाख ईशा पूर्व तक ले जाने में सफल हुए हैं। वैदिक वाङ्मय भूगर्भीय एवं नीहारिका में नक्षत्रोत्पत्ति तथा द्युलोकीय विकास से इससे भी बहुत अधिक प्राचीनतम है, अतः इस क्षेत्र में सगंठित अन्वेषण अपेक्षित है।[22]

*** खगोलीय ऐतिहासिक पद्धति-**

अगर खगोलीय ऐतिहासिक पद्धति को महायुगीय काल से जोड़कर विमर्श करें तथा कालान्तर जन्य त्रिगोलीय परिवर्तन की कालान्तर गति अन्वेषण की सापेक्षता से ज्ञात हो जाए, तो कल्प प्रमाण, मनुप्रमाण तथा महायुगीय प्रमाण के प्राचीन क्रम फिर से सिद्ध हो सकते हैं।इस दृष्टि से अभी नवीन अन्वेषण 10000 वर्षों के कालान्तर गति को ठीक -2 तथा 25000 वर्षों का अनुमानित कालान्तर गति का निर्धारण कर पाना संभव है। वेदाङ्ग ज्योतिष में नक्षत्रविचार एवं 366 दिवसात्मक सौरवर्ष प्रमाण से वेदाङ्ग काल की पूर्व सीमा ईशा पूर्व 28000 वर्ष से प्रारम्भ कर ईशा पूर्व 1400 तक का काल खण्ड इस काल के उत्तर भाग का संकेत देते हैं। द्वापरान्त के गर्ग से प्रारम्भ कर लगध तक का काल वेदाङ्ग ज्योतिष का काल माना जाना युगीय पद्धति की दृष्टि से आश्चर्य नहीं, फिर भी पुरातात्विक भौतिक साक्ष्य के प्रमाण से एवं खगोलीय ऐतिहासिक पद्धति से एवं संहितोक्त प्रमाण से संघीय अन्वेषण से ठीक -2जान सकते हैं। ये विषय नक्षत्र विज्ञान से साक्षात् सम्बद्ध नहीं है, लेकिन विभिन्न ग्रन्थों में वर्णित भगोलीय पुञ्ज एवं खगोल के बदलते आयाम महाकाशीय साक्ष्य हैं। भू-पृष्ठ के साथ उन्हें जोड़कर समीक्षित करना जरूरी है। सूक्ष्मकाल निर्धारण में महाकाशीय परिवर्त्तन के साथ भूगर्भ तथा भूपृष्ठीय परिवर्तनों की यथार्थ समीक्षा जरूरी है।[23]

*** भौमविद्याएँ-**

पृथ्वी पर होने वाले विभिन्न प्रभाव एवं परिवर्तन कैसे उनसे सम्बद्ध हैं? इसके अन्तर्गत बहुत सारी स्वतंत्र विद्यायें प्रयुक्त होती हैं। दिव्य एवं नभ की सापेक्षता से होने वाले विभिन्न पाञ्चभौतिक एवं रसायनिक परिवर्तन भूगर्भ तथा भूपृष्ठ को किस तरह प्रभावित करते हैं, तथा उनसे भूपृष्ठीय-विभिन्न पदार्थ एवं जीव जगत कैसे प्रभावित होते हैं? उन्हें इस पुस्तक में संकेत मात्र में व्यक्त किये गये हैं। तद् तद् विषयक सम्बद्ध अन्वेषक अपने-अपने विषय को इनसे जोड़कर अन्वेषण की सही गति एवं दिशा दे सकते है। भूगर्भीय एवं भूपृष्ठीय समग्र परिवर्त्तन सहेतुक हैं।

भूकम्प,वृष्टि मौसम,पर्यावरण,कृषि,आदि समस्त आयाम त्रिगोलीय सम्बद्धता से ज्योतिष की वैज्ञानिक शाखाएँ हैं।यदि ऋषियों के अन्वेषण निष्कर्षों को नवीन अन्वेषण से जोडें तो अनेंक शुभ परिणाम मिल सकते हैं।[24]

*** जातक जातकर्म शस्यजातक एवं अहोरात्र प्रभाव-**

मानव की तरह अन्य जातक भी यथा उनके जन्मकाल एवं दिशा तथा देश से बनते हैं। युगीय क्षमता भेद से इनके बदलते स्वरूप वर्त्तमान आधार से गम्य हैं। मानव, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, सरिसृप, अण्डज, पिण्डज, स्थावर, जंगम, वन एवं वनौषधि आदि सभी पर दिग्देशकाल एवं पात्रगत अनुशीलन फिर से संभव है।[25]

* **सस्यजातक-**विभिन्न धान्य, अन्न एवं वनस्पतियों के शुभाशुभ विचार, ह्रास, वृद्धि, आदि विमर्श भी इसके अन्तर्गत आते हैं। अर्थात् कृषिविज्ञान एवं वनस्पति विज्ञान के मानक तत्व इसके अन्तर्गत आते हैं। संहिता के इस भाग का उपयोग इन विज्ञानों के वास्तविक विकास में महत्वपूर्ण है।[26]

* **द्रव्यनिश्चय-** इसके अन्तर्गत विभिन्न राशियों से सम्बन्धित पदार्थ वर्गीकृत किये गये हैं। इनके विस्तृत स्वरूप ज्योतिष संहितोक्त प्रमाण से जानें। दिव्य एवं नाभस तथा भौम प्रभाव की स्वतंत्र एवं योगज निष्पत्ति से विभिन्न द्रव्यों के उत्पत्ति एवं मूल्य की समानता स्थिति, सभाव अभाव, ह्रास-वृद्धि आदि के निर्धारणार्थ इसका प्रयोजन संहितोक्त परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट हैं। इसका प्रयोग सुभिक्ष, दुर्भिक्ष, पदार्थों की सुलभता एवं अभाव निर्धारण में भी होता है। इसे समग्र संहितोक्त प्रभाव की दृष्टि से विमर्शित करने पर आधुनिक वाणिज्य एवं अर्थशास्त्र विभाग को भी सही गति दी जा सकती है। काल सापेक्ष परिवर्तन एवं विक्षेप के नियताङ्क बोध से इनके क्रम को व्यवस्थित किया जा सकता है।[27]

*** उत्पादन एवं व्यवस्थापन-**

अर्घकाण्ड-इसके अन्तर्गत द्रव्यों की एवं विभिन्न पदार्थों की सस्ती, महगी तथा समत्व आदि निर्धारित करने के सूत्र व्यापारियों के लिए काफी महत्वपूर्ण हैं। वस्तु की उत्पत्ति, आवश्यकता, आपूर्ति, संरक्षण, निरुपद्रव, सोपद्रव स्थिति एवं दिग्देशकालाभिप्रायिक सम्बन्ध, सम्बन्धान्तर एवं प्रभाव से हर समूह तथा इकाई को जोड़कर अर्थशास्त्र, वाणिज्य एवं सर्वाभिप्रायिक सुरक्षा की दृष्टि से समुचित नियोजन संभव है। आन्तरिक एवं बाह्य विक्षेप जन्य ज्योतिषीय पूर्वानुमानित तथ्यों के प्रयोग से समग्र व्यवस्था संघीय नियोजन से ठीक किये जा सकते है।[28]

*** भूमि, जलवायु एवं वातावरण-**

वृष्टि विज्ञान से मयूरचित्रक तक के विषय नवीन मौसम एवं वातावरण विज्ञान (Modern Metrology & Environmental Science) से प्रारम्भ कर (Economics & Commerce) अर्थशास्त्र, वाणिज्यशास्त्र, (Agriculture Science) एवं कृषि विज्ञान के लिए काफी महत्वपूर्ण हैं। आश्चर्य है, कि इतने महत्वपूर्ण सूत्र भारतीय संहिताओं में होने पर भी आज तक भी हम क्यों परोन्मुख हैं। स्वरान्त्र भारत में भी उत्तर स्वरूप गणित, गोल, गोलीयान्वेषण एवं प्रभावाकलन की संस्कृतनिष्ठ भारतीय वैदिक एवं निगमागम पद्धति के रहनें पर भी नहीं करनें में संस्कृतज्ञों का गणित एवं प्रयोगनिष्ठकल्प तथा ज्योतिर्विज्ञान रूपी नेत्राभाव का होना मुख्य हेतु है।संस्कृत संस्थानों में 1977 ई के बाद षडंगो वेदो ऽध्येयो ज्ञेयश्च की शैक्षिक परम्परा खण्डित है।1200वीं शताब्दी के बाद जो बाधक काल आया,देश के स्वतन्त्र होनें के बाद इस वैज्ञानिक युग में भी संघीय स्तर पर प्रारम्भ नहीं किया जासका है।

भूपृष्ठीय एवं भूगर्भीय उपलब्धि के मीठे जल क्षेत्रों के नाश होने पर तात्कालिक परिप्रेक्ष्य में पूर्ति होना अभी भी सम्भव नहीं। अतः सभी प्रकार के प्रदूषण से धरती तथा मानव को बचाना सभी का दायित्व है।

वेदाङ्ग ज्योतिष में नक्षत्र विज्ञान का निष्कर्ष ---इसमें नक्षत्रों से सम्बद्ध कई चमत्कारी तथ्य वर्णित हैं। हर व्यक्ति का जन्म नक्षत्र से प्रारम्भ कर ऐश्वर्यप्रद, बाधक एवं विपत्तिप्रद, कल्याणप्रद, शुभ एवं विरोधी, साधक-बाधक एवं साधन, तथा साध्य, वधप्रद तथा अधिमित्रपद 9 (नौ) ताराओं के त्रिधा वर्गीकरण 27 नक्षत्र भेद से तथा चरणभेद एवं वेध से वर्गीकृत होना निःसन्देह पूर्व विशिष्ट वैज्ञानिक प्रयोग निष्कर्ष पर आधारित जान पड़ता है। 11वें नक्षत्र को स्वजन्मनक्षत्र से कर्मसंज्ञा 14वें तथा 18वें को आधान संज्ञा तथा अन्य संज्ञाएँ भी नरपतिजयचर्या तथा पञ्चस्वरा आदि स्वरज्योतिष ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं।निरयण स्थानाभिप्रायिक सूक्ष्मनक्षत्रों के चान्द्रभोग से इन संज्ञाओं के परीक्षण ठीक परिणाम देते हैं। आवश्यकता **नवीन माईक्रो वायोलोजी** तथा **एस्ट्रोवायोलॉजी** से जोड़कर परीक्षण की आवश्यकता है।[29]

*** सूत्र ग्रन्थों की परम्परा एवं धर्मतत्त्व का प्राचीनत्व एवं वैज्ञानिकत्व-**

प्र. 13 सूत्र ग्रन्थों का काल एवं शुल्व एवं श्रौत, गृह्य तथा धर्मसूत्र के रूप में समस्त प्रयोगात्मक विधान युग भेद से सूत्रों में प्राप्त होते हैं। गृह्यसूत्रों में भी नक्षत्रों के विचार मिलते हैं। यास्क 800 ई.पूर्व के प्रमाण से काल गणना में ब्राह्मदिन रूप 1000 महायुगात्मक इनसे पहले से प्रचलित थे। श्रीमद्भगवद्गीता ई. पूर्व 3000 में भी इसका वर्णन तथा अष्टाध्यायी में 7/1/16, 6/3/97, 4/1/26, 5/1/130, 3/1/116, 4/3/23, 1/2/61, 62, 1/2/60, 3/1/143 में नक्षत्रों तथा ग्रहों के वर्णन हैं।

यास्क श.पू. 800 से वराह तक का भारतीय क्रम तथा ई. पूर्व 3000 पूर्ववर्त्ति का महाभारत तथा तदन्तर्गत युद्ध पर्व का श्रीमद्भगवद्गीता एवं प्रथमस्मृति मनुस्मृति से प्रारम्भ कर पराशरस्मृति तक का क्रम भारतीयों के लिए स्पष्ट है। प्रायः 28 स्मृतिकारों के प्रमाण मिलते हैं। परवर्तीकाल में निबन्धकारों के प्रमाण हीं मिलते हैं। स्मृतियों में भी ज्योतिष तत्व के साथ नक्षत्रों के विचार एवं कालगणना की तथा नक्षत्रप्रभाव सम्बद्धता प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से इन विद्याओं से जुड़े है। ये सभी संहितोक्त प्रमाण से ज्ञात होते हैं।[30]

अर्घकाण्ड सस्ती महगी का निर्धारक होने से अर्थशास्त्र आदि के विषय होने पर भी कैसे ज्योतिष से जुड़े हैं, यह दर्शाने के लिए इन विषयों के संकेत मात्र ही इस ग्रन्थ में किये गये हैं। बृहत्संहिता के अ. 43 इन्द्रध्वजसम्पत् एवं नीराजन अ. 44 में मानवीय चेतना का समन्वय एवं यौगिक साधना में भौतिक पदार्थों का परिस्कृत समन्वय एवं वस्तुप्रभाव का समन्वित रूप वैदिकयज्ञ विधान का प्रमाण प्रस्तुत करता है।[31]

टि. 1 : बृहत्संहिता अ. 46 उत्पाताध्याय है। इसमें पाञ्च भौतिक उत्पात

एवं भूपृष्ठीय विभिन्न पदार्थों में विकार तथा उससे उत्पन्न शुभाशुभ प्रभाव निष्कर्षतः प्राप्त होते हैं। इन पर आयुर्विज्ञानियों को भी विशेष ध्यान देने की जरूरत है। जिससे शरीर सम्बद्ध विषयों पर तत्वात्मक वर्गीकरण आज के परिप्रेक्ष्य में हो सके। प्राचीनकाल में भी शान्तिकल्प, में योग, ज्योतिष, तन्त्र, आयुर्वेद, शान्ति अभिषेक, नीराजन आदि के समवेत योगज निवेश से ये प्रभाव जैसे-जैसे काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद मात्सर्य ने विभिन्न रूपक अभाव अक्षमता एवं सक्षमता जन्य कामना अहंकार में प्रकट हुए एतदर्थ सन्निवेश की जरूरत सर्वाभिप्रायिक वर्गीकरणानुरोध से है। ये कभी गम्य थे, वैसे फिर से प्रयोगात्मक (भेदभाव रहित संघीय) निवेश से फिर हो सकते हैं। ये सभी पूर्वान्वेषित तथ्य हैं।[32].

*** सुभिक्ष एवं शान्ति दुर्भिक्ष एवं उत्पात निर्धारणार्थ प्राचीन निष्कर्ष-**

मयूरचित्रक-(मिश्रित योगज प्रभाव) वस्तुतः दिव्य नाभस एवं भौम प्रभाव के स्वतन्त्र, योगज तथा स्वतन्त्र स्वरूप दर्शक वृष्टि एवं कृषि, वातावरण एवं देशप्रभाव, वर्षप्रभाव आदि के निर्धारक के रूप में समन्वित रूप दर्शक-यह संहितोक्त सन्दर्भ महत्वपूर्ण है।वराह से विद्यावाचस्पति मधुसूदन ओझा एवं डा. घूनिरामत्रिपाठी तक के अन्वेषण से यह विज्ञान प्रयोज्य है। नवीन विश्व इन क्षेत्रों में निवेश कर सद्यः लाभ पा सकता है।[33]

त्रिगोलीय प्रभाव चन्द्रादि संचार की सापेक्षता से एवं भूपृष्ठीय भेद से कैसे वृष्टि, सुभिक्ष, दुर्भिक्ष, शान्ति विश्वशान्ति आदि को प्रभावित करते हैं? इसका यह अध्याय समवेत संक्षिप्त परीक्षित दस्तावेज है।[34]

*** मानव तथा पदार्थ सम्बन्ध-** मानवीय व्यवहारोपयोगी राजोपकरण तथा अंगविद्या का निवेश साक्षात् नक्षत्रप्रधान नहीं होने पर भी ये तथ्य बृहत्संहिता अ. 48 से 51 तक महत्वपूर्ण हैं। कभी के ये उत्कृष्ट सिद्धान्त आज भी प्राप्त होते हैं। मनुस्मृति आदि में कालगणना तथा नक्षत्रविचार ज्योतिष का साक्षात् ग्रन्थ नहीं होने पर भी व्यवहारिक प्रसंगानुरूप प्राप्त होते हैं। विभिन्न मात्रा में विभिन्न तत्त्वों के योग स्वतन्त्र तथा योगज निष्पत्ति से विभिन्नरूपक प्रभाव उत्पन्न करते हैं। लक्षणात्मक एवं सत्त्वात्मक निष्कर्षों को भूत एवं गुण की निष्पत्ति से सगणित प्रयोगात्मक सत्यापन से पुनः व्यवस्थापन अपेक्षित है। नवीन विज्ञानी इनके भौतिक तथा रसायनिक वर्गीकरण से क्रान्तिकारी शुरुआत कर करा सकते हैं।[35]

*** पुराणों का वैज्ञानिकत्व**

सृष्ट्यादि परम्परा निरूपण के साथ पुराणों को सर्वशास्त्रात्मक कहा जाता है। इसके पाँच लक्षण कहे गये हैं। सर्ग, प्रतिसर्ग, मनु, मन्वन्तर एवं वंशचरित क्रम से सर्ग प्रतिसर्गादि, मनु, मन्वन्तरादि तथा वंशचरित में भी ज्योतिषतत्व वैज्ञानिक आख्यान के रुप में भरे पड़े हैं। यह अच्छा संयोग है, कि नवीन विश्व में भी कुछ अन्वेषक इसे केवल कल्पना नहीं मानकर महाकाशीय अन्वेषण में इन संकल्पनाओं को अपने अन्वेषण पथ में सहायक एवं साधक के रूप में ग्रहण कर गतिशील है। पौराणिक प्रतीकों,प्राचीनभाषा तथा शैली को एवं विभिन्न विद्याओं का प्रारम्भिकरुप जानें विना पुराणों को भी आज ठीक **-2 नहीं समझा जा सकता। 18 महापुराण तथा 20 उपपुराणों में ब्रह्माण्ड, नारद, विष्णुधर्मोत्तर, श्रीमद्भागवत् आदि पुराणों में ज्योतिष के विस्तृत वर्णन मिलते है।पौराणिक आख्यानों के अर्थ का अनर्थ कर धरती पर अनेंक पशु विध्वंसक सभ्यता नें कितनें अनर्थ किये ,उन्हें विना परिगणित किये इतिहासपुराणभ्यां वेदमुपबृंहित को सिद्ध करना हम सब का दायित्व है।**

*** महाभारत** में नक्षत्र विचार वेदाङ्गज्योतिष सदृश है। इसमें नक्षत्रों की निजीगति का वर्णन निःसन्देह इसके महत्व को बढ़ा देता है। इसमें निरयणान्तर्भुक्त सायन का प्रयोग निःसन्देह चमत्कारी है। ये अन्वेषण वराहादि जयसिंहान्त प्रयोग में नहीं थे। द्र0महाभारत ,वनपर्व-अ0220।

नक्षत्रपुञ्जविचार एवं सिद्धान्त काल के ऊपर भी विमर्श प्रस्तुत किया गया है। नक्षत्रपुञ्ज, सौरमण्डल का परस्पर सम्बन्ध तथा इससे अयनांश विचार भी किया गया है। वस्तुतः नक्षत्रपुञ्ज निरयण है, जिसके दो प्रकार के भोग मूलचक्रान्तर्गत कदम्बीयभोग निरयण तथा अयनांश चलन के कारण ध्रुवीयभोग सायन बनते हैं। वस्तुतः नक्षत्रपुञ्ज सापेक्ष सौरमण्डलीय परिवर्तन क्षेत्रांशाभिप्रायिक है,जो भूगति, चन्द्रगति एवं सौराकर्षण के कारण उत्पन्न होते हैं। नक्षत्रों के परस्पर पुञ्जान्तर एवं परस्पर सम्बन्ध में अयनगति के कारण कोई परिवर्तन नहीं होता।[36]

कोई प्रभाव या परिवर्त्तन अकारण नहीं होता। सौरमण्डल के नक्षत्रपुञ्ज सापेक्ष विलोम चलन से अयनान्तर के कारण नक्षत्रपुञ्ज का भूगोलाभिप्रायिक नैसर्गिक प्रथमत्व बदलता रहता है। पुनर्वसु से उल्टा चलते हुये अभी संपात उत्तरभाद्रपुञ्ज में आ गया है, अतः निकट भविष्य में पूर्वभाद्र प्रथम सम्पातिक नक्षत्र हो जायेगा। अयन संस्कार द्वारा इसी क्रम को प्राचीनों ने व्यवस्थापन किया तथा करने का मार्ग बताया। क्रान्तिपात के विलोम भ्रमण से सभी नक्षत्र चल भोग की दृष्टि से कालान्तर में प्रथम होते जाते हैं। इन्हीं कारणों से विभिन्न नक्षत्रपुञ्ज के प्रथमत्व की चर्चा तथा मास प्रथमत्व की चर्चा वैदिक वाङ्मय में स्पष्टतः मिलती हैं।[37]

*** वास्तु-स्थापत्य एवं भूपृष्ठीयभेद-**

विविध प्रभाव के योगज एवं स्वतन्त्र भूगोलाभिप्रायिक निर्धारण के बाद वास्तु विद्या को संहितोक्त क्रम में 52वें अध्याय में 52वें वास्तु विद्या के रूप में रखा गया है। आज केवल फलित ज्योतिष के नाम पर भी सारी विद्याएँ एक व्यक्ति के लिए साध्य कैसे हो सकती है? यह तथ्य विमर्शणीय है। निःसन्देह यास्क के पूर्व के समस्त निष्कर्ष, निगमागम सम्मत अन्वेषण निष्कर्ष पर आधारित तथ्य हैं, जिन्हें, पौरुषग्रन्थकारों ने अपने-अपने सामयिक अन्वेषण से अपने-अपने ढंग से प्रकट करने की चेष्टा की।

हम पृथ्वी पर रहते हैं। वास्तुनगर एवं ग्राम चयन से लेकर इष्ट भूखण्ड चयन, भूमि परीक्षा, शोधन, कर्त्ता, ग्राम, ग्रामान्तर्दिशा चयित भूखण्ड एवं गृह पिण्ड, एवं पिण्ड के विविध आयाम पर विभिन्न ग्रह दशादि एवं आयादि के निर्धारण, गृहमण्डल, आंगन, गृहद्वार, औच्च निर्धारण शिलान्यास, वास्तुपूजन से पूर्व गृहमानचित्र निर्माण (Mapping & Modeling), एवं विभिन्न गृहावयव, प्रकोष्ठों के विनिवेश, 64,81 वास्तुपदों के महत्व, एवं वास्तु की त्रिगोलीय सापेक्षता, दिव्यसम्बन्ध निःसन्देह निगमागम सम्मत अन्वेषण निष्कर्ष पर आधारित तथ्य है। वास्तुजन्य स्थापत्य वास्तुशिल्प के विभिन्न आयाम प्रकट करते हैं।[38]

*** टिप्पणी-** अंगस्पर्श, अंग स्फूरण, फोड़ा, फून्सी आदि भी सप्रमाण तथा सहेतुक हैं, इन तथ्यों को भी संहिता स्कन्ध दर्शाता है। निर्जीव पदार्थ

भी प्रभावकारी होते हैं, यह तथ्य भी संहितोक्त संकेत से हमें प्राप्त होता है। नवीन भौतिक तथा रसायनादि उन्हीं तथ्यों में से कुछ के नवीन साक्ष्य हैं।[39].

*** नक्षत्र पुञ्ज से सौरमण्डल तथा भूमण्डल का सम्बन्ध-**

नक्षत्र योग तारा कौन है? इसके अन्तर्गत नक्षत्रपुञ्ज के दीप्त उत्तरस्थ तारा को योगतारा संज्ञा दी गई है। योग तारा की स्थिति से नक्षत्र का आदि तथा नक्षत्रान्त, चक्रादि तथा चक्रान्त का निर्धारण कर अयनांश लाने की व्यवस्था भारतीय ग्रन्थों में मिलती है। विभिन्न वेधकर्ताओं ने पुञ्ज के अलग-अलग योगतारा से अयनांश में एक वाक्यता के लिए जो प्रयास किये उससे कहीं उत्तम भारतीय मार्ग का अनुसरण ही श्रेष्ठ है। नक्षत्रों के निजी गति से पुञ्जान्तर एवं पुञ्जस्वरूप युगान्तर में बदलते हैं, अयनगति से नहीं। अतः नक्षत्रपुञ्जाकृति परिवर्तन से इसका सम्बन्ध नहीं है। अतः'सूक्ष्म नक्षत्रवर्ष तथा सूक्ष्मायनगति जो परिवर्तन शील हैं', के आधार पर निरयणान्तर्भुक्त सूक्ष्म सायन तथा सूक्ष्ममन्दकेन्द्रिकवर्ष के समन्वय से शास्त्र शुद्ध चक्रभोग हीं समन्वय का एकमात्र आधार है। 360^0 का शुद्ध चक्रभोग जो दोनों के समन्वय एवं नक्षत्रसापेक्ष सौरमण्डलीय प्रभाव एवं परिवर्तन को समन्वित करता है, वहाँ क्रान्तिपात की गति से उत्पन्न अयनांश विकार तथा मन्दोच्च से उत्पन्न उच्चविकार को भी समन्वित करता है। इन्हें समन्वित नहीं किया जाए तो काल के दोनों गतिशील अवयव नक्षत्रसापेक्ष अव्यवस्थित हो जायेंगे[40]

तारास्थिति पत्रक के विश्लेषण से अनेक तथ्य सामने आते हैं। सूर्यसिद्धान्त के भग्रहयुत्यधिकार में नक्षत्रों के कदम्बप्रोतीय अचल भोग, ध्रुवक, शर तथा क्रान्ति साधक सूत्र प्राप्त होते हैं। स्पष्टदृक्कर्म से इनके तात्कालिक भोग शरादि अपने-अपने समय में लाकर ग्रह एवं नक्षत्रों के उदयास्त विधान सम्पादित करने के विधान वेधवलय की दृष्टि से सूक्ष्म हैं। कालान्तर समागत अन्तर वेध से कारण जानकर समस्त भारतीय नक्षत्रपद्धति की वैज्ञानिकता सकारण अक्षुण्ण रखी जा सकती है।[41].

*** सदोदित नक्षत्र-**

ध्रुवासन्न नक्षत्र सदोदित्त होते हैं। ध्रुव से 24^0 के त्रिज्या से बनें वृत्त में दोनों ध्रुव प्रदेश में सदोदित्त नक्षत्र दृश्य होते हैं। सूर्यसिद्धान्त में इसका विस्तृत विचार मिलता है।[42]

*** नक्षत्रपद्धति का मूल-**

नक्षत्रपद्धति का प्रथम मूल ऋग्वेद में प्राप्त होता है। परवर्ती सभी वेद एवं ब्राह्मणादि में इसके विस्तृत विज्ञान प्राप्त है। नक्षत्रों के अचल एवं चलभोग के अन्तर से अयनांश ज्ञान तथा दैवज्ञकामधेनु, पञ्चसिद्धान्तिका, बृहत्संहिता आदि में नक्षत्र-विचार सप्रभाव काफी महत्वपूर्ण हैं। गणना, वेध, बिम्बीय-संरचना एवं सौरमण्डलीय गत्यन्तर एवं अयनान्तर से प्रभावान्तर के प्राचीन सूत्रों का नवीन भौतिकविज्ञान भी परित्याग नहीं करता। निरयणान्तर्भुक्त सायन एवं नक्षत्र प्रथमत्व तथा मासप्रथमत्व परिवर्तन का वैदिकसिद्धान्त नव्यसायन वादियों के लिए आज भी ध्येय है।[43]

सायन, निरयण विचार, दोनों का समन्वित रूप, ध्रुवीय भोग शर-एवं क्रान्ति में अयन गति जन्य परिवर्तन तथा कदम्बीय भोग का अचलत्व, भारतीय प्राचीन सिद्धान्तों में ग्रहर्क्षयुति का कदम्बीय भोग से समागम आदि तथ्य निःसंदेह प्राचीन अन्वेषण के निष्कर्ष पर आधारित हैं। इनके विभिन्न ग्रन्थोक्त भोगांश शरांश कदम्बसूत्रगत भोग, झीटापक्ष से अन्तर आदि अनेक तथ्य भी निरूपित किये गये है। चक्र 9 से चक्र 16 तक विभिन्न अन्वेषकों के वेध के आधार पर सायन निरयण भोग शरादि तथा उनके योगताराओं के विवरण दिये गये हैं। प्राचीनों के भोग एवं शरों की आधुनिक मानों से भी तुलना की गयी है। कदम्बसूत्रीय प्राचीनभोगों की भी तुलना की गयी है। मूलाधार सौरपक्ष को बनाया गया है। श्री चुलैट के अनुसार 2 लाख 20 हजार सात सौ वर्ष पूर्व 52'-50' क्रान्ति द्वारा तारकपुञ्जों के सायन भोग से तुलना की गयी है, तथा अनेक वैदिक रहस्य भी चुलैट की सापेक्षता से प्रकट किये गये हैं। यद्यपि इनके ऊपर भी अभी काफी कुछ अन्वेषण करने की जरूरत है।[44]

*** श्रीमान चुलैट के अन्वेषण-**

इन्होंने अयन निष्कर्ष अयनगति का बढ़ना, सौरवर्षमान का घटना, पृथ्वी के कक्षा का संकुचित होना, चन्द्रकक्षा का फैलना, अयन एवं क्रान्ति की चक्रगति के आधार पर शकाब्द 1800 में अयनांश 22-8'-33' अयनगति 50.2'' शून्यायनांश वर्ष-212 शकाब्द मानकर आगे समस्त गणित को पञ्चाङ्ग कमेटी की रिर्पोट में दर्शाया है। अयनगति में लाहिरी महाशय ने शून्यायनांश वर्ष 207, केतकर महोदय में 209 शकाब्द दर्शाया है। योगतारा भेद, आरम्भस्थान भेद से वर्षमान भेद तथा अयनगति भेद से प्राप्त अन्तर में सूक्ष्ममान प्रमाण ग्रहण कर समन्वय का जो मार्ग-श्री केतकर एवं चुलैट जी ने दर्शाया है, उस पर व्यापक खगोलीय अन्वेषण की आवश्यकता तथा कालान्तर जन्य परिवर्तन की सीमा के साथ न्यूनतम एवं अधिकतम ह्रासवृद्धि के निर्धारण की जरूरत है। यदि इस प्रकार का निर्धारण हो जाये तो सारी समस्याओं का समाधान संभव है। दीर्घकालीन बीज निर्धारण तभी संभव है। नक्षत्रों के पुञ्जों में स्वगति के कारण कितना परिवर्तन कहाँ-कहाँ हुए, इसे जानने में प्राचीन पठिताङ्ग आधार है, लेकिन अनेक तथ्य आज भी फिर भी अगम्य होने से परीक्षणीय हैं।[45]..

*** अयनांश साधन में 12 बिन्दु विचारणीय हैं-**

1. राशिचक्र का आरम्भ स्थान दर्शक नक्षत्र योगतारा का निःसन्देहत्व
2. चाक्षुष दृश्य देदीप्यमान योगतारा को ही ग्रहण करना
3. अयनगति से समागत ध्रुवीय भोग एवं ध्रुवीय शर का बदलता स्वरूप की सतत परीक्षा
4. नक्षत्रों की निजीगति से समागत कदम्बीय भोग में अन्तर तथा अयनगति से उसकी भिन्नता-निजीगति तथा अयनगति की निष्पत्ति से परिवर्तन का द्विविध सत्यायन (गणितीय तथा वेधगोलीय) अपेक्षित है।
5. योगतारा का अत्यल्प शर तथा सर्वाधिक दीप्ति के आधार पर ग्रहण करना
6. पूर्णराशि रूप, आकृत्यात्मक विभागान्तर्गत-विभाग दर्शक, योगतारा की सापेक्षता
7. क्रान्तिवृत्तस्थ, नक्षत्रपुञ्जमध्यस्थ, पादस्थ, दीप्तयोगतारा का ग्रहण
8. विशेष लक्षण एवं पहचान से युक्त योगतारा
9. संहितोक्त एवं जातकोक्त नक्षत्र एवं राशि विभाग से पूर्णतः सम्बन्धित

10. वैदिक नक्षत्रगणना से समत्व दर्शक

11. सिद्धान्त ग्रन्थ सम्मत

12. परम्परागत प्रमाणदर्शक

पञ्चाङ्ग कमेटी की रिपोर्ट तथा अयनांश विमर्श में इन तथ्यों पर यथा साध्य साङ्गोपाङ्ग विश्लेषण किया गया है। एक योग तारात्मक तीन नक्षत्रों में आर्द्रा तथा स्वाती के शर तथा स्वगति अधिक है, वहाँ चित्रा की सबसे कम गति 1.15 विकला होने से नक्षत्र वेधोपयोगी माने जाते हैं। उनमें भी चार निःशर योग तारों में पुष्य, मघा, शतभिषा, तथा रेवती भी-अभी अत्यल्प सशर तथा रेवती को छोड़ अन्य सदीप्ततारक उपलब्ध होते हैं। इस प्रक्रम में सप्तर्षिपुञ्ज का विचार, चित्रा नक्षत्र की गति, मध्यकालीन ग्रन्थोक्त केन्द्रीय अयनांश, एवं चित्रापक्षीय अयनांश, बीज संस्कृत-उच्च तथा चित्रापक्षीय नक्षत्रीय उच्च में सम्बन्ध दिखाते हुए इसके समस्त तथ्य निरुपित किये गये हैं, जिससे निरयणान्तर्भुक्त कर सायन तथा केन्द्रीयमानों को समझ कर विकृत सायन से भारतीय पञ्चाङ्ग परम्परा की रक्षा हो सके। दृश्य बिम्ब तथा उनके अदृष्टप्रभाव का समन्वय वैदिक ज्योतिष मात्र में प्राप्त है, जिन्हें संघीय अन्वेषण से व्यवस्थित करना संभव है।[46]

* नक्षत्रों के अस्तोदय विधान तथा कालांश के ऊपर भी यथा साधन समीक्षा की गयी है। इसमें कालांश प्रमाण तथा नवीन दीप्तांश शैली में-समन्वय स्थापित किया गया है। सदोदित नक्षत्र एवं इनके ज्ञापक सूत्रों की समीक्षा भी की गयी है। कुछ निष्कर्ष भी इस प्रक्रम में दिये गये हैं। तारों की निजीगति, अयनचलन, मन्दोच्च गति पातगति, क्रान्ति, शर, स्पष्टक्रान्ति, तथा समस्त गोलीय अयन गतिशील एवं प्रतिक्षण परिवर्तनशील हैं। कालान्तर जन्य फलान्तर एवं कक्षा ह्रास एवं वृद्धि से दूरी एवं लम्बत्व तीर्यकत्व एवं विभिन्न मानों के घटने बढ़ने से उत्पन्न गोलीय पिण्डों का अवस्थाभेद तथा बिम्बीय संरचना में स्वल्प परिवर्तन जन्य भेद से तथा नक्षत्रों की स्वगति भेद से भी उनके स्थान युगान्तर में बदलते जाने से युगभेद, युगीय प्रभावभेद एवं भूपृष्ठीय क्षमता भेद आदि सम्बद्ध हैं।

एक काल में भी नक्षत्र विशेष का दीप्तांश, अक्षांश देशान्तरांश सूर्य सान्निध्य एवं दूरत्व से अलग-अलग आते हैं। दीक्षितादि कृत झीटापक्ष के खण्डन से जहाँ भारतीय परम्परा की रक्षा हुई है, वही निरयणान्तर्भुक्त समन्वित पक्ष एवं नक्षत्रसापेक्षिक गणना निरयण तथा सूर्यसापेक्ष या चलक्रान्तिपात-सापेक्ष गणना सायन का अन्तर अयनांश मध्यम वर्षमान से लाने का निर्देश ही प्राचीनशास्त्र करता है। इन दोनों का समन्वित रूप आज भी भारतीय पञ्चाङ्ग प्रस्तुत करता है।केतकरादि सूक्ष्मनिरयण समर्थक भी अन्यदृष्टि से सूक्ष्मगणना करपानें पर भी क्रान्तिवृत्तीय स्थानाभिप्रायिक आनयन नहीं कर पाते।[47].

*** वैदिक विज्ञानवाद का नवीन प्रवर्त्तन-**

* तारकयुग्म-सम्बद्ध तथा असम्बद्ध युग्म की चर्चा प्राचीन ग्रन्थों में भी मिलती हैं। नवीन-कालखण्ड में सूक्ष्म दूरदर्शक के आ जाने से इस प्रकार के नक्षत्र युग्म पर काफी कुछ खोजा गया है, तथा खोजा जा रहा है। वसिष्ठ तथा अरून्धती का युग्म असम्बद्ध-होने से दोनों पति-पत्नी के रूप में पौराणिक ग्रन्थों में कहे गये हैं। दोनों के मूल उद्गम अलग-अलग थे। परस्पर आकर्षण से आबद्ध हो अरून्धती वसिष्ठ के चारों ओर घूमने लगी। भारतीय मत में ये आदर्श जोड़ी पति-पत्नी के रूप में माने जाते हैं। सम्बद्ध युग्मों में देवयानी, पुनर्वसु एवं ज्येष्ठा प्रभृति हैं। प्राचीन ग्रन्थों में भी इस तरह के अनेक वर्णन हैं।[48]

* इस प्रक्रम के चक्र 20 में नक्षत्रों के संस्कृत नाम के साथ ग्रीकनाम, दीप्तांश कोटि प्रति, तारासंख्या, तथा-विकलात्मक वर्ष गति दी गयी है। आर्द्रा को रूपविकारी तथा दीप्तांश घटने-बढ़ने का प्रमाण आज नवीन खगोल शास्त्र से भी सिद्ध हो गया है। चक्र 21 में शतभिषक, रेवती, तथा रैवत झीटा आदि की परस्पर तुलना की गयी है।[49]

वैदिक नक्षत्र विज्ञान, नक्षत्रपद्धति तथा अन्य प्राचीन साहित्य में नक्षत्रपद्धति, का विमर्श नक्षत्रविज्ञान का प्रमुखत्व दिव्यत्व एवं प्राचीनत्व को सिद्ध करने हेतु संक्षिप्त रूप में दर्शाया गया है। इस में अन्वेषण की अनन्त संभावनाएँ आज भी सम्बद्ध हैं।[50]

*** नक्षत्रों के अचलत्व से नाक्षत्रपद्धति का अचलत्व तथा कालनिर्धारण-**

नक्षत्रों से काल निर्धारण के प्राचीन आख्यानात्मक संकेतो पर भी समीक्षा की गयी है। भारतीय ऐतिहासिक मत के प्राचीन प्रवर्त्तक प्राचीन दिव्यत्व के उद्घोषक श्रीमान् दीक्षित भी वैदिक मन्त्रों के ठीक-ठीक अर्थ नहीं लगने तथा पाश्चात्य इतिहासकारों के भ्रामक प्रसार प्रचार में वैदिक शतपथ ब्राह्मण काल को ईशा पूर्व 3144 ठहरा कर यद्यपि पाश्चात्य-समालोचकों का मुँह भले बन्द कर दिये हों, लेकिन उसी मन्त्र को प्रमाण मानकर कृत्तिका का अच्युतत्व काल को 1.5 लाख पूर्व ले जानें में श्री चुलैट जी सफल रहे। यह अलग तथ्य है कि याज्ञवल्क्य का वास्तविक काल महायुगीय गणना से त्रेता युग के द्वितीय से तृतीय चरण तक एवं याज्ञवल्क्य शिष्य भारद्वाज त्रेतान्त के चतुर्थचरण तक के होने से यह काल खण्ड 9 लाख सौरवर्ष पूर्व का संकेत देता है। शतभिषक् पुञ्ज में जब संपात था-तब शतपथ ब्राह्मण बना। ईशा पूर्व 3000 बी.सी. 28वें व्यास द्वारा वेदों का वर्गीकरण-होना भारतीय वाङ्मय में स्वीकृत हैं। वहाँ से शकपूर्व पूर्व 800 तक के विवरण यास्क से वाराह तक के उदाहरणों से ज्ञात होते हैं।[51]

* अतः नक्षत्रपद्धति, युगीय पद्धति, तथा खगोलीय-ऐतिहासिक पद्धति के समन्वय से सूक्ष्मकाल निर्धारण के लिए अभी काफी कुछ किया जाना शेष है। शतपथ निर्माण काल यदि युगीय पद्धति एवं कृतिका के अच्युतत्व के प्रमाण विमर्श के कालान्तरच्युति-संस्कार को जान ले तो सभी काल खण्ड निर्धारित हो सकते हैं। भूपृष्ठीय मीठे जल के श्रोत में पुरातात्विक भूपृष्ठीय अवशेष नष्ट हो जाते हैं, वहाँ भगोलीय एवं खगोलीय पिण्ड जन्य साक्ष्य कभी नष्ट नहीं होते। उनके बदलने में लाखों वर्ष समय लगते हैं। समुद्री साक्ष्य भी जल्दी नहीं नष्ट होते, अपितु लाखों वर्ष तक नहीं बदलते। अतः इतिहास की समीक्षा में केवल भाषावैज्ञानिक प्रमाण ही पर्याप्त नहीं है। इस प्रक्रम में काल निर्धारणार्थ खगोलीय-ऐतिहासिक पद्धति के अनेक विषय आये हैं, इन पर आगे भी समन्वित अन्वेषण की जरूरत है।

*** ऐतिहासिक प्रमाण-**

* महाभारतीय अन्य प्रमाण-इसके अन्तर्गत महाभारतीय अनेकों प्रमाणों तथा खगोलीय दृश्य सम्बद्धों की समीक्षा की गयी है। क्रान्ति का बढ़ना, घटना, स्कन्द एवं यायाति का आख्यान, प्रो. हानसेन की क्रान्ति की चक्रीय वर्ष गति-0.476 विकला, तथा प्रो. लीह्वेरीय की सारिणी में 53153 वर्ष पूर्व रविक्रान्ति प्रमाण 29^0-19' म.म. सुधाकर द्विवेदी के दिगमीमांसा में श्रवण का कदम्ब प्रोतीय शर +29^0-19' आदि के प्रमाण से अनेक गोलीय तथ्यों की समीक्षा की गयी है। श्री चुलैट के खगोलय ऐतिहासिक पद्धति के प्रयोगों के कुछ प्रमाण-इसके अन्तर्गत दिये गये हैं।

* भारतीय आर्य तथा उत्तर ध्रुवीय निवास स्थान के सिद्धान्त पर चलने वाले इतिहासकारों के भ्रम की समीक्षा भी इस में की गयी है। वस्तुतः कभी सम्पूर्ण जम्बुद्वीप ही आर्यों (सज्जनों) का निकेतन था, यह वैदिक तथा पौराणिक अनेक प्रमाणों से स्पष्ट है। अनेक प्राचीन आख्यानों की इसमें समीक्षा की गयी है, उन्हें विज्ञ पाठक बन्धु देंखे।

कालनिर्णय के मानक तत्व पर विमर्श प्रस्तुत करने की चेष्टा की गयी है। अरबों वर्ष पूर्व का हमारा ब्रह्माण्ड तथा दो अरब वर्ष की हमारी पृथ्वी पर वर्तमान मानवीय सभ्यता का निकटस्थ मूल 38 लाख वर्ष पूर्व प्राचीन प्रमाणों से सिद्ध होता है। यद्यपि इससे पूर्व स्थिति के वर्णन भी प्राचीन-वैदिक प्रमाणों में उपलब्ध होते हैं। उस स्थिति का वर्णन भी है, जब 2.5 करोड़ वर्ष पूर्व हिमालय समुद्र के गर्म से उदित हो रहा था, तथा उस स्थिति को भी भारतीय पौराणिक वाङ्मय-प्रकट करता है, तब पृथ्वी पर केवल 4 समुद्र थे, तथा महादेशीय भूखण्ड 165 करोड़ वर्ष पूर्व तक अलग-अलग नहीं थे। शब्द, प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाणों के साथ इतिहास एवं स्मृति, आदि प्रमाणों को जोड़े बिना एवं सत्समीक्षा की पद्धति का विधिवत् प्रयोग के बिना यथार्थ तक पहुँचना सदा से कठिन है। इस प्रक्रम में कालनिर्णय के मानक तथ्य के साथ मानवीय प्रज्ञा एवं क्षमता के दुरुप्रयोग से बार-बार उत्पन्न भूपृष्ठीय दुःस्थिति की चर्चा भी की गयी है।

* नक्षत्रचक्र का भूगोलाभिप्रायिक अचलत्व, नक्षत्रगणना का निरयणत्व एवं सौरमण्डल का सायनत्व तथा दोनों के समन्वय से निरयणान्तर्भुक्त सायन तथा अयन एवं अयनांश तत्व की समीक्षा भी इस में की गयी हैं। शुद्ध निरयणपक्ष एवं मानों को उड़ाने के पक्षधरों के भ्रमों को प्रभावशास्त्र सम्बद्ध समस्याओं के आलोक में भी उनके भ्रम को दर्शाया गया है। सायन वर्ष मानने से भी केवल ऋतुजन्य स्थिरता में समागत विकृति की भी परिचर्चा की गयी है। क्योंकि सायनवर्ष चलायमान है। तीन प्रकार का सौर कालमान भेद से या अनेक वर्षादि प्रमाणों को शुद्ध चक्रभोग में समन्वित करने की वैदिक-श्रेष्ठता एवं सार्वकालिकत्व को दर्शाते हुए-अशुद्धि के कारणों को भी श्री चुलैट के प्रमाण से समन्वित कर प्रदर्शित किया गया है। पञ्चाङ्गों को ठीक करने हेतु यद्यपि इन्दौर पञ्चाङ्ग कमेटी की रिपोर्ट सूक्ष्मतत्व का समीक्षक है, फिर भी अनेक तथ्य अभी भी अन्वेषणीय है।

* भारतीय नक्षत्र पद्धति में निरयण गणना इस विषय पर भी शुद्ध नक्षत्रमान तथा सायन एवं मन्दकेन्द्रिक नक्षत्रमान के ऊपर विचार विमर्श एवं सर्वबोध गम्य चक्र दिये गये हैं।[52]

निरयणान्तर्भुक्त सायनादि का समन्वय-

प्राचीन दृक्प्रत्यय विधान के अन्तर्गत दृश्यवेध की लम्बी परम्परा की समीक्षा की गयी है। वैदिककाल से आज तक विभिन्न विषयों पर यथोपलब्ध-संक्षिप्त विमर्श प्रस्तुत किया गया है। मन्दोच्च भेद से सौरवर्षमानभेद होना भी सिद्ध है। सूर्यसिद्धान्त के मान युगाभिप्रायिक मध्यमानक पर आधारित होने से परवर्ती कालखण्डों में तात्कालिक मध्य का न्यूनाधिक होना आवश्यं भावी है। इतना होने पर भी सूर्यसिद्धान्त के मान शुद्ध वास्तविक मान के आसन्न में उपलब्ध होते हैं। अतः इस पर संघीय अन्वेषण अपेक्षित है।[53].

ग्रहभगणों में वर्तमान सूक्ष्म नक्षत्रमानों से अन्तर करनें पर प्रतिभाग अन्तर-

* सूर्य में -0.00238 मंगल -0.0 गुरु +0.2 शनि +0.846 चन्द्र +0.000119 चन्द्रोच्च +00.588 चन्द्रपात (राहु) -1.13 अन्तर प्रतिचक्र में आ रहा। अतः किसी भी काल में पठित भगण-भोग एवं गति तथा वेधोपलब्ध मानको को अपलापित करने पर कालान्तर बीज का सकारणत्व नष्ट होता है। युगाभिप्रायिक मध्य से तात्कालिक मध्य सदा बदलते रहते हैं। इनके ऋण या धन गति और मूल सुरक्षित रखने से ठीक-ठीक बीज ज्ञात हो सकते हैं।

* मध्यकालीन सिद्धान्त ग्रन्थों के भगण पूर्तिकाल में मन्दोच्च गति का कुछ भाग मिश्रित होकर पठित होने से मध्यकालीन मन्दोच्च गति वास्तविक मान से कम हैं। भास्कर ने मन्दोच्चोपपत्ति में कहा भी है, कि इनकी गति चाक्षुषवेध से 100 वर्षों में भी उपलब्ध नहीं होती, अतः जब जितना मन्दोच्चांश उपलब्ध हो, तब उसे ग्रहण करें। अयन गति एवं अयनांश के बारे में भी उनका यही कथन है। इससे जब जितना गति तथा मन्दोच्चांशादि समय भेद से उपलब्ध हो, उस समय तात्कालिक मान प्रमाण से गणित करने पर दृग्गणितैक्य होगा।

मन्दोच्चांश एवं मन्दोच्चगति- चक्र सं.-2

मन्दोच्च राश्यादि-	अंश-	वर्षगति
सू. 2/180.653	780.853	+11''.812''-अनुलोमगति
मं. 4/110.924	1310.924	+16''.900-अनुलोमगति
बु. 7/230.521	2330.521	+6''.151-अनुलोमगति
गु. 5/200.316	1700.316	+6''.631-अनुलोमगति
शु. 9/170.644	2870.644	-1''.419 विलोमगति-
श. 8/80.681	2480.681	+15''.970-अनुलोमगति
चन्द्रोच्चवर्षगति		+40^0 - अनुलोमगति

* चन्द्रोच्च भगण पूर्तिकाल केवल 9 वर्ष है। ये गति सदा एक रूपक नहीं रहते। ये भी घटते-बढ़ते रहते हैं।

* ग्रहों के पातांश एवं पातगति-चक्र सं.-3

ठाह	पातांश	पातगति
मंगल	260.101	22''.777.0

बुध	240.652	6'' .799
गुरु	760.862	14'' .000
शुक्र	530.154	19'' .099
शनि	900.212	18''.550
चन्द्र		3.02''

सूक्ष्ममान प्रमाण के बिना एवं इनके समय भेद से गति परिवर्तन एवं पूर्व सापेक्ष तात्कालिक गति के ज्ञान तथा न्यूनतम एवं अधिकतम मान के ज्ञान के बिना दीर्घकालीन सूक्ष्मानयन संभव नहीं है। वस्तुतः सायन एवं मन्दकेन्द्रिक को सूक्ष्मनाक्षत्र सौर में समन्वित कर दीर्घकालीन गणना की भारतीय पद्धति में समन्वित सभी पक्ष निरन्तर वेध एवं पठिताङ्क रक्षण से सूक्ष्म एवं शुद्ध परिणाम दर्शक हैं।

*** नवीन महाकाश विज्ञान के बढ़ते कदम-**

नवीन खगोल शास्त्र में नक्षत्र विचार तथा महाकाशीय अन्वेषण में नवीन मानव के बढ़ते कदम की परिचर्चा के अन्तर्गत-खगोलीय नवीन नियामक, सदोदित नक्षत्र, खगोलीय काल-मापन, नक्षत्रकालानयन, नाक्षत्रदिन, ग्रहों तथा नक्षत्रों में अन्तर, आधुनिक नक्षत्रविज्ञान के कुछ ध्यातव्य तथ्य, 88 नक्षत्र पुञ्जों के नाम, याम्योत्तर लंघनकाल एवं नक्षत्र दिनमान, वसन्त, ग्रीष्म, शरद, एवं हेमन्त में दृश्य मुख्य नक्षत्रपुञ्जों के विवरण एवं खगोलीय चित्र, उत्तर एवं दक्षिण गोलार्ध के सदोदित नक्षत्र, राशिचक्र, नक्षत्रदीप्तांश, सापेक्षिक भास्वरत्व, कोटिप्रति, दीप्तांश भेद निश्चय प्रकार, फोटो विषयक नक्षत्र, कोटिप्रति, चाक्षुषकोटि, दूरत्व, लम्बनकोण, यान्त्रिक कोटि आदि विषय नवीन महाकाश विज्ञान के आधार पर दिये गये हैं।

नक्षत्र लम्बन निर्धारण प्रकार, दूरत्व प्रमाप की नवीन, विधियाँ, नक्षत्रों की सापेक्षिकगति, केन्द्रीयगति तथा स्वकीयगति, वार्षिक स्थिति परिवर्तन, द्विकनक्षत्र तथा रूपविकारीनक्षत्र, विकारी नक्षत्र के स्फुरणशील, विस्फोटशील तथा ग्रहणशील विकारी नक्षत्र, नक्षत्रस्तबक तथा नीहारिकाएँ, स्तबकनक्षत्रों के नक्षत्रकुल, अबद्ध, एवं गोलीय नक्षत्र स्तबक, नीहारिकाओं के भेद, आकाश गंगा संस्थान आदि विषय अति संक्षेप में परिचयार्थ प्रस्तुत किये गये हैं।

अधिक जानकारी के लिए आज अंग्रेजी, हिन्दी तथा संस्कृत में अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हैं। भौतिक, खगोलभौतिक, सौरभौतिक एवं नक्षत्रभौतिक के क्षेत्र में हो रहे विकास तथा महाकाशीय अन्वेषण के उपग्रहीय दौर की शुरूआत एक दिन हमें वैदिक महाकाश विज्ञान एवं विविधयान विद्या के दिव्य निर्दुष्ट रूप तक ले जायेगा, लेकिन तब यदि संघीय अन्वेषण का यह दौर अबाधित रहा।

यदि धरती को विषाक्त जीवाणु, जहरीले रसायन, आणविक तरंग, विभिन्न विस्फोटक, जीव एवं वन्य नाशक, मानवीय कृत्य तथा पाञ्चभौतिक प्रदूषण से बचाकर मानव जीवन को स्वप्रज्ञापराध में नष्ट नहीं होने दें।

* **सर्वविज्ञानमूल -** गणित एवं तर्क शब्दाश्रय एवं अंकनाश्रय से प्रकट होने से समस्त भारतीय विद्याएँ 'षडङ्गों वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' से गम्य होना महामुनि पतञ्जलि ने दर्शाया। 'यत्पिण्डे तद्ब्रह्माण्डे' भी इस युग में प्रथमतः उन्हीं की देन है। इस प्रकार युगभेद से क्षमता भेद के प्रमाण भी मिलते हैं।अतः संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत ज्ञान,विज्ञान,कला,दर्शन तथा अध्यात्म के अध्ययन एवं अध्यापन क्रम में अनिवार्य विषय, स्वशास्त्र, स्वशास्त्रसम्बद्ध प्राचीन तथा नवीन विषय तथा स्वेच्छिक के अनुसार प्रारम्भ से अन्त तक यदि निवेश हो तो विवेक नियन्त्रित वैज्ञानिक विकास से विश्व में आत्मनिर्भरता के साथ शान्ति एवं समृद्धि का दौर फिर से लौट सकता है।[54]

* संस्कृत केवल एक भाषा नहीं अपितु परिष्कृत प्रदूषणमुक्त विकास की पराकाष्ठा एवं परिष्कृत जीवनपद्धति को दर्शाता है। यद्यपि संहितोक्त कुछ वैज्ञानिक सन्दर्भ भौतिक एवं आाधिभौतिक विषय आधुनिक अन्वेषण क्रम में भी आ गये हैं, लेकिन अभी अनेकों रहस्य शब्द एवं कार्य सामर्थ्य के चेतनानिष्ठता पर नहीं खुल पाने से रहस्यमय आवरण में कैद है। ज्योतिषशास्त्र का यही स्वरूप इसे शास्त्रान्तर से भी जोड़ता है। कालांश एवं क्षेत्रांश की निष्पत्ति से आधान से जनन तक, जनन से पूर्णविकास युवावस्था तक, युवा से वृद्धत्व तक, वृद्धत्व से निधन तक, समस्त तथ्य, घटना, भोगोपभोग कालांश एवं क्षेत्रांश की निष्पत्ति से पञ्चमहाभूतानि योनिरिति' के योगज एवं स्वतन्त्र प्रभाव प्रकटीकरण की निष्पत्ति से घटना का प्रत्यक्ष व्यक्त रूप में महाभूतों के माध्यम से ही सभी घटना घटित होने से इसे योनि रूप कहा। आधिदैविक तथा अध्यात्मिक अन्वेषण अभी विभिन्न कारणों से संगठित अन्वेषण तथा सत्यापन से नहीं जोडा जासका है।

धरती, जल, वायु, अग्नि, आकाश ये भू सापेक्ष भूगोलीयान्तरिक्ष से सत्य केन्द्र तक की यात्रा हमारे लिए भले कल्पना हो, पर वैदिक वाङ्मय का सच है। पौराणिक देवों की अन्तर्ग्रहीय यात्रा के आख्यान, द्युलोकीय देवलोक के आख्यान है, कोरी कल्पना नहीं होने पर भी आज भी लगती है। समस्त शास्त्र दिग्देश, काल एवं पात्र भेद से इससे सम्बद्ध है।

शास्त्रान्तरों का ज्योतिष से सम्बन्ध निरूपण में प्रत्येक शास्त्र दिग्देश, काल एवं पात्र की निष्पत्ति से इससे सम्बद्ध है।

* अलंकार शास्त्र एवं साहित्य

* आत्मरक्षा तथा युद्धक विद्याएँ -

यदि हम भारतीय पूर्व काल खण्ड से भी सीख लिये होते तो इस कदर हमारी दुर्गति नहीं होती। क्योंकि प्राचीन शास्त्र सर्व विज्ञानमय है। उसमें कहीं कोई भेदभाव है, न घृणा। स्तरभेद, चेतनाभेद एवं संघीय निवेश से केन्द्रीकरण तथा विकेन्द्रीकरण के समन्वित सत्वनिष्ठ रूप को जानना तथा समझना जरूरी है।

* शैक्षिक एवं प्रशिक्षणात्मक निवेश कैसा हो? किन-किन विद्याओं में छात्रों को शुरू से प्रशिक्षित किया जाए कि वे अन्वेषक तथा अविष्कारक की भूमिका से प्रारम्भ कर न्यायमर्मज्ञ, रक्षक, पालक तथा राष्ट्रीय मर्यादा का सेवक अपनी -2 क्षमतानुरुप सभी बन सके। 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' के गीतोक्त प्रमाण के अनुसार स्व मूल प्रकृति का पूर्ण विकास तथा मृत्यु तक उसी का अनुपालन श्रेयस्कर प्रवृत्ति है, उस पर अडिग हो सकें। सत्व प्रवृत्तिहीन क्षमता रहित का परान्धानुकरण हमेशा भयावह होता है।

सन्दर्भग्रन्थ -

1. भारतीयज्योतिषनक्षत्रविद्या -द्रष्टव्य -प्रक्रम 1 तः 21 तथा
2. अयनांशविमर्श -अ.1 तः7 -आचार्य -प्रो.सच्चिदानन्द मिश्र वराणसी

3. पंचांगकमिटी की रिपोर्ट -पं.दीनानाथ शास्त्री चुलैट -होलकरमुद्रणलय - इन्दौर
4. बृहत्संहिता -वराह -अ.1 तः100 -वाराणसी
5. विज्ञान विद्युत -विद्यावाचस्पति मधुसूदन ओझा -राजस्थानपत्रिका जयपुर
6. प्रज्ञा -का.हि.वि.वि. वाराणसी -2007 तः2013 अंक -54-1,2,55-2,56-1,57-2,58-1,2,59-1सूर्यसिद्धान्त की पंचांग निर्माण की दृष्टि से समीक्षा, 2-वृष्टि वं प्राकृतिक आपदा निर्धारण आदि,
7. संस्कृतविद्या -सं.वि.ध.वि.संकाय -2007 तः2013
8. शास्त्रशुद्ध पंचांग मीमांसा -प्रो.शक्तिधर शर्मा -पाटीयाला -पंजाब इत्यादि
9. दैवज्ञकामधेनुः -अनवमदर्शी
10. 1.. वैदिकानां नक्षत्रेषु प्रसक्तिरिति -मामांसादर्शनम्।
    2. त्रिपादूर्ध्वोऽद्वैतपुरुषः -पुरुषसूक्त -शुक्लयजुर्वेद
    3. निरयण नक्षत्रपुञ्ज में अयनगति के कारण कोई परिवर्तन नहीं होता। द्रष्टव्यअयनांशविमर्श-अ. 1 त;. 6 तथा भारतीयज्योतिष - दीक्षित - अयनगतिविचार।
    4.अयनांशविमर्श -अ.6.
    7.अयनांशविमर्श -अ.7उपसंहार
    8.पंचांगकमिटी की रिपोर्ट -पृ 250 से 300
    9. .धर्मशास्त्र का इतिहास -पी.वी.काणे
    10.विज्ञानविद्युत-विद्यावाचस्पति मधुसूदन ओझा -
11. षडङ्गों वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च के योगमूल सम्बद्ध ज्ञापक निष्पत्ति महर्षि पतञ्जलि एवं वैदिकविज्ञान एवं भारतीयसंस्कृति -म.म.गिरीधरलाल शर्मा चतुर्वेदी - हिन्दी अकादमी -पटनाा -बिहार।
12. भारतीयज्योतिषस्यसाम्प्रतिकत्वनिर्धारम् -प्रज्ञा -अंक 49.
13. बृहत्संहिता -अ.2 साम्वत्सरसूत्राध्याय -वराह तथा भारतीयज्योतिष नक्षत्रविद्या -प्रक्रम 1तः5 -प्रो.सच्चिदानन्दमिश्रः
14 अयनांशविमर्शः -अ.6
15. सिद्धान्तशिरोमणिः प्रश्नाध्याय -भास्कराचार्यः
16. भारतीयज्योतिष नक्षत्रविद्या -प्रक्रम 4से7द्रष्टव्य
17. भारद्वाजप्रणित यन्त्रसर्वस्व से काश्यपशिल्पम् समरांगणसूत्राधारआदि
18. भारतीयज्योतिष नक्षत्रविद्या में प्रयुक्त ज्योतिष के विभिन्नविषयों के वैज्ञानिकत्व -प्र. 7 द्रष्टव्य
19. राशिचक्र निरयणचक्र के अनुसार कालनरात्मक क्यों तथा कैसे माना गया, इस पर पुनःसंघीय अन्वेषण अपेक्षित।
20. भारतीयज्योतिष नक्षत्रविद्या- प्र. 8.1 फलित का वैज्ञानिकत्व
21. भारतीयज्योतिष नक्षत्रविद्या -प्र. 8-2
22. भारतीयज्योतिष नक्षत्रविद्या- खगोलीय ऐतिहासिक पद्धति का प्रयोग -मूलाधार पंचांग कमिटी का रिपोर्ट -प.दीनानाथ शास्त्री चुलैट
23. सूक्ष्मकाल निर्धारण में महाकाशीय परिवर्त्तन के साथ भूगर्भ तथा भूपृष्ठीय परिवर्तनों की यथार्थ समीक्षा जरूरी है -द्रष्टव्य -अयनांशविमर्श -अ.6, भारतीयज्योतिष नक्षत्रविद्या - यथा-प्र. 11/1 इस प्रक्रम में नक्षत्र विचार से अयनांश का विचार ,प्र14तः 18.तथा पंचांगकमिटी का रिपोर्ट -. प.दीनानाथ शास्त्री चुलैट -पृ.1 तः45.
24. द्रष्टव्य प्रज्ञा के 2007 से अब तक प्रकाशित अंक तथा सौदामिनी - प्रयाग,संस्कृतविद्या -2013 अंक वृष्टिविज्ञाने सूर्यस्य प्रभावः
25. बृहत्पाराशरहोराशास्त्र में इसके स्पष्ट संकेत पुनःअनुशीलनीय है।
26. कादम्विनी -विद्यावाचस्पति मधुसूदन ओझा तथा कृषिपराशर बी.सी.3000 से डॉ घुनिरामत्रिपाठी तक के प्राचीन अन्वेषण द्रष्टव्य तथा प्रज्ञा -2013 अंक 59. द्रष्टव्य।
27. बृहत्संहिता -अ.22 से 30
28. बृहत्संहिता -अ.31 से 35.
29. वेदाङ्गज्योतिष -महात्मा लगध तथा नवीन मनोविज्ञान,परामनोविज्ञान तथा Modern devolopment of Astrobiology & cosmic effecr indicating process of Medicalsciences .Treditional & modern.
30. भारतीयज्योतिष -दीक्षित ,धर्मशास्त्र का इतिहास -प. बलदेव उपाध्याय तथा संस्कृत वाङमय का संक्षिप्त इतिहास -वाचस्पति गोरैला बृहत्संहिता -वराह, अद्भुत्सागर -बल्लाल सेन।
31. बृहत्संहिता -वराह, इन्द्रध्वजसम्पत् एवं नीराजन अ. 44
32. बृहत्संहिता अ. 46 उत्पाताध्याय
33. वराह से विद्यावाचस्पति मधुसूदन ओझा एवं डा घुनिरामत्रिपाठी तक भारतीय वृष्टिविज्ञान सद्य+वृष्टिसे दीर्घवृष्टि योग तक के सभी सिद्धान्त परीक्षण तथा सत्यापन के अन्तर्गत लाना समग्र विश्व की जरुरत है।
34. बृहत्संहिता अ. चन्द्रचार तथा मयूरचित्रक द्रष्टव्य
35. बृहत्संहिता अ. 48 से 51 अभिषेक एवं निराजन का निगमागमसम्मत रुप का स्पष्टसंकेत महत्वपूर्ण है।
36. भा.ज्यो.नक्षत्रविद्या प्र. 14/4 नक्षत्रपुंजविचार
37. अयनांशविमर्श-अ.6 पंचांग कमिटी की रिपोर्ट -भाग2
38. स्थापत्य वास्तुशिल्प की उच्चस्तरीय परम्परा विश्वकर्मा तथा मय से काश्यप से भोजराज तक द्रष्टव्य
39. भा.ज्यो.नक्षत्रविद्या प्र. 15/ बृहत्संहितोक्त प्रमाण द्रष्टव्य-
40. भा.ज्यो.नक्षत्रविद्या प्र. 15/5- तथा नक्षत्रों की निजी गति से नक्षत्र पुञ्जाकृति भी दीर्घकाल में विकृत हो जाने के प्राचीन संकेत आज नव्यानुमोदित है - ज्योतिर्विज्ञानम् -अर्कसोमयाजि,अर्वाचीनज्योतिर्विज्ञानम् -रमानाथ सहाय तथा ज्योतिष की पहुँच -फ्रेडहायल -अनुवादक डाँ गोरखप्रसाद द्रष्टव्य।
41. सूर्यसिद्धान्त भग्रहयुत्यधिकार -द्रष्टव्य
42. द्रष्टान्त भा.ज्यो.नक्षत्रविद्या प्र. 13/5 पृ. 248-90, द्रष्टव्य
43. भा.ज्यो.नक्षत्रविद्या प्र. 16/6 एवं 7-
44. भा.ज्यो.नक्षत्रविद्या प्र. 17/8 के अन्तर्गत श्री चुलैट के अनुसार नक्षत्रविद्या के अनुसार अयनादि तत्व समीक्षित किये गये हैं।
45. यज्ञमधुसूदनी -वि.वि.मधुसूदन ओझा -विश्वात्मक यज्ञमूल दर्शनार्थ अग्नौ सोमाहुतिर्यज्ञः 'यह सर्वविध सृजन तथा अर्थोत्पत्ति का आधार है। बृहत्संहिता -अर्घनिश्चय तथा अर्घमार्त्तण्ड 7 द्रष्टव्य।
46. बृहत्संहितोक्त वराहादि के संकेतों से प्राप्त होते हैं। दिव्यादि प्रभाव के सभी 100 भेद द्रष्टव्य।पञ्चाङ्ग कमेटी की रिपोर्ट तथा अयनांश विमर्श पंचांग की समीक्षा की दृष्टि से सर्वाभिप्राय से महत्वपूर्ण है।
47- भा.ज्यो.नक्षत्रविद्या प्र. 18/8 भारतीयज्योतिष -दीक्षित -निरयण तथा सायन की समीक्षा केतकर का दृग्गणितैक्याभिप्रायिक सूक्ष्मग्रहानयन का सूक्ष्मक्रान्तिवृत्तीय निरयण नहीं होना,तथा प्रज्ञा 2013 अंक 58 सूक्ष्मपंचांग का सौरोक्त रुप,एवं संस्कृतविद्या 2012 भारतयपंचांगस्य वास्तविकस्वरुपम् द्रष्टव्य
48. पंचांग कमिटी की रिपोर्ट -पृ-200तः280 -चुलैट
49. पंचांग कमिटी की रिपोर्ट -पृ-281तः340 -चुलैट
50. पंचांग कमिटी की रिपोर्ट -पृ-341तः400 -चुलैट
51. भा.ज्यो.नक्षत्रविद्या प्र. 18/11 द्रष्टव्य
52. भा.ज्यो.नक्षत्रविद्या प्र. 18/12 तथा पंचांग कमिटी की रिपोर्ट तथा भा.ज्यो.नक्षत्रविद्या प्र. 18/13-कालनिर्णय के मानक तत्व -भा.ज्यो.नक्षत्रविद्या प्र. 18/14 द्रष्टव्य।
53. भा.ज्यो.नक्षत्रविद्या प्र. 18/15 -सूक्ष्मगतिज्ञान पात एवं मन्दोच्च सहित।
54. भा.ज्यो.नक्षत्रविद्या प्र. 19/1 -गुरुप्रवरों के करकमलों में इसे अर्पित कर गुरुकृपालव पूतत्वेन स्वकीयार्पणं करोतीति विद्वद्वशं वदः सच्चिदानन्दः। वाराणसी

●

सर्वास्तिवाद में इन्द्रिय की अवधारणा

डॉ. सीमा मुन्शी एवं प्रो० प्रद्युम्न दुबे***

किसी भी व्यक्ति के जीवन में इन्द्रिय का अति महत्वपूर्ण स्थान है। इन्द्रिय की तीक्ष्णता या मंदता के अनुरूप व्यक्ति का व्यक्तित्व प्रभावित होता है। इसी प्रकार, इन्द्रिय-वैकल्य व्यक्ति-जीवन को प्राकृतिक रूप से पंगु एवं असहाय बना देता है। इन्द्रिय की शक्ति को बढ़ाने के लिए व्यक्ति आजीवन प्रयत्नशील रहता है, चाहे वह वैज्ञानिक विधि से हो या आध्यात्मिक प्रक्रिया से।

इन्द्रिय के स्वरूप, प्रकार, क्रियाविधि एवं सामर्थ्य की व्याख्या लोक में एवं विभिन्न शास्त्रों में विभिन्न प्रकार से की गई है।

लोक में 'इन्द्रिय' का तात्पर्य है- शरीर का वह अवयव, जिसके द्वारा ज्ञान प्राप्त किया जाता है अथवा कोई कार्य किया जाता है। कोश के अनुसार, 'इन्द्रिय' शब्द का अर्थ, शारीरिक शक्ति, ज्ञानशक्ति, वीर्य आदि भी है।[1] 'इन्द्रिय' शब्द का व्युत्पत्तिगत[2] अर्थ है, वह बल, शक्ति या गुण, जो इन्द्र में विद्यमान था।[3] अर्थात् 'इन्द्रिय' का तात्पर्य है 'इन्द्र के समान गुणसम्पन्न।' इन्द्र अर्थात् अधिपति। अधिपति का गुण है आधिपत्य। जिसमें आधिपत्य है, वही 'इन्द्रिय' है।

भारतीय आस्तिक दर्शन-सम्प्रदायों में 'इन्द्रिय' की अवधारणा को ज्ञानप्राप्ति के कारण-रूप में या कार्य करने के माध्यम-रूप में प्रस्तुत किया गया है। जबकि 'इन्द्रिय' की कार्यविधि के विषय में विभिन्न सम्प्रदायों में मत-वैविध्य है। किन्तु सर्वास्तिवाद में 'इन्द्रिय' की अवधारणा इन सबसे विलक्षण है। इसमें 'इन्द्रिय' की अवधारणा को अतिसूक्ष्म दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है।

भगवान बुद्ध ने इन्द्रिय-देशना (= इन्द्रिय का उपदेश) करते हुए उनके विलक्षण विचार को प्रकट किया है। उसके अनुसार, 'इन्द्रिय' अर्थात् अधिपति-स्वरूप 'धर्म'। 'धर्म' अर्थात् बाह्य एवं आन्तरिक जगत् का सर्वसूक्ष्म तत्व, जो अपनी विलक्षणता-रूप वैशिष्ट्य को धारण करता है।[4] इन धर्मों की व्याख्या अनेक दृष्टिकोणों से की गई है। आधिपत्य के दृष्टिकोण से 'धर्म' दो प्रकार के हैं- अधिपति-स्वरूप धर्म एवं अधीन-स्वरूप धर्म। जो भी धर्म अधिपति-स्वरूप है, वही 'इन्द्रिय' है।[5] 'आधिपत्य' का अर्थ है 'अधिक प्रभुत्व'।[6]

'अभिधर्मकोश' के 'इन्द्रियनिर्देश' नामक द्वितीय कोशस्थान के प्रारम्भ में कहा गया है- 'इदि' धातु का अर्थ परमैश्वर्य है। जिसकी परमैश्वर्य में प्रवृत्ति हो, वह 'इन्द्रिय' है।[7] 'परमैश्वर्य' में प्रवृत्ति का अर्थ है 'आधिपत्य'।

इस प्रकार 'इन्द्रिय' अर्थात् दूसरे धर्मों पर आधिपत्य करने वाले धर्म। एवंविध अधिपति-स्वरूप धर्मों को बाईस प्रकार का कहा गया है। ये हैं- (1) चक्षुरिन्द्रिय (2) श्रोत्रेन्द्रिय (3) घ्राणेन्द्रिय (4) जिह्वेन्द्रिय (5) कायेन्द्रिय (6) पुरुषेन्द्रिय (7) स्त्रीन्द्रिय (8) जीवितेन्द्रिय (9) मन-इन्द्रिय (10) सुखेन्द्रिय (11) सौमनस्येन्द्रिय (12) दुःखेन्द्रिय (13) दौर्मनस्येन्द्रिय (14) उपेक्षेन्द्रिय (15)श्रद्धेन्द्रिय (16) वीर्येन्द्रिय (17) स्मृतीन्द्रिय (18) समाधीन्द्रिय (19) प्रज्ञेन्द्रिय (20) अनाज्ञातमाज्ञास्यामीन्द्रिय (= 'अनाज्ञात को मैं जानूँगा'- ऐसा निश्चय करने वाला इन्द्रिय) (21) आज्ञेन्द्रिय (=सभी सत्यों को जान लेने वाला या 'आज्ञ' इन्द्रिय) एवं (22) आज्ञातावीन्द्रिय (= सभी ज्ञेय या सत्यों को जानने का बोध जिसे हो गया हो अर्थात् जो 'आज्ञाताव' हो, ऐसा इन्द्रिय)।

ये बाईस इन्द्रियाँ 'चित्त' नामक धर्म को षडायतन (=स्थूल शरीर) के साथ एक व्यक्तित्व प्रदान करते हैं। ये इन्द्रियाँ किस प्रकार से 'चित्त' को आन्तरिक एवं बाह्य व्यक्तित्व प्रदान करते हैं, इस विषय में दो मत है- प्रथम मत, भगवान बुद्ध के मत के रूप में उल्लिखित है[8] एवं द्वितीय मत अन्य आचार्यों के मत के रूप में।[9] सम्प्रति इन दोनों मतों पर अलग-अलग रूप से विचार न करते हुए सामान्य रूप से इन्द्रियों का स्वरूप-विवेचन अपेक्षित है।

'चित्त' नामक धर्म अनादिकाल से विभिन्न योनियों एवं जन्मों को प्राप्त करता हुआ प्रवाहित होता रहता है। यह धर्म कभी अकेला प्रवाहित नहीं होता है। उसके साथ-साथ संस्कार-स्कन्ध नामक धर्म-समूह भी प्रवाहित होता रहता है। 'संस्कार' में संज्ञा, वेदना आदि धर्म होते हैं।

'चित्त' जब स्थूल शरीर का आश्रय ग्रहण करता है, तब 'रूप-स्कन्ध' के अन्तर्गत उसे पाँच इन्द्रियाँ (= चक्षुः, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय) प्राप्त होती हैं। ये इन्द्रियाँ चित्त के पूर्व-पूर्व कर्मों के अनुरूप दो रूपों में प्राप्त होती हैं- (1) बाह्य एवं स्थूल इन्द्रिय-रूप में तथा (2) आन्तरिक एवं इन्द्रिय-शक्ति (= अधिपति) रूप में।

इन पाँच इन्द्रियों का आधिपत्य चार विषयों पर है[10]- (1) आत्मभावशोभा (= इन इन्द्रियों के रहने से शरीर का सुन्दर दीखना), (2) आत्मभावपरिरक्षण (= तीव्र प्रकाश, ध्वनि, गन्ध, स्वाद, सुतीक्ष्णता- इत्यादि विषमताओं का परिहार), (3) विज्ञानोत्पत्ति (= चाक्षुष, श्रावण आदि ज्ञानों की उत्पत्ति) एवं (4) असाधारणकारणत्व (जैसे- रूपदर्शन, शब्दश्रवण आदि कार्यों पर आधिपत्य)।

'चित्त' जिस स्थूल शरीर का आश्रय ग्रहण करता है, उस शरीर के पुरुष या स्त्री रूप विकल्प की निश्चितता के लिए दो इन्द्रिय होते हैं- पुरुषेन्द्रिय एवं

---

* पोस्ट डॉक्टोरल फेलो (P.D.F.), पालि एवं बौद्ध अध्ययन विभाग, कला संकाय, काशीहिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी

** निर्देशक एवं विभागाध्यक्ष, पालि एवं बौद्ध अध्ययन विभाग, कला संकाय, काशीहिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी

स्त्रीन्द्रिय। इन इन्द्रियों के अनुसार ही पञ्चेन्द्रियों का हावभाव एवं स्वभाव निर्धारित होता है। इन दो इन्द्रियों का आधिपत्य दो विषयों पर है- (1) सत्त्वभेद (= स्त्री-पुरुष का भेद) एवं (2) सत्त्वविकल्प-भेद (=संस्थान, स्वर और आचार का भेद)।[11]

चित्त-प्रवाह कितने समय तक उस शरीर में प्रवाहित होगा, इसकी अवधि को निर्धारित करने के लिए 'जीवितेन्द्रिय' होता है।[12] यह आन्तरिक एवं ऊष्मा-स्वरूप इन्द्रिय है।[13] इसका आधिपत्य (1) निकायसभाग (=लोक के अनुरूप देह से सम्बद्ध होना) और (2) निकायसभाग के संधारण (= जन्म से मृत्यु पर्यन्त तत्तत् लोक के देह में 'चित्त' के अवस्थान) पर है।

'चित्त' पुनर्भव में प्रवेश करते समय (= पुनर्जन्म लेते समय नवीन देह से सम्बद्ध होने के पूर्व की अवस्था में) एक-ही इन्द्रिय-स्वरूप होता है और वह इन्द्रिय है- 'मन-इन्द्रिय'। 'मन-इन्द्रिय' मात्र अनुभवात्मक होता है। 'मन-इन्द्रिय' का आधिपत्य दो विषयों पर है- (1) पुनर्भव-सम्बन्ध के क्षण में मात्र अनुभव-स्वरूप होना एवं (2) वशीभावानुवर्त्तन (=लोक, प्रवृत्ति, निवृत्ति आदि सभी धर्मों का एक 'चित्त' रूप धर्म के वशीभूत होकर रहना क्योंकि 'चित्त' से ही सभी धर्म उपनीत होता है एवं 'चित्त' से ही परिकृष्ट होता है।)[14]

'चित्त' के आश्रय-रूप षडायतन का उपभोग पंच वेदनेन्द्रियों के कारण होता है। ये इन्द्रिय आन्तरिक एवं अनुभवात्मक हैं। ये हैं- (1) सुखेन्द्रिय (=कायिकी अनुकूल वेदनानुभव कराने वाला इन्द्रिय)[15], (2) सौमनस्येन्द्रिय (=चैतसिकी अनुकूल वेदनानुभव कराने वाला इन्द्रिय)[16] 3) दुःखेन्द्रिय (=कायिकी प्रतिकूल वेदनानुभव कराने वाला इन्द्रिय)[17](4) दौर्मनस्येन्द्रिय (=चैतसिकी प्रतिकूल वेदनानुभव कराने वाला इन्द्रिय)[18] एवं (5) उपेक्षेन्द्रिय (=कायिकी, चैतसिकी या उभयात्मक सुख-दुःखादि विकल्पों से रहित निरपेक्ष वेदनानुभव कराने वाला इन्द्रिय)[19]। इन पंच वेदनेन्द्रियों के कारण 'चित्त' षडायतन का उपभोग करता है, उसमें आसक्त होता है एवं क्लिष्ट होता जाता है। अतः इन पंच वेदनेन्द्रियों का आधिपत्य संक्लेश में है।[20]

'चित्त' को क्लेशों से मुक्ति दिलाने के लिए और भी पाँच आन्तरिक इन्द्रिय होते हैं। ये हैं- (1) श्रद्धेन्द्रिय, (2) वीर्येन्द्रिय, (3) स्मृतीन्द्रिय, (4) समाधीन्द्रिय एवं (5) प्रज्ञेन्द्रिय। 'चित्त' की प्रसन्नता को 'श्रद्धा' कहते हैं।[21] दूसरे आचार्य के मत में, सत्य (=चतुरार्यसत्य), रत्न (=त्रिरत्न- बुद्ध, धर्म, संघ या शील, समाधि, प्रज्ञा), कर्म (=द्विविधकर्म- कुशल एवं अकुशल) एवं कर्मफल (=द्विविध कर्मफल- इष्टफल एवं अनिष्टफल) के प्रति दृढ़ विश्वास 'श्रद्धा' है।[22] चित्त में कुशल कर्मों के प्रति उत्साह 'वीर्य' है।[23] चित्त में आलम्बन का अविस्मरण 'स्मृति' है।[24] समीप पहुँचकर दर्शनीय या ज्ञेय वस्तु में सम्यक्-रूप से चित्त की एकाग्रता 'समाधि' है।[25] ज्ञात धर्मों का कुशल-अकुशल रूप में प्रविचय (=चयन) करना 'प्रज्ञा' है।[26] इस प्रकार, सत्य, रत्न, कर्म एवं कर्मफल पर दृढ़ विश्वास रखते हुए कुशल कर्मों के प्रति उत्साहपूर्वक, अपने लक्ष्य को न भूलकर, उस पर एकाग्रचित्तता के साथ कुशल-अकुशल कर्मों का चयन करते हुए व्यवदान-संभार (=संक्लेशों को दूर करने हेतु गहन अभ्यास) से 'चित्त' समृद्ध होता रहता है। इन श्रद्धादि पंचेन्द्रियों से 'चित्त' अपने ऊपर पड़े हुए क्लेशावरण को दूर करने का गंभीर प्रयत्न करता है। अतः, इन श्रद्धादि पंचेन्द्रियों का आधिपत्य व्यवदान-संभरण (=क्लेश-दूरीकरण हेतु उपायों का सुनियोजित-रूप से गहन अभ्यास) पर है।

धीरे-धीरे 'चित्त' श्रद्धादि पंचेन्द्रियों की सहायता से क्लेशों को दूर करने का प्राणपण प्रयास करते हुए सत्य के अभिसमय (=साक्षात्कार) के निकट आ पहुँचता है। सत्याभिसमय (=चतुःसत्य के साक्षात्कार) के ठीक पहले अर्थात् अव्यवहित षोडश क्षण पूर्व 'चित्त' की ऐसी एकाग्र अवस्था हो जाती है कि उस सत्त्व में केवल नौ ही इन्द्रियों का प्राधान्य रह जाता है, बाकी इन्द्रियों का उसे प्रयोजन ही नहीं रह जाता है। 'चित्त' इन नौ इन्द्रियों को एकाठा कर मानो एक निश्चल दीपशिखा के समान स्तब्ध बन जाता है। अतः इस समय इन नौ इन्द्रियों को मिलाकर एक ही इन्द्रिय का नाम दिया गया है। ये नौ इन्द्रियाँ हैं- सुखेन्द्रिय, सौमनस्येन्द्रिय, मन-इन्द्रिय, उपेक्षेन्द्रिय और श्रद्धादि पंचेन्द्रिय। इन नौ इन्द्रियों की एकाग्रतावस्था के भी तीन क्रमिक स्तर हैं- प्रथम स्तर में, ये नौ इन्द्रिय चतुःसत्य के अभिसमय के अव्यवहित पूर्व के षोडश क्षणों में से प्रथम पञ्चदश क्षणों में पुद्गल 'दर्शनमार्गस्थ आर्य' कहलाता है। इन क्षणों में सत्त्व अनाज्ञात सत्यचतुष्टय को जानने में तल्लीन होकर 'मैं अनाज्ञात को जानूँगा'- ऐसा विचारमय बन जाता है। अतः उसके इन नौ इन्द्रियों को 'अनाज्ञातमाज्ञास्यामीन्द्रिय' कहते हैं।[27]

इसके परवर्ती क्षण में अर्थात् चतुःसत्य के अभिसमय के षोडशवें क्षण में पूर्वोक्त एकाग्रता प्राप्त नौ इन्द्रियों के लिए कोई नया कुछ जानना शेष नहीं रहता, किन्तु शेष अनुशयों (=क्लेशों) के प्रहाण के लिए वह पूर्व में आज्ञात सत्यों को पुनः-पुनः जानता है, अतः उस अवस्था का सत्त्व 'आज्ञ' कहलाता है और इस षोडशक्षणावस्था के आर्य के नौ इन्द्रियों को 'आज्ञेन्द्रिय' कहा जाता है।[28] वह योगी 'भावनामार्गस्थ योगी' होता है।

चतुःसत्य के अभिसमय के बाद सप्तदश क्षण में पूर्वोक्त नौ इन्द्रिय सम्पूर्ण रूप से एकाग्रतावस्था को प्राप्त होकर यह अवगम (=आव) कर लेता है कि 'सत्य आज्ञात है', तब वह 'आज्ञातावी' (='सत्य आज्ञात है'- ऐसा 'ताव' या अवगम कर लेने वाला योगी) कहा जाता है। अतः उसका इन्द्रिय 'आज्ञातावीन्द्रिय' कहलाता है।[29] वह 'अशैक्षमार्गस्थ योगी' है।

उपर्युक्त बाईस इन्द्रियों में अन्तिम तीन इन्द्रिय अनास्रव (= विशुद्ध या मलरहित) है। ये केवल आरूप्यलोक के साधकों में ही होते हैं। अन्य 19 इन्द्रिय सामान्य मानवों एवं देवों में होते हैं। साधारण स्वस्थ मानव में केवल 18 इन्द्रिय होते हैं- चक्षुरादि पंचेन्द्रिय, पुरुषेन्द्रिय या स्त्रीन्द्रिय, जीवितेन्द्रिय, मन-इन्द्रिय, पंचवेदनेन्द्रिय एवं श्रद्धादि पंचेन्द्रिय।

इन सभी इन्द्रियों में दो प्रधान इन्द्रिय हैं- 'मन-इन्द्रिय' एवं 'जीवितेन्द्रिय'। 'मन-इन्द्रिय' 'चित्त' की ही अनुभवात्मक अवस्था है एवं 'जीवितेन्द्रिय' के बिना सत्त्व का जीवन ही असम्भव है। वास्तव में, यह 'प्राण' का पर्याय है।

सत्त्व के जीवन के प्रतिसन्धिकाल (=प्रथमावस्था) में केवल दो ही इन्द्रियाँ होती हैं- 'जीवितेन्द्रिय' एवं 'मन-इन्द्रिय'। बाद में, क्रमशः षडायतन (=स्थूल शरीर) की उत्पत्ति होने पर छः इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है- चक्षुरादि पंचेन्द्रिय एवं पुरुषेन्द्रिय या स्त्रीन्द्रिय। इनमें चक्षुरादि पंचेन्द्रिय से सत्त्व के बाह्य व्यक्तित्व एवं पुरुषेन्द्रिय या स्त्रीन्द्रिय से आन्तरिक व्यक्तित्व या स्वभाव का निर्माण होता है। फिर पंच वेदनेन्द्रिय की उत्पत्ति होती है, जिससे सत्त्व षडायतन का उपभोग करता है। सत्त्व अपने षडायतन का कम या अधिक उपभोग करता हुआ विविध व्यक्तित्व का अधिकारी बन जाता है। कोई-कोई क्लिष्ट चित्त अधिकाधिक क्लिष्ट बनता जाता है। इनके कई प्रकार के

व्यक्तित्व बनते हैं। जैसे- अहंकारी चित्त, अत्याचारी चित्त, अत्यन्त क्रोधी चित्त, अत्यन्त ईर्ष्यालु चित्त, अतिलोभी चित्त, अतिमूढ़चित्त आदि। कोई-कोई क्लिष्ट चित्त क्लेशों से मुक्ति पाने के लिए श्रद्धादि पंचेन्द्रियों का उपयोग करने में लग जाता है क्योंकि इनके उपयोग से उसे पूर्वापेक्षा राहत या शान्ति का अनुभव होता है। इनके भी कई प्रकार के व्यक्तित्व बनते हैं। जैसे- शान्त चित्त, उपकारी चित्त, दयालु चित्त, दानी चित्त, ज्ञानी चित्त, मुमुक्षु चित्त आदि। यदि सत्त्व के श्रद्धादि पंचेन्द्रिय अधिकाधिक तीव्रतर बनते जायँ, तो वह अति उच्च स्तर (= आरूप्यलोक) के तीन अनास्रव इन्द्रिय से सम्पन्न बनकर महायोगी बन जाता है।

इस प्रकार, भगवान बुद्ध ने बाईस इन्द्रियों के माध्यम से मानव के विभिन्न प्रकार के व्यक्तित्व का विश्लेषण किया है। मानव के किसी भी शारीरिक या मानसिक कष्ट का कारण इन्द्रिय से विषय के उपभोग में आसक्ति की प्रबलता है। अतः इन्द्रिय के स्वरूप तथा उसकी शक्ति को जानकर तद्नुरूप आचरण करने का प्रयास करना चाहिए। श्रद्धादि पंचेन्द्रियों की शक्तियों को सुनियोजित-रूप से बढ़ाने का प्रयास करना चाहिए एवं अन्ततः अनास्रव इन्द्रियों को प्राप्त कर चतुःसत्य का साक्षात्कार करना चाहिए। यही जीवन का परम लक्ष्य है। इसी को अष्टांगमार्ग के अन्तर्गत 'सम्यक् व्यायाम' कहा गया है।

'इन्द्रिय' केवल अधिपति-धर्म मात्र नहीं है, यह अनन्त भवचक्र में भ्रमणरत सत्त्व को उसके विभिन्न जन्मों में उसके विभिन्न प्रकार के संस्कार के अनुरूप अलग-अलग व्यक्तित्व प्रदान करता है एवं उसे या तो प्रवृत्तिमार्ग पर ले जाता है या निवृत्तिमार्ग पर। 'इन्द्रिय' ही सत्त्व को क्लिष्ट करता है या क्लेशों से मुक्ति हेतु मार्गगामी महायोगी बना देता है। दूसरे शब्दों में 'इन्द्रिय' ही व्यक्ति के व्यक्तित्व का अधिपति है। बौद्ध मत में उपलब्ध 'इन्द्रिय' की यह अवधारणा अन्यान्य दर्शन-परम्पराओं से सर्वथा विलक्षण है।

सन्दर्भ सूची-

1. आप्टे, वामन शिवराम, संस्कृत हिन्दी कोश, मोतीलाल बनारसीदास, राज संस्करण, दिल्ली, 1996, पृ. 176
2. इन्द्र + घ + इय। द्र0- वही, पृ. 176
3. द्र0, वही, पृ. 176
4. स्वलक्षणधारणाद् धर्मः। द्र0- अभिधर्मकोशभाष्य, बौद्ध भारती प्रकाशन, वाराणसी, तृतीय संस्करण, 1987, 1.2, पृ. 12
5. आधिपत्यार्थः इन्द्रियार्थः। द्र0- अभिधर्मकोशभाष्य, वही, 2.1, पृ. 135
6. अधिकं हि प्रभुत्वम् = आधिपत्यम्। द्र0- वही, 2.2, 140
7. ''इदि परमैश्वर्ये'' (मा0धा0 1.64) तस्य इन्दन्तीति इन्द्रियाणि। द्र0- वही, 2.1, पृ. 135
8. येनार्थेन भगवता द्वाविंशतिरिन्द्रियाण्युक्तानि, तत्राविद्यादीनामयोगात्। कोऽसावर्थः? इत्याह- ''चित्ताश्रयस्तद्विकल्पः'' इति। द्र0- यशोमित्र, स्फुटार्था, बौद्ध भारती प्रकाशन, वाराणसी, तृतीय संस्करण, 1987, 2.5, पृ. 142
9. मतविकल्पार्थो वा शब्दः। अपरे पुनराहुः-प्रवृत्तेराश्रय...। द्र0 अभिधर्मकोशभाष्य, 2.6, पृ. 143
10. चक्षुःश्रोत्रयोस्तावत् प्रत्येकं चतुर्ष्वर्थेष्वाधिपत्यम्। द्र0 वही, 2.1, पृ. 135
11. स्त्रीपुरुषेन्द्रिययोस्तावत् सत्त्वभेदविकल्पयोः। द्र0- वही, 2.1, पृ. 136
12. जीवितेन्द्रियस्य निकायसभागसम्बन्ध साधारणयोः। द्र0- वही, 2.1, पृ. 138
13. (क) आयुर्जीवितम्। द्र0- अभिधर्मकोशकारिका, बौद्ध भारती प्रकाशन, वाराणसी, तृतीय संस्करण, 1987, 2.45, पृ. 248
    (ख) आधारऊष्मविज्ञानयोर्हि यः। द्र0-वही।
14. मनइन्द्रियस्य पुनर्भवसम्बन्धवशिभावानुवर्त्तनयोः। द्र0- अभिधर्मकोशभाष्य, 2.1, पृ. 138
15. सुखेन्द्रियं कायिकी साता वेदना। द्र0-वही, 2.7, पृ. 146
16. कामधातौ प्रथमे द्वितीये च ध्याने सा चैतसिकी साता वेदना सौमनस्येन्द्रियम्। द्र0-वही, 2.8, पृ. 146
17. दुःखेन्द्रियमसाता या कायिकी वेदना। द्र0-वही, 2.7, पृ. 145
18. असाता चैतसी पुनः दौर्मनस्यम्। द्र0- वही, 2.8, पृ. 146
19. नैवसातानासाता अदुःखासुखावेदना मध्येत्युच्यते। सोपेक्षेन्द्रियम् । द्र0- वही, 2.8, पृ. 147
20. संक्लेशा वेदनाभिः। द्र0- वही, 2.5, पृ. 143
21. श्रद्धा चेतसः प्रसादः। द्र0- वही, 2.25, पृ. 188
22. सत्यरत्नकर्मफलाभिसम्प्रत्यय इत्यपरे। द्र0- वही, 2.25, पृ. 188
23. वीर्यं चेतसोऽभ्युत्साहः। द्र0- वही, 2.25, पृ. 181
24. स्मृतिरालम्बनासम्प्रमोषः। द्र0- वही, 2.24, पृ. 187
25. उपपरीक्ष्ये वस्तुनि चित्तस्यैकाग्रता। द्र0- वसुबन्धु, पञ्चस्कन्धप्रकरण, आर्यभाषा संस्थान, प्रथम संस्करण, वाराणसी, 1.36
26. प्रज्ञाधर्मप्रविचयः। द्र0- अभिधर्मकोशभाष्य, 1.2, पृ. 11
27. (क) मनसुखसौमनस्योपेक्षा, श्रद्धादीनि च पञ्च-तानि नवेन्द्रियाणि त्रिषु मार्गेषु त्रीणीन्द्रियाण्युच्यन्ते-दर्शनमार्गे अनाज्ञातमाज्ञास्यामीन्द्रियम्। द्र0- वही, 2.9, पृ. 148
    (ख) किं कारणम् ? दर्शनमार्गे अनाज्ञातमाज्ञातुं प्रवृत्तः। द्र0-वही।
28. (क) भावनामार्गे आज्ञेन्द्रियम् । द्र0-वही।
    (ख) भावनामार्गे नास्त्यपूर्वमाज्ञेयं तदेव त्वाजानाति शेषानुशयप्रहाणार्थम् । द्र0- वही।
29. (क) अशैक्षमार्गे आज्ञातावीन्द्रियमिति। द्र0-वही।
    (ख) अशैक्षमार्गे त्वाज्ञातमित्यवगम आज्ञातावः, सोऽस्यास्तीति आज्ञातावी। आज्ञातमवितुं शीलमस्येति वा क्षयानुत्पादिज्ञानलाभात् । द्र0-वही।

●

सामाजिक मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' कृत प्रबंधकाव्य 'उर्मिला' का समीक्षात्मक अध्ययन

शैलेश कुमार एवं प्रो0 श्रीनिवास पाण्डेय***

सामाजिक मूल्य और मूल्य (मानवीय मूल्य) वस्तुतः अन्योन्याश्रित हैं अतः सर्वप्रथम 'मूल्य' शब्द के अर्थ को समझना आवश्यक है। शब्दोत्पत्ति की दृष्टि से देखा जाए तो 'मूल्य' शब्द की संरचना संस्कृत के 'मूल' धातु से 'यत्' प्रत्यय लगाने पर हुई है, जिसका तात्पर्य कीमत या मजदूरी होता है। मानवीय व्यवहार में 'मूल्य' शब्द का तात्पर्य मानव-आचरण के निर्देशक और नियंत्रक तत्व से है जिसके पालन द्वारा जीवन में व्यवस्था और संगति आती है। इन मूल्यों का उल्लंघन जीवन में विभिन्न समस्याओं और असन्तुलन को आमन्त्रित करता है। अतः मानवीय मूल्यों का पालन और उनकी रक्षा मानवजीवन की अनिवार्य शर्त है।

मूल्यों का संबन्ध मानव और मानवसमाज से है। सामाजिक प्राणी होने के नाते व्यक्ति समाज में रहकर जीवन जीता है। व्यक्ति के जीवन की दिशा उसकी वर्तमान आवश्यकताएँ, उसके सामाजिक-भौतिक परिवेश, उसकी आस्थाएँ, उसके विश्वास जैसे तत्वों से निर्धारित होती है। जीवन को सम्यक् एवं संयमित ढंग से चलाने के लिए विचारकों ने ऐसा अनुभव किया कि जीवन के लिए कुछ मापदंड होने चाहिए। उन्हीं के सन्दर्भ में मूल्यों की बात की जाने लगी और जीवन की आन्तरिक, बाह्य आवश्यकताओं के आधार पर कुछ कसौटियां बनाई गईं। ये कसौटियां या मान्यताएं ही मूल्य हैं। दूसरे शब्दों में, मूल्य, जीवन को अर्थवत्ता प्रदान करने वाला दृष्टिकोण है। इस दृष्टि से मानव ही सभी मूल्यों का आदि और अंत है। वास्तव में, मूल्यों का स्वरूप जानने की एकमात्र कसौटी मानवता की भावना है। मानवता सभी मूल्यों का समष्टिवाची शब्द है।

मूल्य की कल्पना मानव को उसको पूर्ण अस्तित्व में स्वीकार करके ही की जा सकती है, क्योंकि मूल्य की स्थिति किसी वस्तु में न होकर मानव में है। मानव ही मूल्यों का निर्धारण करता है और उसी की आवश्यकताओं के अनुसार मूल्य बनते, बिगड़ते रहते हैं। मूल्य कोई मूर्त वस्तु नहीं जिसे हम देख सकें, बल्कि मूल्य अपने में एक धारणा (कन्सेप्ट) है, एक अनुभव है। कोई भी वस्तु मूल्यवान हो सकती है। मूल्य अमूर्त है जिसे वह अनुभव के स्तर पर जीता है। डॉ0 जगदीश गुप्त का कहना है कि ''तत्त्वतः सभी मूल्य मानवमूल्य हैं, चाहे वे नैतिक हों, चाहे सौन्दर्यपरक मूल्य या कोई और, पर विशेष अर्थ में मानव मूल्यों का तात्पर्य उन मूल्यों से है जो मानव के आन्तरिक सहज स्वरूप के सबसे निकट प्रतीत होते हैं तथा उसके संवेदनात्मक व्यक्तित्व से सबसे अधिक सीधे और गहन रूप से सम्बद्ध हैं। उनकी विशेषता इसी में है कि मानवीय संवेदनाओं की उनमें मुक्त और उदार स्वीकृति है। जीवन में उन मूल्यों की प्रतिष्ठा का अर्थ मानवता एवं मानवीयता की प्रतिष्ठा है। उनके बिना मानव अस्तित्व निरर्थक है। इससे भिन्न रूप में 'मानव-मूल्य' की कल्पना मैं नहीं कर पाता हूँ।''[1]

सामाजिक मूल्य और मूल्य (मानवीय मूल्य) वस्तुतः अन्योन्याश्रित हैं। मनुष्य स्वभावतः एक सामाजिक प्राणी है। अतः जन्म लेते ही मनुष्य को समाज की आवश्यकता पड़ती है। चूँकि मनुष्य की सामाजिक, मानसिक एवं भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति समाज में रहकर ही संभव है इसलिए समाज से इतर मनुष्य के सहज जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती। सामाजिकता ही वह तत्व है जो मनुष्य को सृष्टि में वैशिष्ट्य प्रदान करता है। मनुष्य की सामाजिकता का विकास करने वाले प्रतिमान ही सामाजिक मूल्य कहलाते हैं।

सामाजिक मूल्यों से तात्पर्य है - ऐसे मूल्य जो मानव को समाज की समस्त परिधि की कल्याण-भावना से जोड़ते हैं। ये मूल्य मानव मात्र के होने के कारण व्यष्टि का सम्पूर्ण विकसित स्वरूप तो सामने लाते ही हैं साथ ही समाज को भी अग्रसर एवं ऊपर उठाने का कार्य करते हैं। ये मूल्य स्वार्थ की परिधि से परे होकर सम्पूर्ण जाति, राष्ट्र एवं मानवता के लिए सार्थक भूमिका अदा करते हैं। ऐसे प्रमुख सामाजिक मूल्य हैं- राष्ट्रीयता, अधिकार एवं कर्तव्य, सामाजिक व्यवस्था, कर्म की सर्वोच्चता का प्रतिपादन, पारिवारिक जीवन, प्रणय, नारी-गौरव, लोक-कल्याण, परोपकार, करुणा, दया, विश्वबंधुत्व और अन्तर्राष्ट्रीयता, वर्णभेद एवं जाति-प्रथा का विरोध इत्यादि। चूँकि मानवीय मूल्यों का व्यवहार जगत समाज ही होता है। अतः सामाजिक मूल्यों का कलेवर अन्य मानवीय मूल्यों से बड़ा होना स्वाभाविक ही है।

साहित्य मूलतः मानवीय मूल्यों का संवाहक है। यदि उसके प्रति उदासीनता है तो यही चीज उसे मूलभूत चेतना से काट देती है। अतः किसी भी रचनाकार का यह दायित्व है कि वह मानवीय गरिमा के प्रति संवेदनशील रहकर मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा करे। काव्य में मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा द्वारा सुखद मानव-भविष्य की आशा की जाती है। बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' कृत 'उर्मिला' प्रबन्ध काव्य ऐसी ही रचना है, जिसमें मानवीय मूल्यों (सामाजिक मूल्यों) की अभिव्यक्ति हुई है। मानवीय मूल्य युग सापेक्ष होता

* शोध-छात्र, हिन्दी विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी 221005

** प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी 221005

है। अतः युगानुरूप ही उनकी अभिव्यक्ति अभीष्ट है। इसमें कवि के द्वारा पौराणिक आख्यान (उर्मिला) के माध्यम से मूल्य-पुनरन्वेषण और पुनः स्थापना का स्पष्ट संकेत है।

'नवीन' कृत 'उर्मिला' छः सर्गों में आबद्ध चरित्र प्रधान काव्य है जिसमें जीवन की युगानुरूप व्याख्या हुई है। हालांकि कृति का कथानक प्राचीन युग की देन अवश्य है, किन्तु उसमें आधुनिक युग की भावनाओं को स्थान-स्थान पर मुखरित होने का अवसर मिला है। कवि ने एक ओर जहाँ भारतीय संस्कृति के प्राचीन आदर्शों को 'उर्मिला' काव्य में योजित किया है, वहीं दूसरी ओर वर्तमान युग की विविध विचारधाराओं और भाव-समष्टियों के बीच सुन्दर समन्वय भी स्थापित किया है।

निस्सन्देह 'उर्मिला' प्रबन्धकाव्य में स्थल-स्थल पर वर्तमान की प्रतिध्वनियाँ सुनी जा सकती हैं और इस प्रकार यह काव्य अतीत के पटल पर वर्तमान के चित्र सा प्रतीत होता है। 'नवीन' अपनी प्राचीन संस्कृति के प्रति आस्थावान रहे हैं, इसलिए अतीत के गौरवगान के साथ-साथ अपने युग की संवेदनाओं को उन्होंने 'उर्मिला' काव्य में समुचित स्थान दिया है।

किसी भी समाज को सुचारु रूप से तथा अनुशासित ढंग से चलाने के लिए एक व्यवस्था की आवश्यकता होती है जिसे 'वर्ण-व्यवस्था' कहा जाता है। भारतीय समाज में वर्ण-व्यवस्था वैदिक काल से ही दिखाई देती है। मनु आदि स्मृतिकारों ने समाज को चार वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) में विभाजित किया। यह व्यवस्था मूलरूप से कर्म अर्थात् व्यवसाय और गुणों पर आधारित थी। 'श्रीमद्भगवद्गीता' में कहा गया है, ''चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।''[2] अर्थात् प्रकृति के तीनों गुणों और उनसे सम्बद्ध कर्म के अनुसार मेरे द्वारा मानव समाज के चार विभाग रचे गये। अतः प्रारम्भ में इसमें ऊँच-नीच का कोई भेद-भाव नहीं था परन्तु आगे चलकर इसमें विकृतियाँ पैदा हुईं और इसने जातिगत रूप धारण कर लिया। वर्ण-व्यवस्था का आधार कर्म के स्थान पर जन्म हो गया। श्री रघुराज शरण शर्मा के अनुसार - ''वर्ण-व्यवस्था को अन्याय मूलक बताने का एक प्रधान कारण यह भी है कि हम इसके विशुद्ध रूप को न समझकर उसके वर्तमान विकृत रूप को लेकर ही आलोचना करते हैं। वर्ण और जाति में अन्तर है। मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार वर्ण चार ही हो सकते हैं और जातियाँ हजारों और लाखों। सामाजिक संचालन के लिए चार बल या शक्तियाँ अपेक्षित हैं - शास्त्रबल, शक्तिबल, धनबल और सेवाबल। इन शक्तियों में ही विश्व के सभी मनुष्य अपनी प्रवृत्ति के अनुसार विद्वान, सैनिक, व्यवसायी और साधारण सेवक बनकर अपनी सेवा समाज को प्रदान करते हैं। भारतीय संस्कृति की यह अपनी विशेषता है कि उसने अपनी सामाजिक रचना को वैज्ञानिक स्वरूप के साथ आध्यात्मिक स्वरूप भी प्रदान किया जिससे उसमें अपनी सेवायें देने वाले व्यक्तियों में अपने कार्य के प्रति हार्दिक निष्ठा भी हो।''[3]

'नवीन' अपनी प्राचीन संस्कृति के प्रति आस्थावान रहे हैं। उन्होंने वर्ण-व्यवस्था को सामाजिक सुव्यवस्था एवं सुख-शान्ति का आधार माना है, पर इतना निश्चित है कि वे वर्ण-व्यवस्था में ऊँच-नीच की भावना के घोर विरोधी रहे हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि उन्होंने वर्तमान युग में वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत पनपे जातिगत स्वरूप को देखा जिसने पारस्परिक वैमनस्य, विद्वेष आदि भावनाओं को जन्म दिया।

'उर्मिला' में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र इन चारों वर्णों के महत्व को प्रतिपादित करते हुए उनके गुणों एवं कर्मों का चित्रण किया है। उनके अनुसार ब्राह्मण प्रगति-रूपी रथ के सारथी हैं। ये धर्माचारी, तपस्वी, योगाभ्यासी, दृढव्रती, तत्त्वदर्शी मनस्वी हैं। क्षत्रिय अपने पौरुष से देश की स्वतंत्रता को निर्बाध रखते हैं। वैश्य व्यापार एवं कृषि-व्यवसाय में अपने को निमग्न रखते हैं। वे लक्ष्मी-सेवी हैं तथा शूद्र सेवा-धर्म को महत्व देते हैं। इस प्रकार 'नवीनजी' सेवा-धर्म अथवा मानवीय श्रम की प्रतिष्ठा करके शूद्रों की स्थिति को अधिक उच्च गौरव प्रदान करते हैं -

''देते हैं ये सकल जग को गूढ़ शिक्षा सुरम्य,
सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः।''[4]

'परिवार' समाज का प्रमुख अंग है। मानव-जीवन में परिवार का बड़ा महत्व होता है, क्योंकि परिवार के बिना मानव-विकास असम्भव है। समाज का मूल आधार परिवार है, जहाँ मनुष्य परिवार के सदस्यों से अपने सम्बन्ध स्थापित करता है और अपने अधिकार तथा कर्तव्य की शिक्षा ठाहण करता है। जिस परिवार में शान्ति, सौहार्द्र और मैत्री रहता है उसे आदर्श परिवार कहा जाता है। कलह, कटुता, वैमनस्यता और विषमता की नींव पर निर्मित परिवार कभी सुखी-सम्पन्न नहीं हो सकता। हमारे देश की सभ्यता कृषि सभ्यता है जिसकी देन संयुक्त परिवार है। हमारे देश में संयुक्त परिवार को ही आदर्श परिवार माना जाता है। वैज्ञानिक और औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप संयुक्त परिवार विघटन-प्रक्रिया से ग्रस्त हो गये हैं।

ऐसी ही स्थितियों में आधुनिक रामकाव्य में पारिवारिक जीवन का चित्रण किया गया है। ''जहाँ, अति व्यक्तिवादी और अति समाजवादी प्रवृत्तियों ने परिवार के अस्तित्व पर ही एक प्रश्न चिन्ह लगा दिया है वहां इन कवियों ने दाम्पत्य के आदर्श को दृढ़ भित्ति प्रदान की है और उसे जीवन की पूर्णता का श्रेष्ठतम आधार निरूपित किया है। उन्होंने वासना या ऐन्द्रिक सुख को ही दाम्पत्य का पृष्ठाधार नहीं माना वरन् दाम्पत्य जीवन की सफलता के लिए काम निग्रह और संयम की महत्ता स्वीकार की है।''[5] स्त्री और पुरुष परिवार के प्रारम्भिक बिन्दु हैं उन्हीं से परिवार का निर्माण होता है। जब तक उनमें परस्पर समझदारी, प्रेम और एक दूसरे के अभाव-अभियोग को सहानुभूतिपूर्ण से देखने की स्थिति उत्पन्न नहीं होगी तब तक परिवार सुखमय नहीं हो सकता।

आलोच्य कृति 'उर्मिला' में प्राचीन भारतीय आदर्श को ही स्थापित किया गया है जिसके अनुसार पत्नी अपने को पति को समर्पित करती है और दिन-रात उसकी सेवा करती रहती है। पति-सेवा ही उसके जीवन का आदर्श हो जाता है। 'नवीन जी' की उर्मिला के लिए लक्ष्मण परम गति, परम ब्रह्म, ज्ञान-रूप, भूदेव, स्वामी सब कुछ हैं-

''तुम मेरी शुद्ध निष्ठा, प्रिय, तुम मेरी परमगति हो
तुम मम ज्ञान राशि तुम मेरी पावन परम ब्रह्म रति हो।
तुम हो मेरी प्रेम पूर्णता, तुम मेरी आध्यात्मिकता
तुम मेरे आराध्य देव हो, तुम मेरी तात्विकता।''[6]

उक्त कथन में पत्नी को अस्तित्वहीन बनाकर पुरुष को सर्वे-सर्वा बनाने की कोशिश की गयी है। कवि की उर्मिला के लिए लक्ष्मण परम गति, परम

ब्रह्म, ज्ञान-रूप, भूदेव, स्वामी सभी कुछ हैं। ऐसी दशा में स्त्री का अस्तित्व नगण्य हो जाता है। दरअसल आधुनिक युग में स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध समतावादी होना चाहिए, किन्तु इसके विपरीत अधिकांश कवियों ने पति को ही सर्वोच्च शिखर पर आरूढ़ किया है। यद्यपि 'नवीनजी' की उर्मिला का उक्त कथन इसी बात की ओर संकेत करता है। फिर भी पत्नी का यह समर्पण यदि अहंवादी न बनाये, बल्कि एकनिष्ठता की ओर अठासर करे और पति को पत्नी के प्रति आदरभाव जगाये तो यह समर्पण लाभप्रद हो सकता है।

लेकिन वास्तविकता यह है कि पति ही श्रेष्ठ क्यों, यदि कोई पत्नी सर्वगुण सम्पन्न, चरित्रवान और विदुषी हो तो पति उसका आदर क्यों न करे। ऐसी पत्नी निश्चित रूप से श्रेष्ठ है। असल में पत्नी को पति के योग्य बनना चाहिए और पति को पत्नी के योग्य। दोनों में भावगत और बौद्धिक साम्य होना चाहिए। पत्नी केवल भोग्या नहीं है, वह पति की स्वामिनी, प्रियतमा, शक्तिरूप अराध्या, सखा-सहेली, मार्गदर्शक, मंत्रिणी और प्रेरणा-स्रोत है। 'नवीन' लक्ष्मण और उर्मिला के प्रति अपनी धारणा निम्नलिखित रूप मे व्यक्त करते हैं-

''तुम हो जागरूकता मेरी निद्रित - सम्मोहन क्षण की,
तुम हो मेरी सखा-सहेली, मेरे इस जीवन-रण की।''[7]

'उर्मिला' काव्य में संयुक्त परिवार की भारतीय पद्धति को ही स्वीकृति दी गयी है और उसी के समुचित विकास पर बल दिया गया है। इस परिवार में माता-पिता, पति-पत्नी, पुत्र-वधू, भाई-बहन, सेवक-स्वामी, पशु-पक्षी इत्यादि सभी सम्मिलित हैं। इन सबके बीच क्या सम्बन्ध होना चाहिए, इनका एक दूसरे के प्रति क्या कर्तव्य और दायित्व होता है और किस तरह परिवार सुखी, समृद्धशाली बन सकता है आदि विषयों का निरूपण बड़े व्यापक और विविध स्तर पर किया गया है।

'उर्मिला' काव्य में देवर-भाभी और ननद-भाभी के प्रेममय सम्बन्धों की सजीव व्याख्या की गयी है। देवर और भाभी के सम्बन्ध वात्सल्य और श्रृंगार के मध्य स्थित रहता है। जिसमें पवित्रता और मर्यादा के साथ-साथ 'हास-परिहास' का पुट मिला रहता है। उनकी पारस्परिक छेड़-छाड़, आदर, स्नेह में सात्विक भाव होता है। यह सम्बन्ध पारिवारिक जीवन के तनाव, कटुता और ऊब के बीच एक सामान्य स्थिति पैदा करता हैं। सीता-लक्ष्मण के 'हास-परिहास' में कवि ने सीता को सामान्य नारी की भाँति हास-परिहास करते हुए दिखाया है-

''मेरी विमल उर्मिला को तुम खूब प्यार करलो, देवर,
कहाँ मिलेंगे चौदह वर्षो तक फिर ये मधुर-मधुर अधर ?''[8]

आधुनिक कवि जीवन को यथार्थ संदर्भों की व्यापकता में ग्रहण करता है। मर्यादावाद अथवा भक्ति के आग्रह के कारण वह जीवन के रसमय प्रवृत्तिमूलक संदर्भों की उपेक्षा नहीं करता। आधुनिक रामकाव्य में बनवास-पूर्व राम एवं सीता की मधुचर्या का उल्लेख तो कवियों ने किया ही है, उर्मिला-लक्ष्मण तथा भरत-माण्डवी के 'प्रणय-चित्रों' का अंकन कर उन्होंने उपेक्षित पात्रों के अस्तित्व को अधिक गहनता एवं व्यापकता प्रदान की है। गार्हस्थ जीवन के इस चित्रण के माध्यम से कवियों ने पारिवारिक जीवन की संश्लिष्टता, स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की अनुकूलता तथा आगामी घटनाओं के पूर्वाभास की संभावना के रूप में उपयोग किया है। ऐसे 'प्रणय-चित्र' भोक्ता की अंतः संज्ञा में निबद्ध रहकर स्मृति-चित्रों के रूप में बार-बार उद्‌बुद्ध होते रहते हैं। वियोग के क्षणों में उनकी स्मृति कभी-कभी परितोष प्रदान करती है तो कभी वैषम्य के आधार पर अन्तर्दाह का संचार भी करती है। 'नवीन' ने 'उर्मिला' काव्य में उर्मिला को गरिमा एवं महत्ता प्रदान करने के लिए उर्मिला-लक्ष्मण की प्रणय-लीलाओं का स्मृति-चित्रों के रूप में अंकन कर, ऐसे अनेक प्रसंगों की उद्भावना की है, जिनके द्वारा वे अपनी काव्य-नायिका के वैवाहिक जीवन की पूर्ण झाँकी दिखा सकें।

आलोच्य कृति 'उर्मिला' में उर्मिला का प्रेम एक आदर्श भाव के रूप में उभरकर सामने आता है। सम्पूर्ण काव्य में उर्मिला का प्रेम ही विस्तार पाता है। कवि ने केवल शारीरिक आकर्षण अथवा वासना के आधार पर प्रेम-चित्रण नहीं किया, अपितु उसे ऐसे दो हृदयों का मधुर-मिलन माना है, जिसमें व्यक्ति पृथक सत्ता खो देता है। उर्मिला का लक्ष्मण के प्रति प्रेम, केवल लक्ष्मण तक ही सीमित नहीं है, अपितु वह सम्पूर्ण लोक तक विस्तार पाता है। यही कारण है कि वह राजमहल में रहकर विरह-वेदना से आलिंगन करने के लिए तत्पर है, क्योंकि वह जानती है कि लक्ष्मण का वन-गमन मानवता के मंगल हेतु है -

''मानवता किमी पावती, ये अमोल उपहार,
यदि न उर्मिला सदन में, हो तो हाहाकार?''[9]

'नवीन' की दृष्टि में 'प्रणय' मानव-हृदय का उदात्त भाव रहा है। इस सन्दर्भ में सद्‌गुरु शरण अवस्थी का कथन सर्वथा सुसंगत प्रतीत होता है कि, ''प्रणयानुभूति की तीव्रता के कारण, चाहे उनकी कवि में मांसल भावुकता अथवा 'दरस-परस' की चाह अभिव्यक्त होती रही है, तथापि उनकी चिन्तन शक्ति ने प्रेम को वासनाजन्य स्वीकारते हुए भी शुद्ध प्रेम-भाव में वासनातिरेक को छूने तक नहीं दिया।''[10] कवि की दृष्टि में वही प्रेम पूर्ण शुद्ध है, जिसमें वासना दूर-दूर तक दिखाई न दे-

''प्रिय स्नेह को बरत, जहाँ पुण्य दीप अविराम,
तहाँ अन्धतम वासना, रहत न एकौ याम।''[11]

कहने की आवश्यकता नहीं कि 'नवीन' 'प्रणय' को सृष्टि-परिधि का केन्द्र बिन्दु स्वीकार करते थे।

'नारी-गौरव' भारतीय समाज का एक विशिष्ट सामाजिक मूल्य है। भारतीय समाज में नारी को आदरणीय मानने की प्रवृत्ति रही है। 'मनुस्मृति' में नारी-गौरव की महत्ता निम्नलिखित रूप में व्यक्त की गयी है, ''यत्र नार्यस्तु पूज्यते रमन्ते तत्र देवता।'' कालान्तर में नारी का यह गौरवपूर्ण स्थान खंडित हो गया। वह भोग्या और दासी मानी जाने लगी। परन्तु वर्तमान युग में नारी-जागरण आन्दोलन के फलस्वरूप नारी-गौरव को फिर से सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त हुई और उनमें कर्मण्यता, निर्णय-क्षमता, वीरत्व तथा समत्व इत्यादि का स्पष्ट उल्लेख किया गया।

'नवीन' में नारी-गौरव की प्रतिष्ठा की भावना बलवती रही है। उन्होंने आलोच्य काव्य 'उर्मिला' में नारी के प्रति पूर्ण आस्था, श्रद्धा एवं भक्ति-भावना को भरकर उसे गौरवशाली रूप प्रदान किया। 'उर्मिला' काव्य में उर्मिला एक ओर गृहस्वामिनी के रूप में गृह-व्यवस्था की संचालिका है -

''मैं गृह भी हूँ, गृह स्वामिनी भी हूं, घर की रखवालिन हूं
मैं हूं अपने घर की रानी निज उपवन की मालिन हूं।''[12]

तो दूसरी ओर वह भारत की ललनाओं को आह्वान करती है - ''कहे न कोई आर्य-देश की ललनायें कायर हैं।''[13] इसी प्रकार सीता के कथन में सामाजिक चेतना और मुक्ति की कामना व्यक्त हुई है -

''कौन हृदय है जो कि न उबले निज विकास की क्षति में?
कौन आँख है देख सके जो माँ को इस दुर्गति में?''[14]

'नवीन' के ये विचार समसामयिक राष्ट्रीय आन्दोलन से प्रेरित हैं जिनमें स्त्रियाँ व्यापक रूप में सहभागी हुई थीं। उस समय स्त्रियों ने यह सिद्ध कर दिया था कि एक ओर वे गृह सेविकायें हैं तो दूसरी ओर राष्ट्र-सेविकायें भी हैं। वे मात्र परम्परागत 'अबला' संज्ञा से विभूषित नहीं हैं।

नारी विश्व की आधार है। वह आदि शक्ति रूपिणी और कल्याणमयी है। 'नवीन जी' नारी के इस रूप के प्रति श्रद्धा विगलित होकर कहते हैं-

''तुम हो महद् ब्रह्म मयि, जननी तुम हो ईश भक्ति रूपा
तुम जग की आधारभूत हो, तुम हो आदि शक्ति रूपा।''[15]

'नवीन' का विचार है कि नर एवं नारी में व्यक्त रूप में ही भेद है, अव्यक्त रूप में दोनों का अस्तित्व एक ही है। जीवन की सुगति इसमें है कि नर-नारी हो और नारी-नर हो। नारी के सदय हृदय से ही पुरुष को विश्व-वेदना की अनुभूति हो सकती है-

''देवि नरोत्तम है वह जिसमें हो नर-नारी का मिश्रण,
ऐसे ही नर-वर भरते हैं, जग का स्रावित वेदना व्रत।''[16]

डॉ0 शम्भूनाथ सिंह की स्थापना है कि, ''महाकाव्य की जीवनी-शक्ति इस बात पर निर्भर करती है कि वह समाज को कितनी शक्ति, कितना साहस और जीवन को कितनी उमंग तथा आस्था प्रदान करती है। महाकवि जब अपनी सप्राणता को महाकाव्य में जीवन्त रूप से उतारता है तभी महाकाव्यों में वह सशक्त सप्राणता आ पाती है, जो युग-युग तक समाज को शक्ति और प्रेरणा प्रदान कर सकती है।''[17] इस दृष्टिकोण से 'उर्मिला' काव्य सप्राण एवं सशक्त कृति है, जिसमें युग-युगान्तरों के लिए जीवनी शक्ति तथा शाश्वत सन्देश भरे पड़े हैं।

इसी मूल प्रतिपाद्य को ध्यान में रखते हुए उन्होंने काव्य में लोक-कल्याणकारी विमल भावनाओं की अन्तः सलिला के प्रवाह से मानव-मन का संस्कार माना है और इसीलिए लिखा है कि, ''मेरे निकट सत् साहित्य का एक ही मानदण्ड है। वह यह कि किस सीमा तक कोई साहित्यिक कृति मानव को उच्चतर, सुन्दरतर, अधिक परिस्कृत एवं समर्थ बनाती है।''[18] इसलिए 'नवीन' काव्यानुभूति को चिन्तन और कल्पना का फल मानकर उसे लोक-कल्याणमयी भावों की सशक्त अभिव्यक्ति करना चाहते हैं।

आलोच्य कृति 'उर्मिला' में 'लोक-मंगल' भावों का सुन्दर समायोजन हुआ है। इसके सभी प्रमुख पात्र लोक-मंगल की भावनाओं को ही सर्वोपरि मानकर, अपने कर्तव्य पथ से ऊपर उठकर, बलिदानी भावों को प्रश्रय देते हैं। कवि ने कृति के प्रारम्भ में ही यह उल्लेख कर दिया है कि राम-लक्ष्मण-सीता की वन-गमन की यात्रा के पीछे लोक-मंगल की भावना ही सर्वोपरि है। लक्ष्मण स्वयं उर्मिला से वन-गमन का उद्देश्य बताते हुए, लोक-रंजक भावों से महिमा मण्डित हो कह उठते हैं-

''सकल लोक-रंजन, जन-मन के
सम्मार्जन का कार्य, प्रिये,
इस से कैसे मुख मोड़े हम,
धर्मोत्प्राणित आर्य प्रिये।''[19]

इन पंक्तियों में एक साथ 'लोक-मंगल' की भावना, 'कर्तव्य-बोध' और 'धर्म की महत्ता' का भाव प्रस्फुटित हो रहा है।

कवि ने लोक-मंगल के आदर्शों को 'उर्मिला' काव्य में मूर्त रूप दिया है। उनके राम आदर्श राम हैं जो न तो भौतिकवादी हैं, न भूमि-अर्जन-लोभी। उनके कर्म तो सदा-सर्वदा लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित रहे हैं -

''राम नहीं भौतिकवादी, सत्य सन्ध श्रीराम सदा,
नहीं भूमि-अर्जना-लोभी वे, हैं अलिप्त निष्काम सदा,
सदा लोक-कल्याण-भावना-प्रेरित पुण्य कर्म उनका,
आत्यन्तिक संन्यास स्वार्थ का, बना स्वभाव धर्म उनका।''[20]

आलोच्य कृति 'उर्मिला' में 'युग-चेतना' का भाव भी प्रवहमान है। निवृत्तिमूलक जीवन-दर्शन के स्थान पर प्रवृत्ति के महत्व की स्वीकृति आधुनिक दृष्टि है। जिसके अनुसार जीवन में 'कर्म' और 'संघर्ष' अनिवार्य है 'नवीन' ने भी जीवन की चेतना को प्रवाह और गतिमान माना है। उनके अनुसार जीवन में कर्म और संघर्ष अनिवार्य है इसी से भौतिक जड़वादिता की अभेद दीवार को भेदा जा सकता है -

''जीवन सतत युद्ध है, जीवन-
गति है, है जीवन ऐसा,
है प्रयत्नमय, गुंजन जीवन,
फिर संघर्षण, भय कैसा?''[21]

भारतीय दर्शन में 'गीता' को सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना गया है। जिसमें कहा गया है कि कर्म करो फल की आकांक्षा मत करो। मनुष्य को जीवन क्षेत्र में प्रविष्ट कर निष्काम कर्म करना चाहिए। कर्म से विरति कायरता है। उपरोक्त पंक्तियों में कवि ने इसी मूल्य की सशक्त अभिव्यक्ति की है।

वर्तमान युग 'विवेक' और 'तर्क' का युग है। अन्ध श्रद्धा, अन्ध विश्वास और तर्कहीनता को वर्तमान बौद्धिक युग मान्यता नहीं देता। उर्मिला के कथन में यह बात स्पष्ट है-

''एकान्तिक कर्तव्य नहीं है,
पितुराज्ञा-पालन, प्राणेश,
है उसमें भी काल-परिस्थिति
बन्धन, देश-अवस्था का
करना पड़ता है विचार-निज,
धर्म-स्वकर्म व्यवस्था का।''[22]

कहने की आवश्यकता नहीं कि उर्मिला में नव-युग की चेतना का भाव स्पष्ट सुनाई दे रहा है। डॉ0 लक्ष्मीनारायण दूबे के अनुसार, ''पुरातन-पात्र में नूतन-द्रव्य को उपस्थित किया गया है।''[23] इसमें पूजनीय पात्रों की गरिमा बनाये रखते हुए नूतन के प्रति उत्साह का भाव प्रकट होता है। कहना चाहिए कि आलोच्य काव्य 'उर्मिला' में कवि युग-संवेदना के प्रति सजग रहा है।

'राष्ट्रीयता' आधुनिक युग का एक विशिष्ट मूल्य है। यद्यपि भारत एक प्राचीन देश है और उसकी एक लम्बी परम्परा है इसलिए हमारी राष्ट्रीयता भी

बहुत प्राचीन हुई। हम ''जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी'' पावन मंत्र का कई शताब्दियों से जाप करते आ रहे हैं। इससे ज्ञात होता है कि भारतीय साहित्य के प्रत्येक काल-खण्ड में किसी न किसी अनुपात में राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति हुई है। किन्तु जिस राष्ट्रीयता की चर्चा आज की जाती है वह आधुनिक है, जो विदेशी प्रभुत्व के विरोध-रूप में प्रस्फुटित हुई है। विरोध-भावना को जगाने में तत्कालीन आर्थिक एवं सामाजिक दुर्दशा तथा पश्चिमी शिक्षा का प्रसार, साथ-साथ सहायक हुए। हम कह सकते हैं कि इसी दुर्दशा ने भारतीयों को सचेत किया और पश्चिमी शिक्षा ने स्वतंत्रता और एकता की भावना जगाकर भारतीयों के हृदय में राष्ट्रीयता की ज्योति जला दी।

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' मनसा, वाचा, कर्मणा राष्ट्रीय कवि रहे हैं। उनकी सम्पूर्ण राष्ट्रीय भावना में ओज, पौरुष और विद्रोह का स्वर प्रमुख रहा है। उन्होंने बार-बार भारतवासियों में जागरण और प्रेरणा-भाव भरने का प्रयत्न किया। इस हेतु वे कभी सहलाते हैं, कभी समझाते हैं, कभी दुलराते हैं और कभी अत्याचारी विदेशियों पर अपना विरोध व्यक्त कर ललकारते हैं -

''स्वर्गादपि गरीयसी प्यारी, जन्मभूमि का पल्ला-
खींचा है दुष्टें ने, बोला है स्वदेश पर हल्ला,
कौन हृदय है जो कि न उबले निज समाज की क्षति में?
कौन आँख है देख सके जो माँ को इस दुर्गति में?
आज लहलहाती उपत्यका रक्त धरा से सींचों !
रोष कंपा दे तुम्हे, कोष से खर तलवारें खींचो!
भूखी सिंहिनियों के सम बस टूट पड़ो तुम रण में!
कर दो प्यारी मातृ भूमि की व्यथा दूर तुम क्षण में!''[24]

कहना न होगा कि 'नवीन' ने सोये हुए भारतवासियों को जगाने का काम किया है, उनमें राष्ट्र-प्रेम की भावना, अदम्य शक्ति और अद्‌भुत आत्मविश्वास के भाव भरे हैं।

यद्यपि वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना की स्थापना प्राचीन भारतीय मनीषियों ने की थी और सम्पूर्ण पृथ्वी को एक परिवार माना था, किन्तु जिस प्रकार वास्तविक राष्ट्रीयता आधुनिकता की देन है उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीयता भी आधुनिक युग की ही उपज है। आज विश्व एक कमरे में बन्द हो गया है। सभी राष्ट्रों का स्वार्थ एक दूसरे से जुड़ा हुआ है। उपनिवेशवाद की समाप्ति ने अन्तर्राष्ट्रीयता को और प्रबल बनाया। अब राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता में कोई विरोध नहीं रह गया है। राष्ट्रीयता ही वह सोपान है जिस पर चढ़कर हम अन्तर्राष्ट्रीयता तक पहुँच सकते हैं। दोनों एक दूसरे के पूरक हो गये हैं। विश्व कल्याण के लिए संकुचित राष्ट्रीयता का परित्याग आवश्यक है। सही राष्ट्रीयता से अन्तर्राष्ट्रीयता का कोई विरोध नहीं है। हम बिना अन्तर्राष्ट्रीयता की चिन्ता किये अपना राष्ट्रीय उत्थान नहीं कर सकते।

अन्धराष्ट्रीयता का समर्थन अधर्म है, क्योंकि जब तक विश्व कल्याण की कामना नहीं की जाएगी तब तक राष्ट्र का कल्याण असम्भव है। इसीलिए राष्ट्र-धर्म मनुष्य का एकान्तिक धर्म नहीं है। कभी-कभी समूचा राष्ट्र दुष्टता, क्रूरता और शोषण का समर्थक बन जाता है। जिसका परिणाम होता है दूसरे राष्ट्रों पर आक्रमण, रक्तपात युद्ध आदि -

''राष्ट्र धर्म कैसे हो सकता
जन गण का एकान्तिक धर्म?
पक्ष समर्थन सदा राष्ट्र का
हो सकता है निपट अधर्म

x x x

कभी समूचा राष्ट्र दुष्टता-
मय हो जाता है राजन,
कभी देश का सत्य भाव सब,
द्रुत खो जाता है राजन,
जन गण पागल हो उठते हैं,
जग उठता है नाशक भाव
निपट, विकट विक्षिप्त भावना
कर देती है सत्य दुराव।''[25]

अन्ध राष्ट्रीयता किस प्रकार विश्व-विनाश का कारण बनती है यह उपरोक्त पंक्तियों में स्पष्ट दिखाई पड़ता है। राष्ट्रीयता के नाम पर ही नाजीवाद का अभ्युत्थान हुआ जिसने विश्व को दो-दो महायुद्धों में झोंक दिया। संयुक्त राष्ट्र संघ का निर्माण इन युद्धों के बाद ही हुआ। इस अन्तर्राष्ट्रीय संगठन ने अन्तर्राष्ट्रीयता को महत्व दिया। इसके पहले ऐसा कोई संगठन नहीं था जो विश्व के सभी राष्ट्रों को एकसूत्र में आबद्ध कर सके। संयुक्त राष्ट्र संघ का गठन इस बात को प्रमाणित करता है कि आज हम राष्ट्रीय युग में नहीं, बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय युग में रह रहे हैं। आज सभी व्यक्ति एक विश्व के नागरिक हैं, राष्ट्र के ही नहीं। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को अपने 'स्व' को विश्व स्तर पर विकसित करना है। बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने इस तथ्य की बड़े ही मार्मिक शब्दों में अभिव्यक्ति की है -

''हैं जग के नागरिक सभी हम,
सब जग भर यह अपना है।
सीमित देश विदेश कल्पना,
मिथ्या भ्रम का सपना है।
देश काल का अतिक्रमण कर
बनना हमको विजयी
फिर क्यों खींचे हम अपनी यह
सीमा-रेखा नयी-नयी।''[26]

कहना न होगा कि कवि 'नवीन' ने उपरोक्त पंक्तियों में राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता का समन्वय किया है।

किसी भी राष्ट्र का सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास सुव्यवस्थित एवं सुदृढ़ 'शासन व्यवस्था' पर आधारित होता है। मनुष्य के सभ्यताकाल से ही शासन व्यवस्था उदित हुई है और समय-समय पर अपना स्वरूप बदलती हुई विकसित होती रही है। आधुनिक युग में लोकतांत्रिक व्यवस्था को सर्वाधिक प्रासंगिक माना गया है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि आधुनिक युग जनतांत्रिक मूल्यों का युग है। अतः आधुनिक कवियों ने प्राचीन रामकाव्य में वर्णित राजतंत्र को आधुनिक जनतंत्रवादी भावनाओं से अनुरंजित करके प्रस्तुत किया है। इस रूप में राजा और प्रजा के कर्तव्य का निर्देश, राज्यलिप्सा और साम्राज्यवाद की निन्दा, राज्य को प्रजा की धरोहर मानना इत्यादि के द्वारा राजतंत्र को जनतंत्र के रूप में चित्रित किया गया है।

'उर्मिला' काव्य में कवि ने शासन व्यवस्था के बारे में बहुत विस्तार से

कुछ नहीं लिखा है, किन्तु राजा जनक की शासन व्यवस्था पर थोड़ा बहुत प्रकाश डाला है जिससे प्रतीत होता है कि वे भी प्रजातंत्र के ही समर्थक हैं। कवि का मत है कि किसी भी राष्ट्र का वास्तविक संचालन मंत्रियों पर ही निर्भर होता है। राजा जनक के शासन व्यवस्था को संचालित करने के लिए एक मंत्रिमण्डल है। यह मंत्रिमण्डल विभिन्न विभागों के कार्य संचालित करता है। जब तक मंत्रिमण्डल के सदस्य निःस्वार्थ और निष्ठावान सेवक नहीं होंगे तब तक सही लोकतंत्र कायम नहीं हो सकता। राजा जनक का मंत्रिमण्डल विविध गुणों से युक्त है-

''श्रीमान् मन्त्री -गण सकल हैं कार्य में पूर्ण दक्ष
निःस्वार्थी हैं सतत रखते राज्य-सेवा समक्ष,
धर्म-प्राणा सबल जनता की मनोकामनायें
होती पूरण सकल सुप्रजा की मनोभावनायें।''[27]

कवि की मान्यता है कि राज्य किसी की व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं है। वही राज्य का वास्तविक अधिकारी है जो लोकाराधन को स्वीकार कर प्रजा के हितार्थ कार्य करता है। राज्य का अर्थ ही होता है प्रजा या जनता की सुख-सुविधा का ध्यान रखना। आधुनिक लोकमत भी इसी प्रकार का है। उर्मिला कहती है-

''राज नहीं कैकेयी का यह, दशरथ का न स्वराज यहाँ,
जन गण मनरंजन कर्ता ही होता है अधिराज यहाँ॥''[28]

'नवीन' के युग में गांधीवादी विचारधारा (अहिंसा, सत्याग्रह, साम्राज्यवाद का विरोध आदि) का खूब बोल-बाला था, इसलिए इस विचारधारा का प्रभाव भी इस कृति पर पड़ता है। महात्मा गांधी अंग्रेजी साम्राज्यवाद के प्रारम्भ से ही विरोधी रहे हैं और यही मनोवृत्ति हमें आलोच्य कृति 'उर्मिला' के राम में परिलक्षित होती है। ये राम भी साम्राज्यवाद के विरोधी हैं -

''है साम्राज्यवाद का नाशक,
दशरथ-नन्दन राम सदा,
है भौतिकता-वाद विनाशक,
जन-मन-रंजन राम सदा।''[29]

स्पष्टतः आधुनिक युग की जनतांत्रिक पद्धति का समर्थक कवि साम्राज्यवादी नीति को किसी भी अर्थ में निंदनीय मानता है। इस प्रकार राम के सन्दर्भ से कवि ने युगानुरूप चेतना के अनुसार शोषणवाद एवं साम्राज्यवाद के विरुद्ध शंख फूकने का भाव व्यक्त किया है। कवि की युगानुरूप चेतना के सन्दर्भ में डॉ0 देवीप्रसाद गुप्त का मत है कि, ''उर्मिला महाकाव्य में अहिंसा, सत्याठाह, साम्राज्यवाद का विरोध आदि गांधीवादी विचाराधारा के मूलभूत सिद्धान्तों को स्वीकार किया गया है।''[30]

निष्कर्षतः सामाजिक मूल्यों की दृष्टि से बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' कृत 'उर्मिला' काव्य सम्पन्न है। उसकी रूपगत विशेषता (प्रबंध-रचना) के फलस्वरूप उसमें युगीन संवेदना, मूल्यगत संक्रमण, नवनिर्मित मूल्य बोध, युगीन यथार्थ एवं संघर्षशील मानव की अवस्था अपने समस्त संदर्भों और सरोकारों के साथ अभिव्यंजित हुई है। इस काव्य में अभिव्यंजित सामाजिक मूल्यों के फलक की व्यापकता का अनुमान इस बात से भी लगाया जा सकता है कि इसमें पारिवारिक स्तर से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के सामाजिक मूल्यों को स्थान मिला है। यथा-वर्णभेद एवं जाति-प्रथा का विरोध, पारिवारिक जीवन, अधिकार एवं कर्तव्य, परोपकार, करुणा, प्रणय, नारी-गौरव, लोक-कल्याण, कर्म की सर्वोच्चता का प्रतिपादन, विवेक और तर्क, राष्ट्रीयता, विश्वबंधुत्व और अन्तर्राष्ट्रीयता, शासन व्यवस्था, अहिंसा, साम्राज्यवाद का विरोध इत्यादि। यह उल्लेखनीय है कि इस काव्य में अभिव्यक्त सामाजिक मूल्य मूलतः भारतीय हैं। इन सामाजिक मूल्यों में न तो पूर्णतः अतीतजीवी होने का भाव है और न रूढ़िवादी संकीर्णता है अपितु जीवन को उसकी सम्पूर्णता में देखने और व्यंजित करने का प्रयत्न 'उर्मिला' काव्य की विशिष्टता है। 'मानवता' की प्रतिष्ठा 'उर्मिला' काव्य का केन्द्रीय विषय है जिस पर चलकर हम आदर्श समाज की संरचना कर सकते हैं।

सन्दर्भ सूची-

1. डॉ0 जगदीश गुप्त : नयी कविता : स्वरूप और समस्याएँ, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, संस्करण सन् 1971, पृ0-12-13
2. श्रील प्रभुपाद : श्रीमद्भागवद्गीता यथारूप, भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट, मुंबई, द्वितीय हिन्दी संस्करण, अगस्त 1999, पृ0-160
3. डॉ0 रघुराज शरण शर्मा : तुलसी और भारतीय संस्कृति, पृ0-220
4. बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' : उर्मिला, अतरचन्द कपूर एण्ड संस, दिल्ली, सं0 सन् 1957, प्रथम सर्ग, पृ0-19
5. डॉ0 परमलाल गुप्त : हिन्दी के आधुनिक रामकाव्य का अनुशीलन, रचना प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र0 सं0 1973 ई0, पृ0-336
6. उर्मिला, तृतीय सर्ग, पृ0-232
7. वही, तृतीय सर्ग, पृ0-188
8. वही, तृतीय सर्ग, पृ0-272
9. वही, पंचम सर्ग, पृ0-486
10. सदगुरू शरण अवस्थी : साहित्य-तरंग, पृ0-135-136
11. उर्मिला पंचम सर्ग, पृ0-451
12. वही, तृतीय सर्ग, पृ0-236
13. वही, प्रथम सर्ग, पृ0-40
14. वही, प्रथम सर्ग, पृ0-41
15. वही, तृतीय सर्ग, पृ0-313
16. वही, षष्ठ सर्ग, पृ0-613
17. डॉ0 शंभुनाथ सिंह : हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप एवं विकास, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, प्र0 सं0, पृ0-16
18. बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' : रश्मिरेखा, साधना प्रकाशन, कानपुर, सन् 1951, भूमिका, पृ0-3
19. उर्मिला, तृतीय सर्ग, पृ0-200
20. वही, षष्ठ सर्ग, पृ0-522
21. वही, षष्ठ सर्ग, पृ0-569
22. वही, तृतीय सर्ग, पृ0-245
23. डॉ0 लक्ष्मीनारायण दूबे : बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' : व्यक्ति एवं काव्य, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, सं0 सन् 1964, पृ0-365
24. उर्मिला, प्रथम सर्ग, पृ0-41
25. वही, षष्ठ सर्ग, पृ0-555-556
26. वही, षष्ठ सर्ग, पृ0-558
27. वही, प्रथम सर्ग, पृ0-21
28. वही, तृतीय सर्ग, पृ0-244
29. वही, षष्ठ सर्ग, पृ0-555
30. डॉ0 देवीप्रसार गुप्त : स्वातनत्र्योत्तर हिन्दी महाकाव्य, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, प्र0 सं0, पृ0-178

राष्ट्रगौरवम् में पर्यावरण-विचार

काजल ओझा[*] एवं प्रो. उपेन्द्र पाण्डेय[**]

राष्ट्रगौरवम् नामक गीति काव्य समकालीन परिस्थितियों से ओत-प्रोत आचार्य उपेन्द्र पाण्डेय द्वारा रचित है, जिसमें विश्वव्यापी चिन्ता को निरन्तरता के साथ देखा जा सकता है। इसमें पर्यावरण विषयक तत्त्वों का साङ्गोपाठ उद्घाटन सूत्र रूप में किया गया है। पर्यावरण हमारे जीवन का अविभाज्य अठ है। इसके बिना जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। यह हमें चारों ओर से आवृत्त किये हुए है। इसी के कवच में हम लोगों का जीवन सुरक्षित है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश के सम्मिलित स्वरूप को पर्यावरण कहा जाता है। जिस पञ्च भौतिक तत्त्वों से हमारा शरीर निर्मित है, उसी पञ्च तत्त्वों से पर्यावरण बनता है। अतः हमारे जीवन में पर्यावरण का विशेष महत्त्व है।

प्राचीन काल में भारत की स्थिति पर्यावरणीय दृष्टि से अत्यन्त सुदृढ़ था। मानव प्रकृति से घुल-मिलकर एक सरसतापूर्ण स्थिति में जीवन व्यतीत करता था, किन्तु वर्तमान की स्थिति अत्यन्त कठप्रद हो चुकी है। दिन-प्रतिदिन पर्यावरण का संकट उत्पन्न हो रहा है, जिसका वर्णन राष्ट्रगौरव में आचार्य ने किया है-

सर्वनद्यो जलैः सम्भृताः स्युस्तथा मातृगावः प्रयच्छन्तु दुग्धाऽमृतम्।
मानवैः पादपा रक्षणीयाः सदा तेषु नश्यत्सु नङ्क्ष्यन्ति सर्वे स्वयम्॥[1]

निःसन्देह कवि का हृदय प्रकृति के पञ्चतत्त्वों में ईश्वरीय वरदान का दिग्दर्शन कर रहा है। इन्हीं भावनाओं से आकृठ होकर निर्देश देते हैं, कि इनका अनावश्यक दोहन मत करो, अपितु कृतज्ञतापूर्वक सदुपयोग करो, अन्यथा सम्पूर्ण सृष्टि संकट में पड़ जायेगी। इसी आशय से कवि स्वकर्त्तव्य के प्रति आकृठ करने का प्रयास कर रहे हैं, कि पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश से सम्पूर्ण सृष्टि का सृजन हुआ है, इसीलिए इनकी सुरक्षा करना हम मानव का सहज कर्त्तव्य है। अपने कर्त्तव्य के प्रति जागरूक रहने पर ही मनुष्य को सुख की प्राप्ति हो सकती है, जिसका वर्णन पुनः पद्य के माध्यम से इस प्रकार करते हैं-

अत्र रक्ष्या धरा भूधरैर्भूर्षिता वायुशुद्ध्या समं चाऽन्तरिक्षं जलम्।
संस्कृतिर्वर्तते काचिदस्य स्थिरा प्राप्यते रक्षिते सर्वजीवे सुखम्॥[2]

यहाँ स्पष्ट हो रहा है, कि पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश के सम्यक् रक्षण से ही सम्पूर्ण चराचर सुख को प्राप्त कर सकता है। पुरातन काल में लोगों के सुस्वास्थ्य का रहस्य प्रकृति के सुरम्य वातावरण में निवास तथा शारीरिक स्तर पर सभी कार्यों का निष्पादन करना था, परन्तु आज का मानव प्रकृति से दूर रहकर कृत्रिम जीवन शैली का अभ्यासी हो गया है। यही कारण है कि आज का मानवसमाज संवेदना शून्य होता जा रहा है। भौतिकवादी मानव अपसंस्कृति की गोद में अपने को सौंप कर आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक तापों से संतप्त हो रहा है। जब हम दूसरे की रक्षा नहीं कर सकते तो स्वयं भी रक्षित कैसे हो सकते हैं। अठिाम क्रम में आचार्य ने वर्णन किया है-

मारुतो रक्ष्यतां पावको रक्ष्यतां मण्डलं सर्वयत्नेन संरक्ष्यताम्।
ऋद्धिसिद्धिप्रसिद्धीर्यदा वाञ्छति प्राच्यशास्त्रानुसारं सुखं जीव्यताम्॥[3]

ये ऋद्धि, सिद्धि, प्रसिद्धि आदि तत्त्वों के लिए ही संसार का प्रत्येक मानव यत्नशील है, कि किस प्रकार ऋद्धि- अर्थात् जो हम धन के बारे में उद्योग कर रहे हैं वह सफल एवं पूर्ण हो जाए, प्रसिद्धि- आत्म प्रसिद्धि मिल जाए, सिद्धि- जो भी हम सोच रहे हैं वह कार्यान्वित हो एवं सम्पूर्ण सफलता प्राप्त हो जाए। इस प्रकार यदि ऋद्धि, सिद्धि, प्रसिद्धि- तीनों चाहते हैं, तो प्राचीन शास्त्रों के अनुसार सुखपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करें। लेकिन आज का मानव विभ्रान्त एवं विक्लान्त होकर ऋषियों की त्यागपूर्वक जीवन-यापन की कला को विस्मृत कर चुका है-

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥[4]

यह सम्पूर्ण जगत् ईश्वरमय है। अतः प्राकृतिक संसाधनों का त्यागपूर्वक भोग करो, किसी के धन की इच्छा मत करो, यही सम्पूर्ण मानव समाज के लिए ऋषियों का शाश्वत मंगलमय सन्देश है। पहले हम प्रकृति का उपभोग अपनी आवश्यकता के अनुरूप किया करते थे, किन्तु आज हम अपने भोग-विलास में आकण्ठ निमग्न होकर त्यागमूलक देव संस्कृति से विमुख होकर जिस डाली पर बैठें हैं, उसी डाली को काट रहे हैं, तो मानव का मंगल कैसे हो सकता है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश की रक्षा करना हमारा परम कर्त्तव्य है। जैसा की आचार्य गीतिकाव्य में कहते हैं-

साम्प्रतं चर्चया व्याप्तमेतज्जगन्मण्डाच्छादनं नो जनैर्दूष्यताम्।
भौतिकं कर्मजालैर्धरा धर्षिता सद्बुधैर्बन्धनाद् यत्नतो मुच्यताम्॥[5]
जीवितुं स्वीयशैल्या समो वाञ्छति स्थावरो जङ्गमश्चात्र राष्ट्रे सदा।
निर्मलाकाशवायुं जलं कांक्षते पीड्यतां नो प्रपञ्चैर्धरा भूरिदा॥[6]

यद्यपि यह विषय वर्तमान में बहुचर्चित हो गया है, किन्तु हमारे पूर्वज ऋषियों ने तो इसकी परिकल्पना एवं चर्चा बहुत पूर्व में ही की है। आचार्य पर्यावरण को संरक्षित रखने के लिए सतर्क कर रहे हैं। हरे-भरे उपवन और

---

* शोधच्छात्रा, संस्कृत विभाग, कलासङ्काय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

** प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, कलासङ्काय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

वन्य जीवों से युक्त जंगल प्रकृति के केवल शोभाधायक साधन मात्र नहीं है, अपितु प्रकृति से प्राप्त ईश्वरीय वरदान है। इनसे हमारा जीवन पालित-पोषित होता है। बलखाती कलकल निनाद करती नदियाँ तन-मन को केवल रंजन ही नहीं करती, बल्कि शाश्वत जीवन का सन्देश भी देती हैं। पृथ्वी मृण्मय कणों का सम्मिश्रण मात्र ही नहीं है बल्कि चिन्मयस्वरूपिणी भी है तथा वह हमें सीख देती है कि शीत, ठाीष्म एवं मेघ को सहन करो, जिससे सहिष्णुता की शिक्षा मिलती है। यही कारण है कि समस्त प्राणी इसके प्यार भरी गोद में सहज ही जीवन धारण करके पालित-पोषित होते रहते हैं। वायु केवल गैसों का झोंके मात्र ही नहीं है, अपितु तन-मन को सुरक्षित एवं पुलकायमान करने वाले जीवन को परम ऊर्जा प्रदान करने वाले तत्त्व हैं। आकाश सबके आश्रय का सामर्थ्य रखता है। ये सभी प्राकृतिक तत्त्व प्राणियों के जीवन के संवर्धन एवं संरक्षण में महती भूमिका का निर्वहन करते हैं तथा ये हमारे जीवन के पालनहार हैं। अतः इनके दैव स्वरूप से अपरिचित होना अपने सर्वनाश को आमन्त्रित करना है। विश्वप्रसिद्ध कविशिरोमणि महाकवि कालिदास ने अपने नाटक अभिज्ञानशाकुन्तलम् के नान्दी पाठ में प्रकृति के आठ तत्त्वों को शिव का प्रत्यक्ष स्वरूप बतलाकर सबकी रक्षा की कामना करते हैं तथा कुमारसम्भवम् में भगवान् सदाशिव को अठमूर्ति वाला कहकर अभिनन्दन करते हैं-

तत्राग्निमाधाय समित्समिद्धं स्वयमेव मूर्त्यन्तरमष्टमूर्तिः।
स्वयं विधाता तपसः फलानां केनापि कामेन तपश्चचार॥[7]

अर्थात् तन के फलों का स्वयं विधान करने वाले अष्टमूर्ति शंकर वहाँ अपने ही शरीरभेदरूपी कष्टप्रदीप्त अग्नि को स्थापित करके किसी इच्छा से तपस्या करने लगे। यहाँ भी शिव को अष्टविध मूर्तियों का प्रतीक माना गया है। ये अष्ट प्रतीकात्मक तत्त्व, जल, अग्नि, यजमान, सूर्य, चन्द्र, आकाश, पृथ्वी और वायु ही हैं।

वास्तव में अपनी वसुन्धरा सर्वस्व प्रदान करने वाली है, लेकिन मनुष्य अपने स्वार्थ के वशीभूत होकर उस पृथ्वी को भी नहीं छोड़ रहा है, जिसका वर्णन राष्ट्रगौरवम् में इस प्रकार है-

स्वेच्छया निर्मितोच्चैर्महाधैर्गृहैः कम्पते मे धरा भारबाहुल्यतः।
मानवस्तेयकृत्यैर्भृशं मूर्च्छिता पश्यति स्वीयवत्सानन सर्वतः॥[8]

आज की स्थिति बिल्कुल आश्चर्यचकित कर देने वाली है। जिस वसुन्धरा से अनेक प्रकार के बहुमूल्य वस्तुओं को मनुष्य प्राप्त करता है, उसका भी स्वार्थ के कारण अनावश्यक दोहन तो कर ही रहा है, तथा उस पर विस्फोट भी कर रहा है। शान्ति प्रदान न कर अशान्ति प्रदान कर रहा है। उसपर अत्यधिक भारवाले बहुमंजिले भवनों का निर्माण कर रहा है, जिसके कारण धरती काँप रही है। साथ ही एक समय था जब पशुओं की, धन-दौलत की चोरी होती थी, लेकिन आज की स्थिति बदल गयी है क्योंकि अब तो मानव की चोरी हो रही है। इससे स्पठ होता है कि समाज में मानसिक विकृति कितनी बढ़ गयी है। इसी प्रकार पूज्या गंगा की स्थिति भी मानव दयनीय बना दिया है। जैसा की राष्ट्रगौरवम् में कवि के मनोभाव को देखा जा सकता है-

पूर्वजानां नृपाणां तपश्चर्यया स्वर्गतश्चागता स्वर्णदी दूष्यते।
सौख्यमाप्स्यन्ति चात्मन्यहो ते कथं जीवनाधारगङ्गा जनै रुद्ध्यते॥[9]

भगीरथ ने अथक प्रयास एवं तपस्या के द्वारा जिस जीवनदायिनी गङ्गा को प्रार्थना पूर्वक अपने पूर्वजो के उद्धार एवं सम्पूर्ण मानव जाति के कल्याण के लिए स्वर्ग से स्वर्ग की नदी गठा को लाया था, उसको आज का स्वार्थी मानव दूषित कर रहा है, जो सबके उद्धार के लिए आई थी उसी के अविरल प्रवाह को अवरुद्ध कर रहा है, तो फिर वह स्वयं सुख कैसे प्राप्त करेगा। गठा के सम्बन्ध में कालिदास ने कहा है-

'कं नाभिनन्दयत्येषा दृष्टा पीयूषवाहिनी॥'[10]

अर्थात् अमृत भरी गठा को देखकर भला कौन आनन्दित और अभिनन्दित नहीं होता है। जल आनन्द का प्रतीक है अतः नदी का प्रवाहात्मक जल मन को तत्काल प्रफुल्लित कर देता है। रघुवंश में कालिदास ने अगस्त ऋषि को वर्षा के गंदे जल को स्वच्छ करने वाला बतलाते हुए लिखा है-

तस्याविलाम्भः परिशुद्धिहेतो र्भौमो मुनेः स्थानपरिठाहोऽयम्॥[11]

अर्थात् ये ही अगस्त ऋषि उदय होते हैं। तब वर्षा का सारा गंदा जल स्वच्छ हो जाता है। स्वच्छ जल हमारे जीवन के लिए अनिवार्य है। अशुद्ध जल के सेवन से अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। वास्तव में जल जीवन का अविभाज्य अंग है। वैदिक वाङ्मय में जल का महत्त्व लौकिक एवं पारलौकिक दोनों दृष्टि से वर्णित है। जल के लौकिक स्वरूप अर्थात् व्यवहारिक स्वरूप के अन्तर्गत खान-पान, इसके उपयोग, दुरुपयोग आदि पक्षों पर विचार किया जाता है और पारलौकिक स्वरूप के अन्तर्गत जल का दैवी स्वरूप वर्णित है जल विष्णु का निवास स्थान है। जल सृष्टि का मूलाधार है। वृक्ष, वनस्पतियाँ, पशु-पक्षी आदि सभी जीवधारियों का जीवन अमृत तुल्य जल पर ही अवलम्बित है, जल शाश्वत है। इसे अपवित्र नहीं करना चाहिए। प्रलय काल में जब कुछ भी शेष नहीं रह गया तब केवल जल ही संसार को आवृत्त किये हुए था। आकाश-पाताल का कुछ पता नहीं चलता केवल जल ही जल चारों तरफ विद्यमान् था-

नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परोयत्।
किमावरीपः कुट कस्य शर्मन्नभः किमासिदगहनं गंभीरम्॥[12]

वेदों में जल के शुचिता एवं संरक्षण के सम्बन्ध में अनेक उल्लेखनीय सन्दर्भ प्राप्त होते हैं, जिनको दृष्टिगत रखकर जल प्रदूषण को रोका नहीं जा सकता बल्कि जल को प्रदूषण मुक्त रखते हुए जल संरक्षण भली-भाँति किया जा सकता है। आज जल-प्रदूषण की विभिषिका से पूरा विश्व संकटठास्त हो गया है। जल संगठनों की चेतावनी है कि एशिया के कुछ समुद्र तट मल-मूत्र तथा सीवरों के गन्दे पानी के कारण इतने दूषित हो चुके हैं कि वे स्वास्थ्य के लिए खतरा उत्पन्न कर सकते हैं। यही स्थिति भारतीय नदियों की भी हो गयी है। इन जलों की अस्वाभाविक स्थिति के कारण जनसंख्या भी प्रभावित हो सकती है। इसी जनसंख्या को सकुशल रखने के लिए वैदिक-ऋषियों ने जल संरक्षण के प्रति विशेष आठाह किये हैं। ऋषि का कथन है कि भली-भाँति निरोगी तथा रोग विनाशक इस जल को मैं लाता हूँ। स्वच्छ जल पीने से मैं मृत्यु से बचा रहूँगा। अन्न, घृत, दुग्ध आदि सामठी तथा अग्नि सहित घटों में सम्यक् रूप में बैठता हूँ-

इमा आपः च भराम्यक्ष्मा यक्षनाशनीः।

गृहानुप प्रसीदाम्यमृतेन सहाग्निना।।[13]

आज के नदियों की दशा पर भी यही प्रयास होना चाहिए। सभी लोग नदियों के विषैलेपन के लिए उत्तरदायी हैं। अतः सबको मिलकर नदियों की रक्षा करनी चाहिए। उने अविरल प्रवाह को बहने दें। उपरोक्त से प्रमाणित हो जाता है कि वैदिक ऋषियों को पर्यावरण के लिए जल के महत्त्व का ज्ञान था। उन्होंने जल के दोष निवारण के उपाय खोजने का प्रयास भी किया था और यथासम्भव उसकी शुद्धता पर भी प्रतिबद्ध थे। जल हमारे आस्था का विषय है इसकी निर्दोषता का ध्यान सभी को देना चाहिए धीरे-धीरे जल की शुद्धता नष्ट हो रही है, जो जीवन के लिए अभिशाप बन सकता है। सम्पूर्ण मानव समाज पर्यावरण के लिए समवेत रूप से जल के प्रवाह को सतत् निर्बाध गति से प्रवाहित होने तथा प्रदूषण मुक्त बनाये रखने के लिए प्रयासरत रहना चाहिए। इससे यह स्पठ है कि हमारे पूर्वज पर्यावरण के प्रति निःस्वार्थ भाव से समर्पित थे, जो कि आज ऐसा नहीं है। इसी प्रकार आचार्य ने वनों को लेकर भी विचार प्रस्तुत किया है-

आत्मभोगाभिलाषस्य सम्पूर्त्तये प्राकृतं वैभवं यैर्वनं छिद्यते।

आत्मनोऽहङ्कृतेश्चाऽत्र सम्पुठये मातृभूमेर्भविष्यं न तै रक्ष्यते।।

मातृश्रृठारभूतास्त्विमे पादपा नैव छेद्यः कदापि जनैः साम्प्रतम्।

तद्विनष्टेषु रुष्टाऽमृता मे धरा सन्ततिभ्यो न दास्यत्यलं काङ्क्षितम्।।[14]

अर्थात् सम्पूर्ण वृक्ष मातृभूमि के श्रृंगार स्वरूप हैं, लेकिन अहंकार की सम्पुष्टि के लिए हम अपनी मातृ भूमि के भविष्य की चिन्ता किये बिना वृक्षों को नठ करते जा रहे हैं। वन ही हमारे आस्था के स्थल स्वीकार किये जाते हैं। अरण्यवास ईश्वर मन्दिर के समान माना जाता है। इसीलिए हमारे ऋषि महर्षियों ने सदैव अरण्य को ही अपना आनन्द निकेतन बनाया। साक्षात् देवस्वरूप वृक्ष, वनस्पतियाँ हमारे उपकार के लिए स्वयं विष को ठाहण करते हैं और वे हमें जीवन देते हैं, लेकिन जीवनप्रदाता वृक्ष को भी मनुष्य नहीं पोषित कर रहा है, जबकि वैदिक काल में सभी लोग इस बात से अवगत थे कि प्रकृति में प्राप्त कोई भी जीवधारी अनावश्यक नहीं है। यदि प्रकृतिप्रदत्त वृक्षों के महत्त्व को देखें तो यह विदित होता है कि ऋषियों ने वेद मन्त्रों द्वारा वृक्षों, वनस्पतियों, औषधियों, वनों तथा वनों के संरक्षकों तक का स्तवन किया है और उन्हें मधुमय हितकारी व शान्तिदायक होने की मंगल कामनाएँ की हैं। यथा- **'नमो वृक्षेभ्यः'**[15], **'नमो वन्नाय'**[16], **'वनानां पतये नमः'**[17], **'औषधयः शान्तिः'**, **'वनस्पतयः शान्तिः'**[18]।

इन मन्त्रों से ज्ञात होता है कि ऋषियों की इनके प्रति आगाध श्रद्धा थी। लेकिन वर्तमान मानव के मन-मस्तिष्क में स्वार्थ की अधिकता हो गई है तथा श्रद्धा की कमी, जिसके कारण इनका ह्रास होता जा रहा है। वर्तमान् में वृक्षों की कटाई होती जा रही है। ईश्वर, जीव का बिना कुछ लिये कल्याण करता है और वृक्ष भी सबका कल्याण करता है। अतः इनका संरक्षण करना हमारा पुनीत कर्त्तव्य है। आचार्य ने पुनः भारतीय भूमि एवं भारतीय परिवेश का वर्णन करते हुए कहा हैं-

सत्यशीलात्मभिर्भारतीयैः पुनः कर्मभूभारतं यत्नतो रक्ष्यते।

भोगभूमिर्यतोऽन्यास्ति सर्वा धरा यत्र लोकश्चलं जीवनं काङ्क्षते।।

भारतं नर्मदातुठभद्रान्वितं गठगोदावरीवीचिभिः क्षालितम्।

प्राठणे सर्वलोके पुनः काशतां श्यामलं प्रोज्जवलं शैलराजाश्रितम्।।[19]

अर्थात् सत्याचरण, अच्छा स्वभाव एवं अपने आत्मसमर्पण के द्वारा भी कर्म करने की भूमि भारत समस्त गुणों से सम्पन्न भारतीयों द्वारा यत्नपूर्वक रक्षा की जाए, क्योंकि पृथ्वी पर अन्य स्थान भले ही केवल भोग के लिए प्रसिद्ध हो, जहाँ के लोग क्षणिक सुखी जीवन की इच्छा रखते हैं, परन्तु इस भारत भूमि की यही विशेषता है कि यहाँ चिरस्थायी यशोदायक जीवन की इच्छा की गई है। नर्मदा एवं तुठभद्रा से अलंकृत गङ्गा और गोदावरी की तरंगों से प्रक्षालित, फसलों की हरियाली से लहराता हुआ श्यामवर्ण वाला, शैलराज हिमालय से सुशोभित, स्वच्छ एवं उज्ज्वल यह भारत वर्ष सम्पूर्ण लोकों के प्राठण में पुनः देदीप्यमान हो। यही कवि के द्वारा मठल कामना की गई है तथा यह भव्य भारतवर्ष की रम्या धरा पुनः उसी प्रकार से उज्ज्वल हो।

सन्दर्भ सूची-

1. रा.गौ., 16.
2. रा.गौ., 17.
3. रा.गौ., 18.
4. ई.उ., 1.
5. रा.गौ., 19,20.
6. अ.शा., 1.
7. कु., 1/57.
8. रा.गौ., 21.
9. रा.गौ., 22.
10. कु.स., 10/48.
11. रघु., 13/36.
12. ऋ. 10/129/1.
13. अथर्ववेद, 2/12/9.
14. रा.गौ., 23, 34.
15. य.वे., 16/17.
16. य.वे., 16/34.
17. य.वे., 16/18.
18. य.वे., 36/17
19. रा.गौ., 25, 26.

●

अज्ञेय के कथा-साहित्य में स्त्री-मनोविज्ञान

प्रतीक्षा दुबे एवं प्रो0 बलिराज पाण्डेय***

किसी भी युग का साहित्य अपने समय की सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक गतिविधियों को रेखांकित करता है। सन् 1947 के बाद देश में कई सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन हुए। बदलते सामाजिक परिदृश्य में स्त्री-चेतना के स्वर भी मुखर हुए। फलस्वरूप हिन्दी कथा-साहित्य में नारी-अस्तित्व व अस्मिता का प्रश्न केन्द्रीय भाव के रूप में सामने आया। प्रेमचन्द, प्रसाद, कौशिक, उपन्द्रेनाथ 'अश्क', धर्मवीर भारती, जैनेन्द्र, अज्ञेय और इलाचन्द्र जोशी आदि कथाकारों ने नारी-चेतना के विविध आयाम उद्घाटित किए। एक ओर इन कथाकारों ने नारी-जीवन से जुड़ी समस्याओं जैसे- अनमेल विवाह, विधवा विवाह, बाल विवाह समस्या, सम्बन्ध-विच्छेद, पारिवारिक कलह, आर्थिक परतन्त्रता का निरूपण किया, तो दूसरी ओर सम्बन्धों के टूटने-बिखरने से उत्पन्न कुंठा, पीड़ा, अन्तर्द्वन्द्व, मानसिक उलझन और अवसाद आदि को मनोविश्लेषणात्मक पद्धति के आधार पर अभिव्यक्त किया। मनोविश्लेषणात्मक सिद्धान्तों के आधार पर कथा सृजन करने वाले कथाकारों में अज्ञेय का नाम सर्वाधिक चर्चित है। अज्ञेय व्यक्ति-चरित्र के विशेषज्ञ हैं। व्यक्ति-चरित्र की गुह्यतम, गहनतम गुत्थियों को पूरे मानवीय स्तर पर सुलझाने की दक्षता, उनमें कलात्मक रूप में विद्यमान है।

अज्ञेय के कथा-लेखन के सन्दर्भ में ओम प्रभाकर लिखते हैं- ''अज्ञेय की कथा-कृतियों-क्या उपन्यास, क्या कहानियाँ-में न तो कहीं दार्शनिकता की अतिव्याप्ति है और न मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के प्रति दुराठाह ही। वह अपने सम्पूर्ण कथा-सृजन के सिद्धान्तों में सर्वथा एवं सर्वदा मौलिक है। अत्यन्त निश्चयात्मक स्वर में यह कहा जा सकता है कि आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य में अज्ञेय का स्थान एक मौलिक, प्रवर्तक तथा सर्वश्रेष्ठ कथाकार के रूप में शीर्ष स्थान पर अक्षुण्य है और रहेगा।''[1]

वे मानसिक गुत्थियों को सुलझाते समय सामाजिक परिवेश की प्रतिक्रियाओं, प्रभावों और संघर्षों का पूरा मन्थन करते हैं। वे अपने कथा-साहित्य में रोजमर्रा की जिन्दगी की उलझनों से जूझते मध्यवर्गीय स्त्री-पुरुष की कुंठा, घुटन और अवसाद को मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर विश्लेषित करते हैं।

डॉ रामचन्द्र तिवारी की दृष्टि में- ''प्रेमचन्द के बाद जिन कहानीकारों ने अपनी प्रतिभा से हिन्दी कहानी-जगत को सहसा आलोकित कर दिया था उनमें 'अज्ञेय' अग्रणी हैं। 'अज्ञेय' ने सामान्य मध्यवर्गीय अभिजात सामाजिक जीवन, राष्ट्रीय क्रान्तिकारियों का जीवन, शरणार्थियों का जीवन, पर्यटक-जीवन तथा स्त्री-पुरुष के नैतिक सम्बन्धों के विश्लेषण को अपनी कहानियों का उपजीव्य बनाया है।''[2] मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अज्ञेय के स्त्री पात्र अपेक्षाकृत अधिक सशक्त, जुझारू और आधुनिकता से लैस दिखाई देते हैं। परंपरागत आदर्श न तो स्त्री को प्रेम करने की छूट देता है और न ही इच्छानुसार जीवन जीने की। ऐसी व्यवस्था में अज्ञेय की नायिकायें विद्रोह करती हैं। ऐसा विद्रोह जिसमें ''वह आत्महत्या न करके ऐसी जीवन-पद्धति अपनाती हैं जो समाज की प्रबुद्ध चेतना को लहुलूहान कर देने वाली है।''[3] इनके उपन्यास 'शेखर : एक जीवनी' की प्रमुख स्त्री-पात्र शशि शंकालु पति द्वारा घर से निकाले जाने पर आत्महत्या नहीं करती, वह बिना विवाह किये शेखर के साथ रहकर उसे जीने और संघर्ष करने की प्रेरणा देती है। सामंती सामाजिक व्यवस्था में यातना पा रही शशि परम्परागत स्त्री-आदर्श के खिलाफ विद्रोह करती है। स्त्री को मात्र उपभोग की वस्तु समझने वाले पुरुषों के लिए वह कहती है- ''आदर्शों का अभिमान आसान है, विवाह का हिन्दू आदर्श, गृहस्थ धर्म, सतीत्व का हिन्दू आदर्श.....किन्तु अभिमान की काई के नीचे आदर्श का पानी क्या अभी बहता है कि अन्धकार में सड़ गया है? गृहस्थ धर्म उभयमुखी होता है किन्तु आज के जीवन में पुरुष की ओर से देय कुछ भी नहीं है, सत्य तो दूर, करूणा भी देय नहीं रही और नारी केवल पुरुष के उपभोग का साधन रह गई है, निरी सामठी जिसे वह जब चाहे, जैसे चाहे, जहाँ चाहे, अपनी तुष्टि की आग में झोंक दे और इसकी कहीं अपील नहीं, क्योंकि स्त्री कभी दुहाई दे तो उत्तर स्पष्ट है कि 'और शादी किसलिए की जाती है?' यह आदर्श नहीं, आदर्शों की समाधि है, देह नहीं, सदियों की सूखी त्वचा में निर्जीव हड्डियों का ढाँचा है.....।''[4]

शशि की वैयक्तिकता इस यथार्थ से लगातार मुठभेड़ करती है। अपनी निजता अपने व्यक्तित्व की गरिमा से परिचित शशि अपनी मजबूरी समझती है। एक ओर वह सामाजिक संस्कारों के ढकोसलों को खुली चुनौती देती है तो दूसरी ओर स्त्रीत्व की मर्यादा, शील-गुण का भी निर्वहन करती है। सामाजिक नियमों के परे जाकर वह शेखर के साथ प्रेम सम्बन्ध रखती है, लेकिन प्रेम सम्बन्ध से पहले वह अपनी पारिवारिक जिम्मेदारियों को महत्व देती है। सबसे बढ़कर उसे अपनी माँ की चिन्ता है। वह सोचती है कि कहीं उसके प्रेम सम्बन्ध के कारण माँ की गरिमा पर कोई आँच न आ जाए। यही कारण है कि रामेश्वर से विवाह निश्चित होने पर इच्छा न होने के बाद भी वह मना नहीं कर पाती। वह अपनी मौन-व्यथा और अन्तर्द्वन्द्व की अभिव्यक्ति शेखर को लिखे एक पत्र में करती है- ''अगर शेखर बाहर होता तो वह उससे सहायता माँगती बातचीत को स्थगित कराने में...और कोई इस दुनिया में नहीं

---

* शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

** अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

जो उसका पक्ष ले, माँ हैं, पर वह अकेली हैं, समाज के विरूद्ध वह क्या करेंगी।''[5] शशि के सामने दो मुख्य समस्यायें हैं- इच्छा और त्याग की। स्त्री होने के कारण वह अपने प्रेम का त्याग तो कर सकती है, क्योंकि समाज में उसका त्याग ही मान्य है, लेकिन उसी समाज में उसकी इच्छा का कोई मूल्य नहीं है। अपनी अनुत्तरित अवस्था का दुःख स्वयं में समेटे हुए वह सोचती है- ''मैं जानती हूँ कि मेरी संपूर्ण अनिच्छा है पर क्या मुझे अनिच्छा का, अनिच्छा के बाद अस्वीकृति का अधिकार है?''[6]

शशि इन कसमसाती परिस्थितियों से मुक्त होना चाहती है और इस मुक्ति का अंशतः एहसास उसे शेखर की उपस्थिति में होता है लेकिन अपनी माँ के कारण उसे अपने प्रेम शेखर को छोड़कर एक अनचाहे और अन्जान रिश्ते से समझौता करना पड़ता है। शशि के रूप में अज्ञेय ने नारी के जुझारू और सशक्त रूप के साथ-साथ सामाजिक, पारिवारिक मर्यादाओं में बँधी, घुटती और दम तोड़ती स्त्री के चरित्र को उभारा है। अज्ञेय की स्त्री सम्बन्धी मान्यता के विषय में नेमिचन्द्र जैन लिखते हैं- ''आधुनिक नारी के इतने विविध पक्ष, इतनी गहराई और सूक्ष्मता के साथ अपने आगे प्रत्यक्ष कर सकना और फिर उसे शब्दबद्ध कर सकना अपने आप में एक बड़ी उपलब्धि है।''[7]

अज्ञेय के नारी पात्र भारतीय मध्यमवर्गीय प्राणहीन यंत्रवत् जीवन, उसके खोखलेपन और पीड़ा को अभिव्यक्ति देते हैं। 'रोज़' कहानी का ठंडा और बोझिल वातावरण मालती के उदासीन जीवन को रूपायित करता है। मालती के पति महेश्वर पेशे से डॉक्टर हैं। गैंग्रीन का इलाज करने वाले अकेले डॉक्टर होने के कारण वे हमेशा व्यस्त रहते हैं। मालती और बच्चे के लिए उनके पास समय नहीं होता और मालती का समय मानों रूक-सा गया है। 'गैंग्रीन' शब्द का उल्लेख कहानी में कई बार किया गया है। काँटे की चुभन से होने वाले इस रोग का एकमात्र इलाज है- रूग्ण अंग को काट देना। मालती के जीवन में भी मानो काँटा चुभ गया, जिसका उसे पता ही नहीं। गैंग्रीन के साथ घड़ी का भी उल्लेख है। गैंग्रीन रोगग्रस्त निराश जीवन का प्रतीक है और घड़ी गतिहीन समय का। मालती के जीवन का आरंभिक अल्हड़पन धीरे-धीरे चिर उदासीनता में बदल गया है। घड़ी के काँटों के साथ मालती के जीवन की एकरूप यांत्रिकता गुँथी हुई है। पारिवारिक जिम्मेदारियों के नीचे दबकर उसके जीवन का प्रेम मर चुका है। उसे देखकर लगता है मानो 'जीवन के इस पहले ही यौवन में घुन लग गया है।' मालती के रूप में अज्ञेय ने एक घरेलू स्त्री के अकेलेपन, बोझिल मानसिकता और निरूत्साही जीवन को चित्रित किया है। अज्ञेय के स्त्री पात्र स्वतन्त्र है, पर स्वच्छन्द नहीं। वे अनुरागिणी भी हैं, और त्यागिनी भी इसीलिए सहृदया हैं तो उदासीन भी। नर-नारी के समानता की वकालत करने वाली उनकी नायिकायें परिवार की मान-रक्षा के लिए अनचाहे विवाह सम्बन्ध में बँधने से भी परहेज नहीं करती। अज्ञेय की कथा-नायिकाओं के चरित्र में उदात्तता, दृढ़ता और सशक्तिकरण स्पष्ट रूप से झलकता है लेकिन एक बिन्दु पर जाकर ये चारित्रिक विशेषताएँ कुण्ठित और नष्ट हो जाती हैं और कहीं न कहीं ये विशेषताएँ नायिका के पैरों की जंजीर बनकर उसे मजबूर, कुंठित और अवसादठास्त बना देती है।

'नदी के द्वीप' उपन्यास की प्रमुख स्त्री पात्र रेखा मध्यवर्गीय भावुक, गंभीर और विचारशील नायिकाओं में से एक है। रेखा के व्यक्तित्व की गरिमा को स्पष्ट करते हुए डॉ0 रामस्वरूप चतुर्वेदी लिखते हैं- ''रेखा नव-यौवना नहीं है, उसका आकर्षण इसमें है कि उसने यौवन की उम्र को ही अधिक महत्व नहीं दिया है, सौन्दर्य के सामान्य उपकरणों से ऊपर उठकर अपने व्यक्तित्व की दीप्ति विकसित की है। उसके आत्मविश्वास के आगे यौवन-सौन्दर्य मानो ठिठक गए हैं। रेखा के इस व्यक्तित्व में बौद्धिकता का ही गहरा रंग है। राग को उसने दबाया नहीं है, पर राग से वह अनुशासित भी नहीं है।''[9]

रेखा एक स्वतन्त्र नारी-व्यक्तित्व का परिचय देती है। पति द्वारा परित्यक्त होने के कारण वह अकेली है। ऐसी सशक्त स्त्री का मानसिक अवसान भुवन से अलग होने पर दिखाई देता है। रेखा की मानसिक ऊहापोह, द्वन्द्वात्मक स्थिति और सम्बन्धों के टूटने से उपजी घुटन बार-बार उसके संवादों में स्पष्ट झलकती हैं- ''लेकिन भुवन, मुझे अगर तुमने प्यार किया है, तो प्यार करते रहना...मेरी यह कुंठित, बुझी हुई आत्मा स्नेह की गरमाई चाहती है, कि फिर अपना आकार पा सके, सुन्दर, मुक्त, ऊर्ध्वाकांक्षी।''[10]

भविष्य में अनास्था रखने वाली रेखा भुवन के भविष्य को उज्ज्वल देखना चाहती है और इसके लिए वह बड़े से बड़ा त्याग करने को तत्पर रहती है। वह भुवन से कहती है- ''हाँ भुवन तुम्हें क्लेश पहुँचाना नहीं चाहती...अविश्वास मैंने नहीं किया। ××× मैंने तुमसे प्यार माँगा था, तुम्हारा भविष्य नहीं माँगा था, न मैं वह लूँगी।''[11]

रेखा जीवन से दूर, सामान्य अनुभूतियों से दूर रहकर एक खास किस्म की ओढ़ी हुई जिन्दगी जी रही है, बल्कि वह एक ऐसी जिन्दगी की खोज कर रही है, ऐसी अनुभूतियों की खोज कर रही है जिसमें पूरी जीवन्तता हो। वह जीवन को ओढ़ना नहीं, जीवन को जीना चाहती है। पूरी उपन्यास में उसकी यही कोशिश रही है।

स्त्री को सदा से पुरुष की भोग-लिप्सा को समाप्त करने का एक साधन मात्र समझा जाता है। स्त्री के व्यक्तित्व को महत्वपूर्ण इकाई समझने में प्रगतिशील समाज हमेशा कतराता है। उसे संस्कार के बन्धनों में जकड़कर उसकी स्वतन्त्रता, निजता का हनन करता है। अज्ञेय ने सामाजिक बन्धनों में जकड़ी स्त्री के मनोभावों को भली प्रकार अभिव्यक्त किया है। 'पगोडा वृक्ष' कहानी में सुखदा आठ वर्ष से वैधव्य जीवन का अभिशाप झेल रही है। पति के जीवित रहते भी उसे कभी दाम्पत्य-सुख व प्रेम प्राप्त नहीं हुआ। हमेशा से अकेली रहने वाली सुखदा के जीवन में एक दिन अचानक एक क्रान्तिकारी आता है। सुखदा के एकाकी जीवन में अचानक होने वाले परिवर्तन को लेखक ने पगोडा वृक्ष के माध्यम से सांकेतिक ढंग से व्यक्त किया है- ''रात-रात में पगोडा वृक्ष ने पुरानी केंचुल उतार फेंकी थी...या नए वस्त्र धारण कर लिए थे। आज उसकी कालिमा का चित्र भी कहीं नजर नहीं आता था, वह फूलों से भरा हुआ, सौन्दर्य से आवृत्त सौरभ से झूम रहा था।''[12] सुखदा का अंतिम रूपांतर इस कहानी को प्रणय और पीड़ा की एक सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक कहानी बनाता है। तमाम कानूनों के कारण स्त्री सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक रूप से स्वतन्त्र होने के बाद भी परंपरागत स्त्री-आदर्शों व मूल्यों से आजाद नहीं हो पाती। परंपरागत आदर्श नारी को उसकी इच्छानुसार जीवन जीने की आजादी नहीं देते। उसे त्यागने की स्वतन्त्रता है परन्तु वरण की नहीं। 'हीलीबोन की बत्तखें' कहानी में ऐसे ही मूल्यों व

आदर्शों में जकड़ी नारी की विवशता का सांकेतिक वर्णन मिलता है। हीली खासिया जाति के छोटे से राज्य नाङ्क्रेम की अधिष्ठात्री है। वह अनुशासन में चलती नहीं, अनुशासन को चलाती है। जीवन में सबकुछ प्राप्त होने के बाद भी वह अकेली, अपरिणीता है और यही उसकी कुंठा का मुख्य कारण है। लेखक उसके मनोभावों, निराशाजनक स्थिति को इस प्रकार व्यक्त करता है- ''देखने में आधुनिक साहबी ढंग का बंगला, किन्तु उस काँच और पर्दों के आडम्बर को संभालने वाली इमारत वास्तव में क्या है? टीन की चादर से छूता हुआ चीड़ का चौखटा, नरसल की चटाई पर गारे का पलस्तर और चारों ओर जरेनियम, जो गमले में लगा लो तो फूल है, नहीं तो निरी जंगली बूटी...यह कैसे हुआ कि वह 'नाङक्रेम' की रानी आज अपने चौतीसवें वर्ष में इस कुटी के जरेनियम के गमले संवारती बैठी है और अपने जीवन में ही नहीं, अपने सारे गाँव में अकेली है?''[13] 'लोग कहते थे हीली सुन्दर है, पर स्त्री नहीं है। वह बाबी क्या जिसमें सांप नहीं बसता।' एक बार उसने जीवन में प्यार पाया फिर अकेलापन और अब इस खालीपन को भरने के लिए ही हीली बत्तखें पालती है। अचानक एक घटना घटती है, उसकी प्यारी बत्तखों को एक लोमड़ी मार डालती है। यहीं पर एक फौजी अफसर कैप्टन दयाल हीली के भावनात्मक घावों को भरने के लिए आता है और लोमड़ी का शिकार करता है। जब उस घायल लोमड़ी को खोजने के लिए हीली कैप्टन दयाल के साथ झाड़ियों में जाती है तब उसे खोह की देहरी पर मृत नर लोमड़ी मिलती है और उसके शिथिल शरीर पर मादा लोमड़ी झुकी खड़ी है तथा उस लोमड़ी के पैरों के पास उसके तीन छोटे बच्चे भी घूम रहे हैं। इस करूण दृश्य को हीली झेलने में असमर्थ होकर लौट आती है और हताश आँखों से बत्तखों को एकटक देखती है तथा डाओ से सभी ग्यारह बत्तखों का गला पकड़कर उन्हें मार डालती है। हीली का लोमड़ी परिवार से तादात्म्य और फिर अपने अभावों के कसकते-करकते अनुभव, सभी बत्तखों को मारकर एक बार फिर अकेले हो जाने की तैयारी आदि सब उसके विखंडित और कुंठित मन की प्रतिक्रियायें है।

इसी प्रकार 'अछूते फूल' कहानी में मीरा जीवन में वह सबकुछ प्राप्त करती है, जो एक आधुनिक स्त्री का जीवन लक्ष्य होता है। 'कहा जा सकता है कि उसने अपने समाज में सफलता प्राप्त की थी।' लेकिन भीतर से वह एकाकी और शून्य थी। मीरा अनेक पुरुषों के संपर्क में आकर, उनसे मिलकर भी अछूती रह गई थी- अछूती ही नहीं, अस्पृश्य भी। उसे इस बात का अभिमान था लेकिन बाद में यही अभिमान उसकी कुंठा और अवसाद का कारण बनता है। पुरुष वर्ग के प्रति अपनी खीझ वह एक साइकिल सवार युवक को गिराकर निकालती है। छब्बीस वर्षों तक अपने अहं में मस्त, न झुकने वाली अविवाहिता मीरा की मानसिक कुंठा और अपूर्त काम-भावना की यह विकृत प्रतिक्रिया थी। एकाकीपन और निराशा की स्थिति में उसने देखा- ''मुरझाया हुआ, कुचला हुआ, गर्मी और पसीने और दबाव से अपनी सफेदी खोकर काला पड़ा हुआ फूल।''[14] यह मानो उसके संभावित जीवन की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति थी।

अज्ञेय ने अपने स्त्री पात्रों का गठन प्रमुख रूप से मनोवैज्ञानिक आधार पर ही किया है। उनके अधिकांश स्त्री पात्र अन्तर्मुखी प्रवृत्ति के होते हैं। स्त्रियाँ अपनी अपूर्ण या दमित इच्छाओं को कल्पना जगत में साकार करने का प्रयास करती हैं, इसीलिए उनका स्वभाव अन्तर्मुखी हो जाता है। अज्ञेय ने ऐसी ही स्त्रियों को अपने प्रमुख पात्र के रूप में चुना है, जिनके अचेतन मन में दमित अभिलाषाओं की ज्वाला धधकती रहती है। ऐसी स्त्रियाँ स्वयं ही इस ज्वाला का शमन करना चाहती हैं और करती भी हैं, लेकिन बलपूर्वक इच्छाओं के शमन से अनेकानेक मानसिक विकारों का जन्म होता है। जिसके कारण उनके अधिकांश स्त्री पात्र मानसिक स्तर पर उलझे हुए, तनावग्रस्त और कुंठित दिखाई देते हैं। प्रत्येक का अपना अलग मनोविज्ञान है। अज्ञेय के अनुसार- ''भय, सेक्स तथा अहं पात्रों के जीवन-विकास की धुरी है। पात्रों के जीवन-विकास में इन तीनों का योगदान रहता है।''[15]

इस प्रकार यदि शशि, रेखा, मीरा और सुखदा आदि अहं और सेक्स मूलवृत्ति से संचालित हैं तो 'अपने-अपने अजनबी' उपन्यास की योके और सेल्मा के चरित्र का विकास 'भय' मूलवृत्ति के आधार पर होता है। 'भय' के सम्बन्ध में अज्ञेय लिखते हैं कि- ''चरम उपलब्धि है डर से मुक्ति।'' इस उपन्यास का मूल तत्व 'भय' ही है, जिसके आधार पर दोनों पात्र विकसित होते हैं। योके जीवन-संघर्ष का प्रतीक है, जो बर्फ से दबे काष्ठघर में जीने के लिए लगातार संघर्ष करती है। हालांकि इस संघर्ष से कभी-कभी वह झुँझलाती, घबराती, निराश और विध्वंसक भी हो जाती है। उसकी निरन्तर बदलती मनःस्थिति के विषय में रामस्वरूप चतुर्वेदी लिखते हैं- ''उपन्यास में मुख्य समस्या योके की है, जो मृत्युगंध और 'मृत्यु की प्रतीक्षा' से त्रस्त है। पहले खण्ड में कुछ बड़े गहरे और तीखे वर्णन योके की मनःस्थिति के दिये गये है।''[16] योके की मनःस्थिति से सम्बन्धित एक उदाहरण मैं यहाँ दे रहा हूँ। योके कहती है- ''उसके स्वर में जो चिड़चिड़ापन था, उफ! उससे मुझे कितनी तृप्ति मिली तो बुढ़िया का कवच भी निरुन्ध्र नहीं है, कहीं उसमें भी टूट है- कहीं न कहीं वह भी मृत्य से डरेगी और रिरियाकर कहेगी कि नहीं, मैं मरना नहीं चाहती। एक प्रबल, दुर्दमनीय उल्लास, एक विजय का गर्व मेरे भीतर उभर आया।''[17] यह वाक्य योके के कुंठित मनोभावों को सहज ही व्यक्त करता है। बूढ़ी सेल्मा को मृत्यु भय नहीं था क्योंकि वह कैंसर से पीड़ित थी और हमेशा मृत्यु के इंतजार में ही रहती है। उसका व्यक्तित्व स्वतन्त्र होते हुए भी आत्मकेन्द्रित सा हो गया था। ताश खेलते समय अचानक विचारों में डूबी वृद्धा सेल्मा के चेहरे की ओर देखकर योके सोचती है- ''एकाएक मुझे लगा कि वह बड़ा दिलचस्प चेहरा है, जिसे देर तक देखा जा सकता है। चेहरे की हर रेखा में इतिहास है और आण्टी सेल्मा का चेहरा जिन रेखाओं से भरा हुआ है, वे सब केवल बर्फानी जड़ों की देन नहीं है। लेकिन क्या मैं उस इतिहास को ठीक-ठीक पढ़ सकती हूँ। आँखों की कोरों से जो सेवाएँ फूटती हैं और एक जाल-सा बनाकर खो जाती हैं, उसमें कहीं बड़ी करूणा है....एक कर्मशील करूणा, जो दूसरों की ओर बहती है, ऐसी करूणा नहीं जो भीतर की ओर मुड़ी हो और दूसरों की दया चाहती हो।''[18]

इस प्रकार कहा जा सकता है कि योके और वृद्धा सेल्मा का चरित्र पूरी तरह दमित, कुंठित और जीवन से अति निरपेक्ष है। उनकी चेतना आशावादी नहीं है।

कथाकार अज्ञेय ने स्वप्न, प्रक्षेपण, उदात्तीकरण, अवसाद, मानसिक ठान्थियों एवं अन्द्वन्द्व आदि को केन्द्र में रखकर मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर स्त्री-पात्रों की संरचना की है। उनके स्त्री-पात्रों के चरित्र-विश्लेषण

से यह सिद्ध होता है कि कथाकार की दृष्टि मानव-मन की अतल गहराई तक पहुँची हुई है। वे उस अतल गहराई में छिड़े अन्तर्द्वन्द्व को अभिव्यक्त करने में पूरी तरह सफल हुए हैं।

सन्दर्भ सूची-

1. प्रभाकर ओम- अज्ञेय का कथा-साहित्य, पृ0 162
2. डॉ0 तिवारी रामचन्द्र- हिन्दी का गद्य-साहित्य, पृ0 559
3. राय गोपाल- हिन्दी उपन्यास का इतिहास, पृ0 171
4. अज्ञेय- शेखर : एक जीवनी, भाग-2, पृ0 208
5. वही, पृ0 59-60
6. वही, पृ0 79
7. जैन नेमिचन्द्र- अधूरे साक्षात्कार, पृ0 26
8. अज्ञेय- सम्पूर्ण कहानियाँ, पृ0 212
9. चतुर्वेदी रामस्वरूप- अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या, पृ0 101
10. अज्ञेय- नदी के द्वीप, पृ0 162
11. वही, पृ0 314
12. अज्ञेय- संपूर्ण कहानियाँ, पृ0 433
13. वही, पृ0 538-39
14. वही, पृ0 252
15. अज्ञेय- आत्मनेपद, पृ0 202
16. चतुर्वेदी रामस्वरूप- अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या, पृ0 121
17. अज्ञेय- अपने-अपने अजनबी, पृ0 48
18. वही, पृ0 22

●

रवि-रश्मियों सा दिव्य भाल...

डॉ. पवन कुमार शास्त्री*

रवि-रश्मियों सा दिव्य भाल,
था शशि सम शीतल मन-मराल।
करुणा वत्सलता के दृग थे,
अपनाते सबको उर विशाल।।1।।

थी धवल कान्ति परिधान नवल,
सिर पर पगड़ी उज्ज्वल-उज्ज्वल।
लम्बे डग भरते पग अविकल,
हाथों में थामे यष्टि सबल।।2।।

थी ओजस्वी मधुरा वाणी,
चित् में प्रसाद भरती वाणी,
वाणी की सेवा करने को,
नित प्रेरित करती वह वाणी।।3।।

सार्ध-शताधिक वर्ष हुए,
इक ज्योति-पुंज अवतरित हुआ।
जन-मन में शिक्षा का दीप जला,
फिर महाज्योति में लीन हुआ।।4।।

उन महामना मालवीय को,
हम मदन मोहन कहते थे।
जिसकी धी-निधि के सम्मुख,
धीमान् भी नतशिर रहते थे।।5।।

शिक्षक थे मानों बोधि-वृक्ष,
आश्रय थे मानों कल्प-वृक्ष।
रोपा जो शिक्षा का वट-वृक्ष,
है आज पल्लवित और पुष्पित।।6।।

शशि-अश्व-नख प्लवंग संवत् में,
है पौष-कृष्ण अष्टमी तिथि।
गुरुओं के गुरु श्रीमालवीय को
देता यह 'पवन' काव्यांजलि।।7।।

●

* वरिष्ठ साहित्यकार, साहित्य-संगीत-परिषद्, के. 56/29, औसानगंज, वाराणसी

मुक्त छन्द की अवधारणा और कवि निराला

*डॉ0 राकेश कुमार द्विवेदी**

छन्द का काव्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध होता है, जैसे सरिता अपने कूलों या तटबंधों में कल्-कल् कर बहा करती है वैसे ही कवि के हृदय के भाव छन्दों के बंधों के माध्यम से प्रसरित होते हैं। संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश तथा हिन्दी ही नहीं वरन् दुनिया का समस्त काव्य किसी-न-किसी प्रकार के छन्दों में ही निबद्ध है। संस्कृत के गायत्री, अनुष्टुप, प्राकृत एवं पालि के गाहा या गाथा, अपभ्रंश के दोहा या दूहा तथा हिन्दी के, चौपाई, कवित्त, सवैया आदि ऐसे ही छन्द हैं। अंग्रेजी में इसे 'मीटर' कहा जाता है। अंग्रेजी के लिरिक, बैलेड, सॉनेट, उर्दू के ग़ज़ल, कसीदा, रूबाई भी इसी प्रकार प्रसिद्ध हैं, चूँकि छन्द का सम्बंध भाव और रस दोनों से होता है। इसलिए यह स्रष्टा (कवि) और द्रष्टा (भावक) दोनों में ही भावोद्वेलन और रसोद्वेलन का कारण होता है। महाकवि वाल्मीकि का प्रथम श्लोक 'मांनिषादप्रतिष्ठां' इसका उदाहरण है जो करूण रस के स्थायी भाव शोक के रूप में शाप-स्वरूप छन्द के रूप में उनके कंठ से अनायास ही फूट पड़ा था। वेदांग के रूप में शायद इसे महत्ता मिलने का यही कारण था। कालांतर में व्याकरण के कर्ता महर्षि पाणिनि ने इसे 'वेदों का पाद' (चरण) कहकर इसकी मान और महिमा को और भी बढ़ा दिया, यथा-

''छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौकल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरूक्तं श्रोत्रमुच्यते॥''

-पाणिनीय शिक्षा : 41/42

जीवन की भाव-तरंगों की भाँति छन्द की गति-तरंगें भी कविता को सप्राण बनाती हैं। युगानुसार चित्तवृत्तियों में परिवर्तन के साथ ही छन्दों में भी परिवर्तन होता आया है और जैसा कि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कहा था कि - 'नया छन्द नये मनोभाव की सूचना देता है। श्लोक, गाथा और दोहा इसी तरह के नये मनोभाव के सूचक हैं।' छायावाद के प्रकृति कवि पंत ने 'पल्लव' की भूमिका में छन्द के महत्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा कि- ''कविता हमारे प्राणों का संगीत है, छन्द हृदकंपन, कविता का स्वभाव ही छन्द में लयमान होना है.... छन्दबद्ध चुम्बक के पाश्ववर्ती लोहे चूर्ण की तरह अपने चारो ओर एक आकर्षण क्षेत्र (Magnetic Field) तैयार कर लेते हैं, उनमें एक प्रकार का सामंजस्य, एक रूप, एक विन्यास आ जाता है। उनमें राग की विद्युत धारा बहने लगती है, उनके स्पर्श में एक प्रभाव तथा शक्ति पैदा हो जाती है।''[1]

छन्द और भाव के संबंधों की इस प्रगाढ़ता से हर युग का कवि परिचित रहा है इसीलिए श्रेष्ठ कवियों ने अपनी कर्मकुशलता का परिचय देते हुए ''यथाभावो तथा छन्द'' के विचार को अपनाया। पं0 सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' छायावाद के ऐसे ही कवि हैं। निराला का जीवन जितना त्रासद और संघर्षपूर्ण रहा है उतना ही उनका साहित्यिक सफर भी, पर वे एक काल-द्रष्टा और युग-सृष्टा कवि थे, अपनी बनायी लीक पर चलने वाले, अपने धुन के पक्के। निराला ने गद्य और पद्य दोनों में नये-नये प्रयोग किये, इन प्रयोगों में उनका सबसे ऐतिहासिक प्रयोग था छन्दों पर। उन्होंने छन्दों की बनी बनायी शास्त्रीय रूढ़ि को तोड़कर 'मुक्त छन्द' का प्रवर्तन किया।

आचार्य नंददुलारे वाजपेयी के अनुसार - 'निराला का काव्य शताब्दी का काव्य है।' निराला ने मुक्त छन्द का प्रवर्तन कर काव्य जगत में युगांतर उपस्थित किया, विरोधों और व्याघातों की परवाह किये बगैर उन्होंने हिन्दी में नवीन पिंगलशास्त्र की आधारशिला रखी। 'परिमल' की भूमिका में निराला ने 'छन्द की मुक्ति को मनुष्य की मुक्ति' से जोड़ते हुए स्पष्ट कहा कि- ''मनुष्यों की मुक्ति की तरह कविता की भी मुक्ति होती है। मनुष्यों की मुक्ति कर्मों के बंधन से छुटकारा पाना है और कविता की मुक्ति छन्दों के शासन से अलग हो जाना है। जिस तरह मुक्त मनुष्य कभी किसी तरह भी दूसरे के प्रतिकूल आचरण नहीं करता, उसके तमाम कार्य औरों को प्रसन्न करने के लिए होते हैं, फिर भी स्वतंत्र, इसी तरह कविता का भी हाल है। मुक्त काव्य कभी साहित्य के लिए अनर्थकारी नहीं होता, प्रत्युत उसके साहित्य में एक प्रकार की स्वाधीन चेतना फैलती है जो साहित्य के कल्याण की ही मूल होती है।''[2] अपनी बात को तार्किक रूप से सिद्ध करने के लिए निराला ने यजुर्वेद के एक मंत्र का उद्धरण देकर बताया कि मुक्त छन्द का प्रयोग हजारों वर्ष पहले भी हुआ था जब वैदिक ऋषियों ने अपनी भावाभिव्यक्ति के लिए उसे अपनाया था। अपनी सफाई में निराला ने यह छन्द उद्धृत किया-

''सपर्यगाच्छ क्रमकायमव्रण
मश्नाविरंशुद्धमपाप विद्धम्
कविर्मनीषी परिभू स्वयंभू-
र्याथातथ्यतोऽर्यान् व्यदधाच्छाश्वतीथ्यः समाभ्य।''

-यजुर्वेद अ0 40, मंत्र 8

यजुर्वेद के 'ईशावाश्योपनिषद' की उक्त कारिका पर व्यंग्य करते हुए निराला ने कहा- ''जरा चौथी पंक्ति को देखिए, कहाँ तक फैलती चली गयी है। फिर भी किसी ने आज तक आपत्ति नहीं की शायद इसीलिए सोच लिया कि साक्षात् परमात्मा आकर लिख गये हैं अजी परमात्मा स्वयं आकर यह रबर

---

* असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, डी. ए. वी. पी. जी. कॉलेज, वाराणसी।

छन्द और केचुआ छंद लिख सकते हैं तो मैंने कौन-सा कसूर कर डाला? आखिर आपके परमात्मा का ही तो अनुसरण किया। आप लोग कृपा करके मुझे क्यों नहीं क्षमा कर देते।''[3] यहाँ पर कवि निराला की झुँझलाहट स्वाभाविक है। किन्तु निराला की दृष्टि में मुक्त छन्द का अर्थ छन्दहीनता नहीं बल्कि छन्दरूढ़ता से मुक्ति है। पुनः आगे उन्होंने लिखा कि- ''मुक्त छन्द तो वह छन्द है, जो छन्द की भूमि में रहकर भी मुक्त है.... मुक्त छन्द का समर्थक उसका प्रवाह ही है जो उसे छन्द सिद्ध करता है और उसका नियम-राहित्य उसकी मुक्ति है।''[4] क्योंकि निराला का मानना था कि जहाँ मुक्ति होती है वहाँ बंधन नहीं रहते न कविता में, न मनुष्यों में। स्पष्ट हुआ कि मुक्त छन्द का अर्थ-छन्द का त्याग नहीं वरन् रूढ़ि का त्याग है जैसा कि डॉ0 नामवर सिंह ने भी अपने ग्रंथ 'छायावाद' में लिखा कि- ''मुक्त छन्द का अर्थ छन्द रूढ़ि से मुक्ति है, छन्दमात्र से मुक्ति नहीं। इस तरह 'मुक्त छन्द' शब्द में विरोधाभास है, वास्तविक अंतर्विरोध नहीं।''[5]

आधुनिक काव्य में मुक्त छन्द कविता की प्रथम 'मील का पत्थर' बनी स्वयं कवि निराला की प्रथम रचना 'जुही की कली' (1916 ई०) जिसे उस युग के यशस्वी संपादक पं0 महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' में प्रकाशित करने से इनकार कर दिया था। निराला ने कवित्त या घनाक्षरी छन्द को तोड़कर इस मुक्त छन्द का प्रवर्तन किया था, यथा-

''विजन-वन/वल्लरी पर (5-5 वर्ण)
सोती थी सुहागभरी/स्नेहस्वप्न मग्न/ (8-8 वर्ण)
अमल कोमल तनु/तरूणी जुही की कली/ (8-8 वर्ण)
दृग बंद किये/शिथिल पत्रांक में (6-7 वर्ण)
वासंती/निशा थी/'' (3-3 वर्ण)

-'जुही की कली'

इस मुक्त छन्द के मर्म का उल्लेख करते हुए स्वयं निराला ने लिखा कि- ''यहाँ सोती थी सुहागभरी, अक्षरों का एक छन्द आप ही आप बन गया। तमाम लड़ियों की गति कवित्त छन्द की तरह है।''[6] वस्तुतः इस छन्द की लय घनाक्षरी की ही है परन्तु इसके चरण विषम हैं और तुक भी नहीं है। डॉ0 नामवर सिंह का कहना है कि, ''मुक्त यह इस बात में है कि भावावेग के अनुकूल इसके चरणों का विस्तार और संकोच किया गया है, साथ ही घनाक्षरी की तरह यह आठ चरणों में ही समाप्त नहीं हो जाता। जब तक इसका भाव-प्रवाह समाप्त नहीं होता तब तक इसका लय-प्रवाह भी बढ़ता चला जाता है। पुराना कवि इस कविता को संभवतः तीन या चार घनाक्षरियों में लिखता।''[7]

जहाँ तक छन्दों में तुकों से पलायन की बात है हम पाते हैं कि यह कार्य द्विवेदी-युगीन कवियों ने ही आरंभ कर दिया था। ''तात्पर्य यह है कि छायावाद ने मुक्त छन्द का जो प्रचलन किया वह भाव-स्वच्छन्दता की आवश्यकता से प्रेरित होकर। तुकों से छन्द की मुक्ति तो द्विवेदी-युग से ही आरंभ हो गयी थी, लेकिन पूर्ण मुक्ति का कार्य बहुत कुछ बाकी था और उसे छायावाद के निराला ने पूरा कर दिया।... छन्दों की मुक्ति निराला जैसे ही मुक्त पुरूष के हाथ संभव थी।''[8] निराला ने जिस कवित्त को तोड़कर मुक्त छन्द का आविष्कार किया उस कवित्त को उन्होंने हिन्दी का जातीय छन्द बताया और लिखा कि- ''हिन्दी में मुक्त छन्द कवित्त छन्द की बुनियाद पर सफल हो सकता है कारण यह छन्द चिरकाल से इस जाति के कंठ का हार हो रहा... यदि हिन्दी का कोई जातीय छन्द चुना जाय तो वह यही होगा।''[9] यह वही वर्णिकगण वृत्त है जिसमें लगभग समूची रीतिकालीन कविता समाहित है। देव कवि को यह घनाक्षरी छन्द अतिशय प्रिय था। उन्होंने तो उसमें प्रयोग कर 31 और 32 वर्ण की जगह एक वर्ण बढ़ाकर 33 वर्ण कर दिया जिसे उन्हीं के नाम पर इसे 'देव-घनाक्षरी' कहा गया।

निराला का यह मुक्त छन्द सांस्कृतिक जागरण और देशाभिमान का भी प्रतीक बन गया। डॉ0 पुत्तुलाल शुक्ल ने लिखा कि- ''मुक्त छन्द की इस धारा को स्वतंत्र जागरण के संदेश के रूप में माना जा सकता है। प्रथम महायुद्ध के बाद जिस प्रकार भारत अपनी राजनीतिक परतंत्रता से मुक्ति पाना चाहता था उसी प्रकार छन्दों के प्रयोग में भी कवि लोग रूढ़ियों से मुक्त होकर एक आत्म-संयम जनित नियम की सृष्टि करके अपने मानसिक स्वातंत्र्य का परिचय देना चाहते थे। समाज में जब स्वतंत्रता की चेतना जागती है तो सभी भूमियों में उसका प्रयोग परिलक्षित होता है।''[10] डॉ0 बच्चन सिंह ने भी कुछ इसी अर्थ में कहा कि - ''काव्यरूपी जानकी का जो अनेक प्रतिबंधों में जकड़ी हुई थी उन्होंने (निराला ने) उद्धार किया। उसे बंदीगृह से निकालकर खुले आसमान में अपने सहधर्मियों के निकट ला खड़ा किया।''[11] आचार्य नंददुलारे वाजयपेयी ने लिखा कि - ''मुक्त छन्द में निराला ने जहाँ एक ओर 'जूही की कली' जैसी कोमल कल्पना विशिष्ट रचना दी, वहीं 'जागो फिर एक बार' जैसा उदात्त वीर रस का काव्य भी दिया।.... काव्य का चिर दिन से चले आते हुए छन्द बंध से छूटना हिन्दी में एक स्मरणीय घटना है। इस श्रेय के अधिकारी निराला हैं।''[12] 'जागरण' शीर्षक कविता में निराला ने मुक्त छन्द को 'मन का सहज प्रकाशन' कहा और बताया कि इससे भावों का प्रकटीकरण अकृत्रिम रूप से होता है-

''मुक्त छंद
सहज प्रकाशन वह मन का
निज भावों का प्रकट अकृत्रिम चित्र।''[13]

सन् 1924 में निराला ने प्रगल्भ भाव से हिन्दी कविता के सम्मुख अपने अंतर्मन के भावों को बड़ी कोमलता से रखते हुए कहा कि-

''अर्ध विकच इस हृदय कमल में आ तू
प्रिये! छोड़कर बंधनमय छंदों की छोटी राह।
गजगामिनी, वह पथ तेरा संकीर्ण, कंटकाकीर्ण।''[14]

इस प्रकार से हिन्दी कविता को 'बंधनमय छन्दों की छोटी राह' से निकालकर निराला ने अत्यंत ही व्यापक और प्रशस्त फलक पर उसकी प्रतिष्ठा की, जिसका प्रभाव यह रहा कि धीरे-धीरे हिन्दी जगत ने इसे व्यापक प्रारंभिक विरोधों के बावजूद भी स्वीकार कर लिया। निराला के इस छन्द से प्रभावित होकर स्वयं उनके ही समय के छायावादी कवियों 'पंत' और 'प्रसाद' ने भी इसका प्रयोग किया। प्रसाद ने जहाँ 'पेशोला की प्रतिध्वनि' और 'महाराणा का महत्व' जैसी रचनाएँ मुक्त छन्द में लिखीं वही 'पंत' ने 'उच्छवास' 'आँसू' और 'परिवर्तन' जैसी श्रेष्ठ रचनाओं को मुक्त छन्द में ही लिखा। 'परिवर्तन' मुक्त छन्द में लिखी गयी 'पल्लव' संग्रह की एक विशिष्ट रचना है।

छायावाद के पश्चात उत्तर छायावाद, प्रगति-प्रयोगवाद एवं नयी कविता के कवियों ने तो पूरी तरह से इसी छन्द को अपना लिया। 'तारसप्तक' के 'राहों के अन्वेषी' कवियों ने अपनी अधिकांश रचनाएँ जब इसी छन्द में कीं तब उसके संपादक कवि अज्ञेय को कहना पड़ा-

''मैं खड़ा खोले सभी कटिबंध पिंगल के,
मुक्त मेरे छन्द, भाषा मुक्ततर है,
मुक्ततम मम भाव पागल के।''[15]

यहाँ आकर छन्द ही नहीं बल्कि भाषा और भाव भी पूरी तरह स्वच्छंद हो गये। मुक्तिबोध, नेमिचंद्र जैन, भारतभूषण अग्रवाल, भवानी प्रसाद मिश्र, नरेस मेहता, गिरिजा कुमार माधुर, अज्ञेय, रामविलास शर्मा, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, शमशेर बहादुर सिंह, कुँवर नारायण, रघुवीर सहाय, प्रभाकर माचवे, धर्मवीर भारती, हरि नारायण आदि कवियों की नयी पीढ़ी ने इसे हाथोंहाथ लिया। नयी कविता और समकालीन कविता के कवियों ने इसके पूर्ण प्रसार में अपना अविस्मरणीय और अतुलनीय योगदान दिया। डॉ0 जगदीश गुप्त ने ठीक ही कहा है कि - ''मुक्त छन्द की व्यापक स्वीकृति का श्रेय छायावाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद से भी अधिक नयी कविता को है।''[16] जिसने कवि निराला द्वारा अविष्कृत इस छन्द को पूरी तरह आत्मसात् कर लिया। भाव, भाषा और छन्द जहाँ पूरी स्वच्छंदता के साथ 'प्रास के रजतपाश' से मुक्त होकर अपना प्रसार पा कर कविता को ऊँचाईयों के नये सोपान-शिखर तक ले गये।

सन्दर्भ सूची-

1- श्री सुमित्रानंदन पंतः 'पल्लव' (प्रवेश), राजकमल प्रकाशन प्रा0लि0, नयी दिल्ली, नवम संस्करण, पृ0 33
2- डॉ0 नंदकिशोर नवल (संपादक) : 'निराला रचनावली' (भाग-1, परिमल की भूमिका), राजकमल प्रकाशन प्रा0लि0, नयी दिल्ली, तृतीय संस्करण 1998, पृ0 426
3- वही, पृ0 426
4- वही, पृ0 429
5- डॉ0 नामवर सिंह : 'छायावाद' (खुल गये छन्द के बंध), राजकमल प्रकाशन, प्रा0लि0, नयी दिल्ली, पंचम संस्करण 1990, पृ0 131
6- डॉ0 नंदकिशोर नवल (संपादक) : 'निराला रचनावली' (भाग-1, परिमल की भूमिका), वही, पृ0 429
7- डा0 नामवर सिंह : 'छायावाद' वही, पृ0 131
8- वही, पृ0 132
9- डॉ0 नंदकिशोर नवल (संपादक) 'निराला रचनावली' (भाग-1, परिमल की भूमिका), वही, पृ0 429
10- डॉ0 पुत्तुलाल शुक्ल : 'आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द योजना', प्रकाशक लखनऊ विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण 1958 ई0, पृ0 428
11- डॉ0 बच्चन सिंह : 'क्रांतिकारी कवि निराला', विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण 1992 ई0, पृ0 184
12- आचार्य नंददुलारे वाजपेयी : 'कवि निराला', कमल प्रकाशन, 91 नेपियर टाउन, जबलपुर-1, संस्करण 1997, पृ0 20
13- श्री सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, उद्धृत- 'हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास' (दशम भाग), संपादक- डॉ0 नगेन्द्र, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, प्रथम संस्करण संवत् 2028 वि0, पृ0 318
14- डॉ0 नंदकिशोर नवल (संपादक) 'निराला रचनावली' (भाग-1, परिमल की 'भूमिका') वही, पृ0 102
15- अज्ञेय : 'तारसप्तक', भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, पेपर बैक संस्करण-2000 ई0, पृ 292
16- सच्चिदानन्द वात्स्यायन (संपादक) 'समकालीन कविता में छन्द', जगदीश गुप्त का लेख- 'छन्द : समकालीन अवधारणाएँ', प्रकाशक : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण-1987, पृ0 73

●

भारतीय वाङ्मय : अनुमान-विचार

योगेश कुमार त्रिपाठी एवं डॉ0 शिवराम गंगोपाध्याय***

भारतीय तर्कशास्त्र में अनुमान का महत्वपूर्ण स्थान है। चार्वाकदर्शन के अतिरिक्त शेष सभी भारतीयदर्शनों ने अनुमान को प्रमाण रूप में स्वीकार किया है और उसे परोक्ष पदार्थों की व्यवस्था एवं तत्वज्ञान का अन्यतम साधन माना है।

विचारणीय है कि भारतीय वाङ्मय के ठान्थों में सर्वाधिक विवेचित एवं प्रतिपादित इस महत्वपूर्ण और अधिक उपयोगी अनुमानप्रमाण का संव्यवहार निबद्धरूप में उपलब्ध ऋग्वेदादि सहित-ग्रन्थों में अनुमान या उसका पर्याय शब्द उपलब्ध नहीं होता। उपनिषद्-साहित्य में एक शब्द ऐसा अवश्य आता है जिसे अनुमान का पूर्व संस्करण कहा जा सकता है और वह शब्द है 'वाकोवाक्यम्'।[1] छान्दोग्योपनिषद् के इस शब्द के अतिरिक्त 'ब्रह्मबिन्दूपनिषद्' में अनुमान के अङ्ग हेतु और दृष्टान्त तथा मैत्रायणी-उपनिषद् में (बहिरात्मा गत्यन्तरात्मनानुमीयते) अनुमान सूचक 'अनुमीयते' क्रिया शब्द मिलते हैं। इसी तरह सुबालोपनिषद् में (शिक्षा कल्पो.....न्यायोमीमांसा...) न्याय शब्द का निर्देश है। इन उल्लेखों के अध्ययन से हम यह तथ्य निकाल सकते हैं कि उपनिषद्काल में अध्यात्म-विवेचन के लिए क्रमशः अनुमान का स्वरूप उपस्थित होने लगा था।

शाङ्करभाष्य में (वाकोवाक्यम् तर्कशास्त्रम्) 'वाकोवाक्यम्' का अर्थ 'तर्कशास्त्र' दिया है। इस अर्थ और व्याख्यान के आधार पर अनुभवगम्य अध्यात्मज्ञान को अभिव्यक्त करने के लिए छान्दोग्योपनिषद् में व्यवहृत 'वाकोवाक्यम्' को तर्कशास्त्र का बोधन मान लेने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है। ज्ञानोत्पत्ति की प्रक्रिया का अध्ययन करने से अवगत होता है कि आदिम-मानव को अपने प्रत्यक्ष ज्ञान की सिद्धि अथवा उसकी सम्पुष्टि के लिए किसी तर्क, हेतु या युक्ति की आवश्यकता पड़ी होगी।

प्राचीन बौद्ध पाली-ग्रन्थ 'ब्रह्मजालसुत्त' में तर्की और तर्क शब्द प्रयुक्त हुए हैं, जो क्रमशः तर्कशास्त्री तथा तर्कविद्या के अर्थ में आये हैं। यद्यपि यहाँ तर्क का अध्ययन आत्मज्ञान के लिए अनुपयोगी बताया गया है, किन्तु तर्क और तर्की शब्दों का प्रयोग यहाँ क्रमशः 'कुतर्क' (वितण्डावाद) और कुतर्की (वितण्डावादी) के अर्थ में हुआ ज्ञात होता है।

न्यायसूत्र (अक्षपाद गौतम) और उसकी व्याख्याओं में तर्क और अनुमान में यद्यपि भेद किया है- तर्क को अनुमान नहीं, अनुमान का अनुग्राहक कहा है। पर यह भेद बहुत उत्तरकालीन है। किसी समय हेतु, तर्क, न्याय और अन्वीक्षा ये सभी अनुमानार्थक माने जाते थे। उद्योतकार के (अपरेत्वनुमानं तर्क इत्याहुः। हेतुस्तर्को न्यायाऽन्वीक्षा इत्यनुमानमाख्यायत इति) उल्लेख से यह स्पष्ट हो जाता है। न्यायकोशकार ने तर्क शब्द के अनेक अर्थ प्रस्तुत किये हैं। उनमें आन्वीक्षिकी-विद्या और अनुमान अर्थ भी दिया है।

वाल्मीकि रामायण में आन्वीक्षिकी शब्द का प्रयोग है जो हेतुविद्या या तर्कशास्त्र के अर्थ में हुआ है। यहाँ उन लोगों को 'अनर्थकुशल', 'बाल', 'पण्डितमानी' और 'दुर्बुध' कहा है जो प्रमुख धर्मशास्त्रों के होते हुए भी व्यर्थ आन्वीक्षिकी-विद्या का सहारा लेकर कथन करते या उसकी पुष्टि करते हैं।

महाभारत में आन्वीक्षिकी के अतिरिक्त हेतु, हेतुक, तर्कविद्या जैसे शब्दों का भी प्रयोग पाया जाता है। तर्कविद्या को तो आन्वीक्षिकी का पर्याय ही बतलाया है। एक स्थान पर याज्ञवल्क्य ने विश्वावसु के प्रश्नों का उत्तर आन्वीक्षिकी के माध्यम से दिया और उसे 'उच्चविद्या' कहा है। दूसरे स्थल पर याज्ञवल्क्य राजर्षि जनक को आन्वीक्षिकी का उपदेश देते हुए उसे चतुर्थी-विद्या तथा मोक्ष के लिए त्रयी, वार्ता और दण्डनीति तीनों विद्याओं से अधिक उपयोगी बतलाते हैं। इसके अतिरिक्त एक अन्य जगह शास्त्रश्रवण के अनधिकारियों के लिए 'हेतुदुष्ट' शब्द आया है, जो असत्य हेतु प्रयोग करने वालों के ठाहण का बोधक प्रतीत होता है। एक अन्य प्रकरण में नारद को पंचावयववयुक्त वाक्य के गुणदोषों का वेत्ता और 'अनुमानविभागवित्' बतलाया है। इन समस्त उल्लेखों से अवगत होता है कि महाभारत में अनुमान के उपादानों और उसके व्यवहार की चर्चा है।

आन्वीक्षिकी शब्द अनुमान का बोधक है। इसका यौगिक अर्थ है अनु+ पश्चात्+ ईक्षा देखना अर्थात् फिर जाँच करना। वात्स्यायन के (प्रत्यक्षागमाश्रितमनुमानं सान्वीक्षा। प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्यान्वीक्षणमन्वीक्षा। तयाप्रवर्तते इत्यान्वीक्षिकी न्यायविद्या न्यायशास्त्रम्) अनुसार प्रत्यक्ष और आगम से देखे जाने पदार्थ को विशेष रूप से जानने का नाम 'अन्वीक्षा' है और यह अन्वीक्षा ही अनुमान है। अन्वीक्षापूर्वक प्रवृत्ति करने वाली विद्या आन्वीक्षिकी-न्यायविद्या-न्यायशास्त्र है। तात्पर्य यह कि जिस शास्त्र में वस्तु सिद्धि के लिए अनुमान का विशेष व्यवहार होता है उसे वात्स्यायन ने अनुमानशास्त्र, न्यायशास्त्र, न्यायविद्या और आन्वीक्षिकी बतलाया है। इस प्रकार आन्वीक्षिकी न्यायशास्त्र की संज्ञा को धारण करती हुई अनुमान के रूप को प्राप्त हुई है।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में आन्वीक्षिकी के समर्थन में कहा गया है कि ''विभिन्न युक्तियों द्वारा विषयों का बलाबल इसी विद्या के आश्रय से ज्ञात होता है। यह लोक का उपकार करती है, दुःख, सुख में बुद्धि को स्थैर्य प्रदान करती है, प्रज्ञा, वचन और क्रिया में कुशलता लाती है। जिस प्रकार दीपक

* शोधच्छात्र, वैदिक दर्शन विभाग, काशीहिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी

** शोध निर्देशक, वैदिक दर्शन विभाग, काशीहिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी

समस्त पदार्थों का प्रकाशक है उसी प्रकार यह विद्या भी सब विद्याओं, समस्त कार्यों और समस्त धर्मों की प्रकाशिका है।'' कौटिल्य के इस विवेचन और उपर्युक्त वर्णन से आन्वीक्षिकी विद्या को अनुमान का पूर्वरूप कहा जा सकता है।

मनुस्मृति में जहाँ तर्क और तर्की शब्दों का प्रयोग मिलता है वहाँ हेतुक, आन्वीक्षिकी और हेतुशास्त्र शब्द भी उपलब्ध होते हैं। एक स्थान पर (प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं च विविधागमम्। त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता।।) तो धर्मतत्व के जिज्ञासु के लिए प्रत्यक्ष और विविध आगमरूप शास्त्र के अतिरिक्त अनुमान को भी जानने का स्पष्ट निर्देश किया है। इससे प्रतीत होता है कि मनुस्मृतिकार के समय में हेतुशास्त्र और आन्वीक्षिकी शब्दों के साथ अनुमान शब्द भी व्यवहृत होने लगा था और उसे असिद्ध या विवादापन्न वस्तुओं की सिद्धि के लिए उपयोगी माना जाता था।

इस प्रकार भारतीय वाङ्मय के अनुशीलन से अवगत होता है कि भारतीय तर्कशास्त्र आरम्भ में 'वाकोवाक्यम्', उसके पश्चात् आन्वीक्षिकी हेतुशास्त्र, तर्कशास्त्र और न्यायशास्त्र या प्रमाणशास्त्र के रूपों में व्यवहृत हुआ। उत्तरकाल में प्रमाणमीमांसा का विकास होने पर हेतुविद्या पर अधिक बल दिया गया। फलतः आन्वीक्षिकी में अर्थ संकोच होकर वह हेतुपूर्वक होने वाले अनुमानकी बोधक हो गयी। अतः 'वाकोवाक्यम्' आन्वीक्षिकी का और आन्वीक्षिकी अनुमान का प्राचीन मूलरूप ज्ञात होता है।

न्याय-परम्परा में अनुमानः- अनुमान का विकास निबद्ध रूप में अक्षपाद के न्यायसूत्र से आरम्भ होता है। न्यायसूत्र के व्याख्याकारों- वात्स्यायन, उद्योतकर, वाचस्पति, जयन्त भट्ट, उदयन, गंगेशोपाध्याय, वर्धमानोपाध्याय, विश्वनाथ आदि ने अनुमान के स्वरूप, आधार, भेदोपभेद, व्याप्ति, पक्षधर्मता, व्याप्तिग्रहण, अवयव आदि का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। इसके विकास में प्रशस्तपाद, माठर, कुमारिल जैसे दार्शनिकों के अतिरिक्त दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर आदि बौद्ध नैयायिकों तथा विद्यानन्द, हेमचन्द आदि जैन तार्किकों ने भी योगदान किया है। तर्कशास्त्र की दृष्टि से अनुमान केवल कार्यकारणरूप बौद्धिक-व्यायाम नहीं है, अपितु निःश्रेयस-उपलब्धि में परिगणित है।[2]

महर्षि गौतम ने अनुमान को 'तत्पूर्वकम्'[3] पद से परिभाषित किया है। इस परिभाषा में 'तत्' पद पूर्वलक्षित प्रत्यक्ष के लिए प्रयुक्त है तथा वह सूचक है प्रत्यक्ष-पूर्व अनुमान का, किन्तु वह अनुमान क्या है? यह जिज्ञासा बनी रहती है। सूत्र में अनुमान के तीन भेद बताये गये हैं- पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट।[4] शब्दार्थ दृष्टि से 'पूर्ववत् समान' और 'शेष के समान' यही अर्थ उससे उपलब्ध होता है तथा 'सामान्यतोदृष्ट' से 'सामान्यतः दर्शन' अर्थ ज्ञात होता है।

सोलह पदार्थों[5] में एक अवयवपदार्थ[6] परिगणित है। इसके पाँच प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन भेदों का परिभाषा सहित निर्देश किया है।[7] अनुमान इन पाँच से सम्पन्न एवं पूर्ण होता है। इनके बिना अनुमान सम्भव नहीं है। 'हेतु' शब्द का प्रयोग अनुमान के लक्षण में एवं उक्त पंचावयवों के मध्य द्वितीय अवयव के रूप में और हेत्वाभास विवेचन-सन्दर्भ में होता है।

अनुमान-परीक्षा के प्रकरण में अनुमान के मिथ्या होने की आशंका की गयी है।[8] इससे यह स्पठ होता है कि गौतम के समय में अनुमान की परम्परा विकसित रूप से विद्यमान थी। 'वर्तमानाभावे सर्वाग्रहणम् प्रत्यक्षानुपपत्तेः'[9] इस 'अनुपपत्ति' शब्द का प्रयोग हेतु के रूप में किया गया है। पञ्चम्यन्त 'अनुपपत्ति' के होने से अनुमान के स्वरूप को भी निर्धारित किया जा सकता है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि गौतम अनुमान के मूलभूत प्रतिज्ञा, साध्य और हेतु इन तीनों ही अंगों के स्वरूप और उनके प्रयोग से परिचित थे। अनुमान की विशिष्टता साध्य-साधनभाव की उपयुक्तता को प्रमुख रूप से दर्शित करना है। इस उपयुक्तता का प्रयोगात्मकरूप साधर्म्य और वैधर्म्य दृष्टान्त में पाया जाता है।[10] कणाद के वैशेषिकसूत्र में अनुमानप्रमाण का निर्देश 'लैंगिक' शब्द द्वारा किया गया है[11], पर उसका विवेचन न्यायसूत्र के आरम्भ में ही दृष्टिगोचर होता है। अतः अनुमान का निबद्धरूप में ऐतिहासिक विकासक्रम गौतम से आरम्भ होता है।

अनुमान का स्वरूप, उसकी परीक्षा, हेत्वाभास, अवयव एवं उसके भेदों को ज्ञात करने के गौतम द्वारा प्रतिपादित न्यायसूत्र एक महत्वपूर्ण एवं उपयुक्त ग्रन्थ है। यद्यपि अनुमान के निर्धारण में पक्षधर्मिता, व्याप्ति और परामर्श का उल्लेख इस ग्रन्थ में नहीं मिलता, फिर भी गौतम द्वारा प्रस्तुत अनुमान समीक्षा से अनुमान का स्वरूप प्रस्तुत हो जाता है। गौतम ने अनुमान-सम्बन्धी विवादों का भी विवेचन किया है, यथा- प्रतिज्ञा के स्वरूप के निर्धारण के सम्बन्ध में विवाद था- कोई साध्य को प्रतिज्ञा मानता था, कोई केवल धर्मी को प्रतिज्ञा कहता था। उन्होंने साध्य के निर्देश को प्रतिज्ञा कहकर विवादों का निरसन किया।[12] इसी प्रकार हेतु, अवयव, हेत्वाभासों तथा अनुमान के सम्बन्ध में अनेक विप्रतिपत्तियों का उन्होंने समाधान प्रस्तुत किया और एक सुदृढ़ परम्परा स्थापित की।

अनुमान सम्बन्धी उपादानों की परिभाषाएँ न्यायसूत्र के भाष्यकार वात्स्यायन ने अंकित की और अनुमान को पुष्ट और सम्बद्ध रूप प्रदान किया है। व्याकरण के क्षेत्र में जो स्थान भाष्यकार पतंजलि का है, न्याय में वही स्थान वात्स्यायन का है। वात्स्यायन ने सर्वप्रथम 'तत्पूर्वकम्' पद को 'लिंगलिंगिनोः सम्बन्धदर्शनपूर्वकमनुमानम्' परिभाषा से परिभाषित किया और लिंग-लिंगी के सम्बन्धदर्शन को अनुमान का कारण बतलाया है।

गौतम ने अनुमान के त्रिविधि भेदों का उल्लेखमात्र किया किन्तु वात्स्यायन ने उनको उदाहरण के साथ परिभाषित किया है।[13] इन परिष्करों के अध्ययन बिना गौतम के अनुमानस्वरूप को समझ पाना सम्भव नहीं होगा। अतः अनुमान के स्वरूप और उसकी भेद व्यवस्था के स्पष्टीकरण का श्रेय बहुत कुछ वात्स्यायन को जाता है।

वात्स्यायन ने अनुमान-परीक्षा प्रकरण में त्रिविध अनुमानों के मिथ्यात्व की आशंका प्रस्तुत कर उनकी सत्यता की सिद्धि के लिए कई प्रकार से विचार किया है। आपत्तिकार के अनुसार 'ऊपर के प्रदेश में वर्षा हुई है, क्योंकि नदी में बाढ़ आयी है; वर्षा होगी, क्योंकि चींटियाँ अण्डे लेकर जा रही हैं, ये दोनों अनुमान दोषरहित है, क्योंकि कहीं नदी की धारा में रूकावट होने से नदी में बाढ़ आ सकती है। इसी प्रकार बिल के नठ होने पर चींटियाँ अण्डे ले जाती हैं। इसी तरह सामान्यतोदृठ अनुमान का उदाहरण- 'मोर बोल रहे हैं, अतः वर्षा होगी'- यह भी मिथ्यानुमान है, क्योंकि पुरुष भी परिहासवश मोर की बोली बोल सकता है।[14] वात्स्यायन इन सभी आपत्तियों का निराकरण करते हुए कहते हैं कि उक्त अनुमान, अनुमान नहीं हैं, अपितु अनुमानाभास हैं। अनुमान की सत्यता का आधार विशिष्ट हेतु ही होता है, जो यहाँ कोई उपलब्ध नहीं है। इस प्रकार वात्स्यायन ने अनुमान के उपादान कारणों, दोषों, परिभाषाओं से एक नये चिन्तन प्रक्रिया को प्रस्तुत करते हैं।

अनुमान के क्षेत्र में वात्स्यायन से भी अधिक महत्वपूर्ण कार्य उद्योतकर[15] का है। उन्होंने लिंगपरामर्श को अनुमान कहा है। इससे पूर्व अनुमान की

परिभाषा कारणसामग्री पर निर्भर थी, किन्तु उद्योतकर ने उसे स्वतन्त्र रूप से स्थापित किया। इनके अनुसार अनुमान के अनन्तर अनुमिति होती है। उद्योतकर की यह अनुमान-परिभाषा इतनी दृढ़ एवं उपयुक्त थी कि उत्तरवर्ती सभी व्याख्याकारों ने इसे अपनाया है। नव्य नैयायिकों ने तो उसमें वृहद्रूप से परिष्कार उपस्थित किये हैं, जिससे तर्कशास्त्र के क्षेत्र में अनुमान की व्यापकता बनी है।

न्यायवार्तिककार ने[16] गौतमोक्त पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतादृष्ट इन तीनों अनुमान-भेदों की व्याख्या करने के अतिरिक्त अन्वयी, व्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी इन तीन नये अनुमान-भेदों की रचना किया जो इनसे पूर्व न्याय-परम्परा में नहीं था।

न्यायभाष्यकार के समय तक अनुमानावयवों[17] की मान्यता दो रूपों में उपलब्ध होती है- (1) पंचावयव और (2) दशावयव। वात्स्यायन दशावयव मान्यता की मीमांसा करके पञ्चावयव की मान्यता को ही पुष्ट करते हैं। उद्योतकर ने[18] त्र्यवयवमान्यता की भी समीक्षा की है। सांख्य विद्वान् माठर ने[19] भी अनुमान के तीन अवयव प्रतिपादित किये हैं।

वाचस्पति के[20] विचार भी अनुमान के लिये महत्वपूर्ण है। व्याप्तिग्रह की सामग्री में तर्क का प्रवेश उनकी ऐसी देन है जिसका अनुसरण उत्तरवर्ती सभी नैयायिकों ने किया है। उदयनका[21] चिन्तन सामान्यतया पूर्वपरम्परा का समर्थक है, किन्तु अनेक स्थलों पर उनकी सूक्ष्म विचार-धारा उनकी मौलिकता का स्पष्ट प्रकाशन करती है। उपाधि और व्याप्ति की जो परिभाषाएँ उन्होंने प्रस्तुत की, उत्तरकाल में उन्हीं को केन्द्र बनाकर पुष्कल विचार हुआ है।

अनुमान के विकास में नयी क्रान्ति उदयन से आरम्भ होती है। सूत्र और व्याख्या पद्धति के स्थान पर प्रकरण-पद्धति का जन्म होता है और स्वतन्त्र प्रकरणों द्वारा अनुमान के स्वरूप, आधार, अवयव, परामर्श, व्याप्ति, उपाधि, हेतु और पक्षसम्बन्धी दोषों का इस काल में सूक्ष्म विचार किया गया है।

गंगेश की तत्वचिन्तामणि में अनुमान की परिभाषा, उद्योतकर के न्यायवार्तिक में प्रदर्शित परिभाषा समान प्रतीत होता है, परन्तु गंगेश का वैशिष्टय यह है कि उन्होंने अनुमिति की ऐसी परिभाषा[22] प्रस्तुत किया जो न्यायपरम्परा में अब तक प्रचलित नहीं थी। उसमें प्रयुक्त व्याप्ति[23] और पक्षधर्मता[24] पदों का उन्होंने नये तथा विस्तृतरूप से प्रदर्शित किया है। व्याप्तिग्रह के साधनों में सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्तिपर[25] सर्वाधिक बल दिया है। उनके अनुसार यदि सामान्यलक्षणा न हो तो अनुकूल तर्कादि के बिना हेतु में व्यभिचार शंका संभव न हो पायेगा, क्योंकि प्रसिद्ध धूम में वह्निसम्बन्ध का ज्ञान हो जाने से कालान्तरीय एवं देशान्तरीय धूम के सद्भावका साधक प्रमाण न होने से उसका ज्ञान नहीं होता। सामान्यलक्षणा द्वारा समस्त धूमों की उपस्थिति हो जाने और धूमान्तर का विशेष दर्शन न होने से व्यभिचार की आशंका सम्भव है। निष्कर्ष यह है कि व्यभिचारशंका के लिए सामान्यलक्षणा का मानना आवश्यक है और व्यभिचारशंका होने पर ही तर्कादिकी उपयोगिता प्रभावित होती है। इसी प्रकार गंगेश ने अनुमान के सम्बन्ध में मौलिक विचार नव्यन्याय के आलोक में किया है तथा नये सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं।

विश्वनाथ, जगदीश तर्कालंकार, मथुरानाथ तर्कवागीश, गदाधर आदि नव्यनैयायिकों ने भी अनुमान पर बहुत सूक्ष्म एवं गूढ़ विचार करके उसे समृद्ध किया है। केशव मिश्र की तर्कभाषा और अन्नम्भट्ट की तर्कसंठाह प्राचीन और नवीन न्याय की प्रतिनिधि तर्ककृतियाँ हैं जिनमें अनुमान का सुबोध और सरल भाषा में विवेचन उपलब्ध है।

सन्दर्भ सूची-

1. वाकोवाक्यमेकायनं.....अध्येमि। छान्दोग्योपनिषद्- 7/1/2
2. प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्। आश्रयः सर्वधर्माणां सेयमान्वीक्षिकी मता।।
3. न्यायसूत्र- 1/1/5, गौतम अक्षपाद
4. न्यायसूत्र- अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतोदृठं च। 1/1/5
5. प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजाति-निठाहः स्थानानां तत्वज्ञानानिःश्रेयसाधिगमः। 1/1/1
6. प्रतिज्ञाहेतुदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः। 1/1/31
7. न्यायसूत्र- 1/1/32 से 1/1/38
8. रोधोपघातसादृश्येभ्यो व्यभिचारादनुमानप्रमाणम्। 2/1/37
9. न्यायसूत्र- 2/1/42
10. साध्यसाधर्म्यात् तद्धर्मभावी दृष्टान्तोदाहरणम्- 1/1/35; तद्विपर्ययाद्वा विपरीतम्। 1/1/36
11. तयोर्निष्पत्तिः प्रत्यक्षलैंगिकाभ्याम्। अस्येदं कार्यं कारणं संयोगि विरोधि समवायि चेति लैंगिकम्, वैशेषिकसूत्र- 10/1/3, 9/2/1
12. साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा 1/1/33
13. पूर्ववदिति- यत्र कारणेन कार्यमनुमीयते, यथा मेघोन्नत्या भविष्यति वृष्टिरिति। शेषवत्- यत्र कार्येण कारणमनुमीयते, पूर्वोदकविपरीतमुदकं नद्याः पूर्णत्वं शीघ्रत्वञ्चदृष्ट्वा स्रोतसोऽनुमीयते भूतावृष्टिरिति। सामान्यतोदृष्टं- व्रज्यापूर्वकमन्यत्र दृष्टस्याऽन्यत्र दर्शनमिति, तथा चाऽऽदित्यस्य, तस्मादस्त्यप्रत्यक्षाऽप्यादित्यस्य व्रज्येति।
14. नेदं मयूखाशितं तत्सदृशोऽयं शब्द इति विशेषापरिज्ञानान्मिथ्यानुमानमिति।'- न्यायदर्शनम् 2/1/39
15. न्यायवार्तिक- 1/1/5
16. न्यायवार्तिक
17. प्रतिज्ञाहेतूदाहरणनिगमनान्यवयवाः- 1/1/32- न्यायभाष्य
18. न्यायवार्तिक- 1/1/32
19. पक्षहेतुदृष्टान्ता इति त्र्यवयवम्- माठरवृ0- का0 5
20. न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका- 1/1/5
21. किरणावली
22. तत्र व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानजन्यं ज्ञानमनुमितिः, तत्करणमनुमानम्। तत्व चिन्तामणि, अनुमानलक्षण।
23. नन्वनुमितिहेतुव्याप्तिज्ञाने का व्याप्तिः। न तावदव्यभिचरितत्वम्। ....अत्रोच्यते.....। तत्वचिन्तामणि, अनुमानलक्षण।
24. तत्वचिन्तामणिः, अनुमानखण्ड।
25. व्याप्तिग्रहश्च सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्या सकलधूमादिविषयकः.....। तत्वचिन्तामणि, अनुमानलक्षण।

●

दलित विमर्श की वैचारिकी और महात्मा गाँधी

*डॉ0 राकेश कुमार राम**

'महात्मा गाँधी और दलित विमर्श' की बात करना कुछ उसी तरह है, जैसे किसी शेर के बाड़े में मेमने को बाँध देना। मेमना यहाँ तभी तक सुरक्षित है जब तक शेर को अपने बलशाली होने का अहसास न रहे। जबकि हम सब जानते हैं कि शेर को यह हमेशा एहसास रहता है कि वह बलशाली है। सर्वविदित है कि महात्मा गाँधी ने दलित अछूत रूपी मेमने को सवर्ण रूपी शेर के बाड़े में बाँधने का ही भरसक प्रयत्न किया है। ऐसा हो भी न क्यूँ? 2 अक्टूबर 1869 ई0 को पोरबन्दर (गुजरात) में करमचंद गाँधी की चौथी पत्नी पुतली बाई के अन्तिम पुत्र के रूप में जन्में महात्मा गाँधी का पूरा परिवार ही सनातनी था। माँ हमेशा वैष्णव मंदिर जातीं और बिना पूजा-पाठ के कभी भोजन न करतीं, जिनका प्रभाव बहुत हद तक गाँधी जी पर पड़ा। यह अलग बात है कि गाँधी जी का बचपन कोई खास आकर्षित करने वाला नहीं रहा है। पढ़ने में साधारण, मंद बुद्धि वाले, उदंड इतना कि अपने शिक्षकों को गाली तक दे देते थे। जैसा कि वे अपनी आत्मकथा में लिखते हैं- ''बचपन मेरा पोरबन्दर में ही बीता। याद पड़ता है कि मुझे किसी पाठशाला में भरती किया गया था। मुश्किल से थोड़े पहाणे मैं सीखा था। मुझे सिर्फ इतना याद है कि मैं उस समय दूसरे लड़कों के साथ अपने शिक्षकों को गाली देना सीखा था और याद नहीं पड़ता, इस पर से मैं अंदाज लगाता हूँ कि मेरी बुद्धि मंद रही होगी।''[1] जैसे-तैसे राजकोट की पाठशाला से हाईस्कूल की परीक्षा पास करते हैं। तेरह साल की उम्र में 'कस्तूरबा बाई' से विवाह हो जाता है, जो बिल्कुल निरक्षर थीं। परन्तु स्वभाव से सीधी, मेहनती और कम बोलने वाली थी। इसी स्वभाव के कारण बहुत सारा दुःख सहते हुए भी गांधी जी जीवनभर पत्नी कस्तूरबा बाई का निश्चल सहयोग पाते रहे।

गांधी जी का सामाजिक सरोकारों से जुड़ाव बैरिस्टर बनने के बाद शुरू होता है। 10 जून 1891 ई0 के दिन इग्लैण्ड से वकालत की परीक्षा पास करके 11 जून को इग्लैण्ड के हाईकोर्ट में अपना नाम दर्ज कराते हैं। तत्पश्चात् 12 जून को हिन्दुस्तान के लिए रवाना होते हैं, जहाँ बहुत सारी विसंगतियों से उनका सामना होता है। जीवन के इन्हीं संघर्ष के दिनों में दक्षिण अफ्रिका के व्यापारी सेठ अब्दुल्ला के फर्म का एक संदेश आता है कि ''दक्षिण अफ्रिका में हमारा व्यापार है। हमारी फर्म बड़ी है। वहाँ हमारा एक मुकदमा चल रहा है। चालीस हजार पौण्ड का हमारा दावा है। मामला बहुत लम्बे समय से चल रहा है। हमारे पास अच्छे से अच्छे वकील, वैरिस्टर हैं। अगर आप अपने भाई को भेजें तो वे हमारी मदद करें और उन्हें भी कुछ मदद मिल जाये। वे हमारा मामला हमारे वकीलों को अच्छी तरह से समझा सकेंगे।''[2] 1893 ई0 के अप्रैल महीने में उमंगों से भरा दक्षिण अफ्रिका का दौरा शुरू होता है। इसी दौरे के दौरान उनके जीवन में एक ऐसी घटना घटती है जो उन्हें अंदर तक हिला देती है। दक्षिण अफ्रिका में अब्दुल्ला सेठ के केस के सम्बन्ध में 'डरबन' जाते समय रंगभेद के कारण गोरा अंग्रेज अफसर गाँधी जी को जबरन ट्रेन से बाहर उतार देता है। इस घटना से वे बहुत दुःखी होते हैं और सोचते हैं कि ''या तो मुझे अपने अधिकारों के लिए लड़ना चाहिए या लौट जाना चाहिए, नहीं तो जो अपमान हो उन्हें सहकर प्रिटोरिया पहुँचना चाहिए और मुकदमा खत्म करके देश लौट जाना चाहिए। मुकदमा अधूरा छोड़कर भागना तो नामर्दी होगी। मुझे जो कष्ट सहना पड़ा है सो तो है। वह गहराई तक बैठे हुए महारोग का लक्षण है। वह रोग है 'रंग द्वेष'। यदि मुझमें इस गहरे रोग को मिटाने की शक्ति हो तो उस शक्ति का प्रयोग मुझे करना चाहिए। ऐसा करते हुए स्वयं जो कष्ट सहने पड़े सो सब सहने चाहिए और उनका विरोध रंग-द्वेष को मिटाने की दृष्टि से ही करना चाहिए।''[3]

कई वर्षों तक गांधी जी दक्षिण अफ्रिका में रंग-भेद के खिलाफ अंग्रेजों से संघर्ष करते हैं और इसी मनःस्थिति के साथ 1896 ई0 में हिन्दुस्तान वापस चले आते हैं। इस समय तक भारत में भी लोग अंग्रेजों के इसी रंग-भेद के शिकार थे। गोरे अंठोज काले भारतियों का विभिन्न प्रकार से शोषण करते थे। इन सबका गांधी जी अहिंसात्मक तरीके से विरोध करते हैं और जब तक अंग्रेज भारत छोड़कर चले नहीं जाते तब तक चैन नहीं लेते। यहाँ सहज ही कल्पना किया जा सकता है कि भारत में दलितों की स्थिति कैसी रही होगी जहाँ उनके अपने ही उनके साथ जानवरों से भी बद्तर व्यवहार करते थे। अंग्रेजों का काला भारतीय गुलाम भी दलितों के साथ अंग्रेजों से भी बद्तर व्यवहार करता था। डॉ0 भीम राव अम्बेडकर को छोड़कर दलितों की इस पीड़ा को कोई समझने वाला नहीं था, जो गाँधी जी की ही मनःस्थिति में भारत में रह रहे थे, जो उनका अपना ही देश था। अम्बेडकर के कारण ही गाँधी जी दलितों की इस समस्या की तरफ देखने को बाध्य होते हैं और देश की स्वतंत्रता के बाद इन्हीं विसंगतियों जैसे- धार्मिक, राजनैतिक, छुआछूत आदि से लड़ते हुए एक कट्टर हिन्दू आततायी द्वारा मारे जाते हैं।

गाँधी जी के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का अवलोकन करने पर यह मानना पड़ता है कि औपनिवेशिक दासता के विरूद्ध भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में एक महान योद्धा के रूप में उनका योगदान अमिट है, किन्तु हमें यह भी मानना होगा कि गाँधी जी साम्राज्यवाद विरोधी बनने से बहुत पहले ही समाज के आन्तरिक बुराईयों व असंगतियों के खिलाफ जागरूक हो चुके थे और दक्षिण अफ्रिका में रहते हुए भाषा, स्त्री-शिक्षा एवं रंगभेद नीति आदि को लेकर आगे बढ़ चुके

* असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, डी. ए. वी. पी. जी. कॉलेज, वाराणसी

थे, लेकिन यह भी सत्य है कि उस समय तक छुआछुत जैसी विसंगति उनके कार्यक्षेत्र में नहीं था। यह गाँधी जी के वर्ण समर्थक होने के कारण था अथवा उस समय दक्षिण अफ्रिका में अस्पृश्यता जैसी समस्या नहीं थी, उसके कारण था, कहा नहीं जा सकता, किन्तु भारत आने पर उन्हें समाज, अस्पृश्यता की ज्वाला से दग्ध नजर आया और अम्बेडकर के आन्दोलन से प्रभावित होकर अस्पृश्यता निवारण हेतु जी-जान से लग पड़े। यह अलग बात है कि गांधी जी यहाँ सफल नहीं हो पाते हें, क्योंकि गाँधी जी वर्णाश्रम धर्म का समर्थन करते हुए अस्पृश्यता को मिटाना चाहते थे। इसी विचार के कारण दलितों के सर्वमान्य नेता डॉ0 अम्बेडकर एवं अन्य दलित नेताओं से इनका मतभेद रहा। इस समय के दलित नेताओं का मानना था कि अस्पृश्यता वर्ण व्यवस्था की देन है, अतएव बगैर वर्ण व्यवस्था को समाप्त किये अस्पृश्यता समाप्त नहीं हो सकेगी।

दलित विमर्श, दलित की वेदना, चीख और छटपटाहट का विमर्श है। जिया लाल आर्य के शब्दों में ''दलित विमर्श में वे आते हैं जो सदियों से दारूण, दलन, दोहन और शोषण के शिकार रहे हैं और भारतीय समाज में वंचित, उपेक्षित तथा प्रताड़ित होते रहे हैं। शोक जिसका आहार, अश्रु जिसका उद्‌गार और अभिशाप जिसका उपहार है।''[4] जो कारणों की खोज करता है और उसे जड़ से मिटाने की बात करता है। जहाँ गाँधी जी फिट नहीं होते हैं, क्योंकि वे कारणों को जानते हुए भी उसे जड़ से मिटाने की बात नहीं करते। गाँधी जी ने सत्य, अहिंसा तथा शांति के मार्ग से मानवतावादी दृष्टिकोण का निर्माण किया, जिससे उन्हें विश्वास था कि भारत से वर्गभेद समाप्त हो जायेगा। एक कट्टर हिन्दू तथा वर्ण व्यवस्था के प्रबल समर्थक होते हुए भी महात्मा गाँधी ने हिन्दू समाज में प्रचलित छुआछूत की प्रथा का घोर विरोध किया। गाँधी जी का यह दृढ़ विश्वास था कि छुआछूत का भेदभाव हिन्दू समाज के ऊपर एक कलंक है ही साथ ही साथ राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता के मार्ग में बहुत बड़ी बाधा भी है। उन्होंने यह घोषणा की कि ''यदि अस्पृश्यता हिन्दू धर्म का अभिन्न अंग है तो मैं ऐसे हिन्दू धर्म को अपनाना कत्तई पसंद नहीं करूँगा''।[5]

गाँधी जी धर्म परिवर्तन को दलित जन के सामाजिक दासता एवं दलन से मुक्ति का उपाय नहीं समझते थे। इस संदर्भ में उनकी सोच यह थी कि ''हिन्दुत्व का परित्याग करके सामूहिक रूप से इस्लाम या ईसाईयत को अंगीकार कर लेना और पार्थिव समृद्धि के लिए अपना धर्म बदलना सही होता तो मैं बेहिचक ऐसा करने की सलाह दे देता। लेकिन धर्म तो हृदय की चीज है, कोई भी भौतिक सुख-सुविधा ऐसी नहीं है, जिसके कारण अपना धर्म छोड़ा जा सकता है। अगर पंचम समाज के साथ अमानवीय व्यवहार करना हिंदुत्व का अंग होता तो हिंदू धर्म का परित्याग कर देना उनका भी परम कर्त्तव्य होता और साथ ही मुझ जैसे लोगों का भी, जो धर्म को भी अंधश्रद्धा का विषय नहीं बनाना चाहेगा और धर्म के पवित्र नाम पर हर बुराई को बर्दाश्त नहीं कर लेंगे। मेरे विचार से अस्पृश्यता हिंदुत्व का अंग नहीं है। यह तो हिंदुत्व के शरीर पर निकला हुआ एक अतिरिक्त मांस पिंड है जिसे हर संभव कोशिश करके काट फेंकना चाहिए और ऐसे हिंदुत्व को इस कलंक से मुक्त करने के लिए प्रयत्नशील है। इसलिए मेरे विचार से धर्म-परिवर्तन भी इसका कोई उपाय नहीं है।''[6] लेकिन दलित और अछूत वर्ग हिंदू धर्म का ही अंग है तो उस वर्ग के लोगों को हिंदू मंदिरों में प्रवेश न देना, उन्हें धर्म ग्रंथों का अध्ययन करने से रोकना या धर्म के नियमों के अनुसार पूजा-पाठ करने के अधिकारों से वंचित रखना कहाँ का सामाजिक न्याय है। यहाँ गाँधी जी ने दलितों को 'हरिजन' कह करके ही काम चलाते हैं जो कहीं न कहीं से वर्ण का ही द्योतक था।

महात्मा गाँधी लोकतंत्र के लिए समानता की धारणा को सबसे महत्वपूर्ण मानते थे। उनकी अवधारणा का रामराज्य जो कि लोकतंत्र का सच्चा आदर्श है, के आधारभूत तत्व स्वतंत्रता, समानता तथा न्याय है। समानता को गाँधी जी ने व्यक्तिगत तथा राष्ट्रीय दोनों रूपों में लिया था। व्यक्तिगत समानता की धारणा उनकी अहिंसा की धारणा पर आधारित है। जिस समाज में व्यक्ति, व्यक्ति के बीच धर्म, जाति, सम्पत्ति रंग आदि के आधार पर भेदभाव किया जाता है, वह समाज हिंसा पर आधारित माना जायेगा। ऐसा राज्य न लोकतंत्र हो सकता है और न ही वहाँ स्वराज्य की स्थापना हो सकती है। ऐसे समाज में व्यक्ति को आत्मानुभूति का अवसर मिलना सम्भव नहीं है। लेकिन अस्पृश्यता का सवाल गांधी जी के लिए हमेशा नैतिक अथवा धार्मिक मुद्दा रहा न कि राजनैतिक। जब अस्पृश्यता का राजनीतिकरण हुआ तब भी अस्पृश्यता का विरोध वह इसी दृष्टिकोण से करते थे हालांकि अस्पृश्यता विरोधी अभियान को राष्ट्रव्यापी एवं सशक्त बनाने के लिए गाँधी जी ने लेखन, सम्मेलन, सभा आदि सभी माध्यमों का इस्तेमाल किया। इतना ही नहीं अस्पृश्यता के सवाल पर सनातनी हिंदुओं से मतभेद का जिक्र करते हुए वे कहते हैं- ''मैं स्वयं हिन्दू हूँ। मैं दावा करता हूँ कि मैं कट्टर हिंदू हूँ। आज गुजरात में हिंदू समाज विशेषतः वैष्णव समाज मेरे हिंदू होने के दावे को मानने से इनकार करता है, तथापि मैं अपने दावे पर दृढ़ हूँ और कहता हूँ कि मैं सनातनी हिंदू हूँ। अस्पृश्यता हिंदू समाज का बहुत बड़ा दोष है। अन्य बहुत सारे दोष हैं, लेकिन उन्हें आप आज अथवा हजार साल बाद दूर करें तो भी वह क्षम्य एवं बर्दाश्त करना सम्भव नहीं है। हिंदू समाज का यह कर्त्तव्य है कि वह अस्पृश्यता को दूर करने के लिए भारी तपश्चर्या करे। जब तक हिंदू समाज अस्पृश्यता के पाप से मुक्त नहीं होता तब तक स्वराज की स्थापना होना असम्भव है।''[7]

गाँधी जी अस्पृश्यता के विरूद्ध होते हुए भी जातिवाद अथवा वर्णवाद के समर्थक थे। पूना पैक्ट (1932) के समझौते में गाँधी जी के इस विचार की पुष्टि होती है, जहाँ वे दलितों को जाति व्यवस्था में रखकर ही सुधार की बात करते हैं। पूना पैक्ट पर हस्ताक्षर होने के बाद 25 सितम्बर, 1932 ई0 को बम्बई में हिन्दुओं की एक सभा होती है, जिसमें पूना-पैक्ट की पुष्टि की गई और कहा गया कि आज से हिंदुओं में कोई भी व्यक्ति जन्म से अस्पृश्य नहीं समझा जायेगा और जो लोग आज तक अस्पृश्य समझे गये हैं वे कुँओं से पानी भरने, सार्वजनिक स्कूलों में पढ़ने, सार्वजनिक मार्गों पर चलने और अन्य सार्वजनिक संस्थाओं का उपयोग करने में अन्य हिन्दुओं के समान अधिकृत समझे जायेंगे। इन अधिकारों को सर्वप्रथम कानून सम्मत मान्यता दी जायेगी और यदि समय से पहले वैसी मान्यता नहीं मिल पाती तो स्वराज्य पार्लियामेन्ट के ऐक्टों में यह पहला एक्ट होगा। इस पर भी सहमति प्रकट की गई कि अछूत वर्गों पर लादी गई सामाजिक अयोग्यताओं को दूर करने का शांतिपूर्ण प्रयास करना हिंदू नेताओं का कर्तव्य होगा। इस

कार्य में दलितों का मंदिर प्रवेश भी शामिल है। इस अवसर पर गाँधी जी के ये शब्द उदाहरणीय हैं, जिसमें उन्होंने कहा था कि ''जब तक जाति आश्रम के कानून को हिंदू धर्म ग्रंथों में प्रमुख स्थान मिला हुआ है, यह कहना कि प्रत्येक हिंदू मंदिर में प्रवेश कर सकता है, यह असम्भव है।''[8]

स्वतंत्रता आन्दोलन, अस्पृश्यता निवारण आन्दोलन से लेकर वर्ण-धर्म के पक्ष एवं विपक्ष तक गाँधी जी की जो वैचारिक यात्रा सामने आती है वह यह है कि पूरी ईमानदारी व निष्ठा से वह चाहते थे कि हर मनुष्य को समाज में मनुष्य के रूप में सम्मान प्राप्त हो। उसे कोई अपने से नीचा न समझे। उनकी सामाजिक स्तर पर समानता के साथ-साथ धार्मिक स्तर पर भी समानता का दर्जा मिलना चाहिए। इसके लिए दलितों का मंदिर प्रवेश अहम मुद्दा है। इस संदर्भ में गाँधी जी ने 6 अक्टूबर 1932 ई0 को 'हरिभाऊ पाठक' को लिखे पत्र में कहा था कि ''हम सब किसी न किसी प्रकार की मूर्तियों में विश्वास करते हैं। मैं भी करता हूँ। खुद मेरे लिये साधारण मंदिर में कोई आकर्षण नहीं है, लेकिन उसका जबर्दस्त आध्यात्मिक महत्व है। इसलिए हरिजनों के लिए उनके द्वार खुले होने चाहिए। आवश्यकता मंदिरों के विनाश की नहीं, उनके सुधार की है।''[9] लेकिन गाँधी जी के ये सारे कवायद विचार तक ही सीमित रहते हैं, जिसका मूल कारण गाँधी जी का वर्ण समर्थक होना है। उनके समर्थक अथवा तत्कालीन सामाजिक संस्थान भी इसमें रूचि नहीं दिखाते। आखिर वे भी तो जाति-व्यवस्था से ही चल रहे थे। उदाहरण के लिए 1917 में कलकत्ता कांग्रेस अधिवेशन में दलितों के संदर्भ में निम्नांकित प्रस्ताव पास किया गया कि 'कांग्रेस भारत के लोगों से आठाह करती है कि दलित वर्गों पर धोपी गई रूढ़िगत अयोग्यताएँ जो बहुत ही दुःखदाई तथा दमनात्मक है और जिन मुसीबतों का उन्हें सामना करना पड़ता है उसका निवारण करना न्यायसंगत तथा आवश्यक है।''[10] लेकिन यह प्रस्ताव कांग्रेस के लिए औपचारिकता मात्र थी। यह औपचारिकता कांग्रेस इसलिए करती है कि उन्हें अपनी योजना स्वीकृत कराने के लिए दलितों का सहयोग आवश्यक हो गया था। बाद में इस प्रस्ताव को 1923 ई0 में हिंदू महासभा को सौंप दिया गया। यह कहकर कि अस्पृश्यता का सम्बन्ध हिन्दुओं से है। अंततः प्रस्ताव का दुःखद अंत होता है, क्योंकि स्वामी शारदानन्द के त्याग पत्र देने से दलितोद्धार खटाई में पड़ जाता है। वैसे भी हिन्दू महासभा हिन्दुओं का सेनातुल्य संगठन था, जिसका प्रमुख कार्य मुसलमानों के प्रभाव को समाप्त करना था। दलितों के सम्बन्ध में कुछ यही वैचारिकता गाँधी जी की भी रही है। दलितों के उद्धार से सम्बन्धित कार्य वे इसलिए करते रहे कि दलित कहीं स्वराज्य के विरूद्ध अंग्रेजों से हाथ न मिला ले। वे वर्णाश्रम व्यवस्था अक्षुण्य बनाये रखने के शर्त पर ही हिंदुओं को अस्पृश्यता निवारण का उपदेश दिया। कुछ-कुछ सुभद्रा कुमारी चौहान की अस्पृश्यता विरोधी कविता 'प्रभु तुम मेरे मन की जानों की तरह-

''कह देता है किन्तु पुजारी यह तेरा भगवान नहीं।
दूर कहीं मंदिर अछूत का और दूर भगवान कहीं हैं।
मैं सुनती हूँ जल उठती है मन में यह विद्रोही ज्वाला।
यह कठोरता ईश्वर को भी जिसमें टूक-टूक कर डाला,
यह निर्मम समाज का बन्धन और अधिक अब सह न सकूँगी।
यह झूठा विश्वास प्रतिष्ठा झूठी, इसमें रह न सकूँगी।
ईश्वर भी दो हैं, यह मानू मन मेरा तैयार नहीं।
किन्तु देवता यह न समझता तुम पर प्यार नहीं है।''[11]

सन्दर्भ सूची-

1. 'सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा' : एम0के0 गाँधी, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद-2010, पृ0-3
2. वहीं, पृ0-92
3. वही, पृ0-102
4. दलित समाज : जिया लाल आर्य, सम्यक प्रकाशन-नई दिल्ली, पृ0-1
5. यंग इण्डिया, 20 अक्टूबर 1936
6. सत्य के प्रयोग अथवा 'आत्मकथा' : एम0के0 गाँधी, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, पृ0-340
7. गाँधी और दलित भारत- जागरण : भगवान सिंह, भारती जानकी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0-34
8. गाँधी शिक्षण : भाग-2, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार नई दिल्ली, मार्च 1991, पृ0-132
9. महात्मा गाँधी : जीवन और चिंतन, जे0पी0 कृपलानी, पृ0-151
10. भारत रत्न डॉ अम्बेडकर और बौद्ध धर्म : डॉ0 भागचन्द्र जैन भाष्कर, पृ0-25
11. प्रभु तुम मेरे मन की जानो (कविता) : सुभद्रा कुमारी चौहान

●

वेदों में पुरुषार्थ विवेचन

अजय कुमार यादव एवं प्रो0 उमेश प्रसाद सिंह***

प्राचीनकाल से ही भारतीय-चिन्तन की समृद्ध परम्परा रही है। सृष्टि की उत्पत्ति अन्तरिक्ष, ब्रह्माण्ड, अन्य लोक, ग्रह-परिभ्रमण आदि के सम्बन्ध में मनीषियों के चिन्तन का वैज्ञानिक आधार रहा है। मनुष्य-जीवन में उन्नति-अवन्नति, समृद्धि-ह्रास,सुख-दुःख आदि का कारण क्या है? यह भी भारतीय-चिन्तन का विषय रहा है।

मानवीय-जीवन में विकास एवं ह्रास की पृष्ठभूमि में पुरुषार्थ तथा भाग्य को स्वीकार किया जाता है। पुरुषार्थ से अभिप्राय उद्यम, प्रयत्न, मेहनत, परिश्रम आदि से है तथा तप भी पुरुषार्थ का महत्वपूर्ण अंग है। किसी भी तपस्या के पीछे पुरुषार्थ निहित रहता है। जैसे भगीरथ द्वारा तपः साधना से गंगा को लाने का उल्लेख मिलता है-

अगणिततनूतापस्तप्त्वा तपांसि भगीरथः।[1]

तपांसि तप्त्वा का अभिप्राय पुरुषार्थ ही तो है।

तैत्तिरीयोपनिषद् भी सृष्टि की उत्पत्ति परब्रह्म परमात्मा से माना है-

सोऽकामयत् बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं किं च। तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्.....।[2]

भाग्य से अभिप्राय बिना प्रयत्न से कुछ प्राप्त हो जाना है, जिसका कारण दैवीकृपा अथवा पूर्वजन्मकृत कर्म को माना गया है। भाग्य को दैव कहने का कारण भी देवप्रदत्त होना ही है।

भाग्य और पुरुषार्थ के सम्बन्ध में मुख्य तीन सिद्धान्त प्रचलित है-

(i) एक मत के अनुसार पुरुषार्थ और भाग्य एक ही रथ के दो पहिये हैं, जिनमें से एक के न होने पर रथ गतिहीन हो जाता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् के अनुसार श्वेताश्वतर ऋषि को ब्रह्मज्ञान तप के प्रभाव तथा दैवकृपा से ही हुआ था-

तपः प्रभावाद्देवप्रसादाच्च ब्रह्म श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान्।
अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषिसङ्घजुष्टम्।।[3]

(ii) दूसरे मत के अनुसार सफलता, असफलता का कारण केवल भाग्य है। इस विचारधारा के कारण ही भाग्यं फलति सर्वत्र न विद्या न पौरुषम् आदि कथन आये।

(iii) एक अन्य मत के अनुसार कार्यसिद्धि का कारण केवल पुरुषार्थ हैं। इसी विचारधारा के अनुसार 'उद्यमेन हि सिध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः' आदि कथनों का प्रचलन हुआ।

वस्तुतः मनुष्यवाचक पुरुष शब्द में पौरुष का होना स्वाभाविक है। पौरुष ही पुरुषार्थ है जिसका अभिप्राय है- बड़े उत्साह के साथ परिश्रम करते रहना। पुरुषार्थ से मनुष्य अपना और समाज का कल्याण कर सकता है। अतः पुरुषार्थ का बहुत महत्त्व है। वैदिक मत के अनुसार मनुष्य की उत्पत्ति पुरुषार्थ करने के लिए ही हुआ है-

कस्त्वा युनक्ति स त्वा युनक्ति कस्मै त्वा युनक्ति।
तस्मै त्वा युनक्ति कर्मणे वां वेषाय वाम्।।[4]

पुरुषार्थ से मनुष्य उस पदार्थ को पा लेता है जिसे पाने का उसने निश्चय किया होता है। स्वयं परिश्रम करने वाला मनुष्य काम को अच्छी प्रकार कर लेता है-

याद्दश्मिन् धायि तमपस्यया विदद् य उ स्वयं वहते सो अरं करत्।[5]

केवल मनुष्य ही क्यों, वेद के अनुसार तो इस संसार को चलाने वाला ईश्वर भी सदा कार्यशील रहता है। वह आज एक कार्य करता है तो कल दूसरा-

अन्यदद्य कर्वरमन्यदु श्वः।[6]

जब वेद का यह विचार है कि महान कर्मों को करने वाला प्रसिद्ध हो जाता है-

कर्मभिरमहद्भिः सुश्रुतो भूत।[7]

तो यह विचार पुरुषार्थ के प्रति प्रेरणा ही होता है। यजुर्वेद का भी यही उद्घोष है कि आप सौ वर्ष तक जीने की इच्छा तो करों, किन्तु कर्म करते हुए-

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।।[8]

यहाँ ऋषि द्वारा निर्दिष्ट कर्म पुरुषार्थ में प्रवृत्ति ही तो है। अथर्ववेद दान पर बल देता हुआ कहता है कि हे मनुष्य! तू सौ हाथों से धन कमा और हजार हाथों से बाँट तथा ऐसा करता हुआ तू उन्नति के पथ पर अग्रसर हो जा-

शतहस्त समाहर सहस्त्रहस्त सं किर।
कृतस्य कार्यस्य चेह स्फातिं समावह।।[9]

शतहस्त समाहर कथन से पुरुषार्थ में प्रवृत्ति सुस्पठ है। शिक्षा-समाप्ति के पश्चात् व्यावहारिक जीवन में प्रवेश करने पर अन्तेवासी को उपनिषद् सदैव उद्यमशील रहने के लिए कहता है- वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान् न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्।[10]

---

* शोध छात्र, संस्कृत विभाग, कला संकाय, काशीहिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी

** प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, कला संकाय, काशीहिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रयत्नशील रहने का औपनिषदिक सन्देश सकारात्मक कार्यों में प्रवृत्ति के लिए है, नकारात्मक कार्यों में प्रवृत्ति के लिए नहीं- यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि।।[11]

वैदिकवाङ्मय कृषि और प्रचुर मात्रा में अन्नोत्पादन तथा पशुपालन पर विशेष बल देता है। ये कार्य परिश्रम पर आधारित हैं। अथर्ववेद अन्न की उत्पत्ति तप श्रम से मानता है-

यमोदनं प्रथमजा ऋतस्य प्रजापतिस्तपसा ब्रह्मणेऽपचत्।
यो लोकानां विधृतिर्नाभिरेषात्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम्।
येनातरन्भूतकृतोऽपि मृत्युं यमन्वविदन्तपसा श्रमेण।
यं पपाच ब्रह्मणे ब्रह्म पूर्वं तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम्।।[12]

ऋग्वेद परिश्रम करके कृषि के द्वारा समृद्ध होने का निर्देश देता है तथा जुएँ में भाग्य आजमाने से रोकता है-

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहुमन्यमानः।
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे वि चठे सवितायमर्यः।।[13]

तैत्तिरीयोपनिषद् प्रचुर मात्रा में अन्नोत्पादन तथा पशुपालन को समृद्धि का कारण बताता है-

अन्नं बहु कुर्वीत। तद् व्रतम्। पृथिवी वा अन्नम्। आकाशोऽन्नादः। पृथिव्यामाकाशः प्रतिष्ठितः। आकाशे पृथिवी प्रतिष्ठिता। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या।[14]

वेद तो यहाँ तक कहता है-

माहं राजन्नन्यकृतेन भोजम्।[15]
मा कस्याद्धुतक्रतु यक्षं भुजेमा तनूभिः।[16]

अर्थात् हम दूसरों के द्वारा कमाये अन्न का नहीं, अपितु अपने शरीर से कमाये अन्न का उपभोग करें। अभिप्राय यह है कि दूसरों पर आश्रित न रहकर स्वयं पुरुषार्थ करने पर बल दिया गया है।

मनुष्य को दूसरों पर आश्रित रहकर उतनी सफलता नहीं मिलती जितनी उसे अपनी हिम्मत, अपने प्रयत्नों से मिलती है। अतः पुरुषार्थ के मार्ग पर चलना मनुष्य के लिए श्रेयस्कर है। इस प्रसंग में वेद का यह कथन अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि यदि मनुष्य दायें हाथ से परिश्रम करता है तो उसके बायें हाथ से सफलता स्वतः ही आ जाती है-

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः।[17]

आलस्य कार्यप्रवृत्ति में बाधक बनकर पुरुषार्थ के लिए शत्रु रूप हो जाता है। इसीलिए ऐतरेयब्राह्मण जहाँ आलस्य को कलियुग के समान मानता है वहीं पुरुषार्थ को सत्ययुग के समान मानता है-

कलिः शयानो भवति सञ्जिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन्।।[18]

वस्तुतः समाज एवं राष्ट्र के भलाई की बात तो दूर रही, आलसी मनुष्य तो आत्मकल्याण से भी वंचित रह जाता है। इसीलिए ऋग्वेद आलस्य से बचने के लिए कहता है-

इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति। यन्ति प्रमादमतन्द्राः।[19]

अर्थात् देवता यज्ञ करने वाले की इच्छा करते हैं सोते हुए को, सुस्त को वह नहीं चाहते देवता स्वयं आलस्य से रहित हैं, वे प्रमाद करने वाले का त्याग कर देते हैं। अभिप्राय यह है कि वेद मनुष्य को आलस्य से बचने के लिए कहकर सोत्साह पुरुषार्थ करने की प्रेरणा देता है।

यजुर्वेद राष्ट्र की समृद्धि के लिए कामना करता है कि उसमें बुद्धिजीवी ब्रह्मतेज से युक्त हो, धनुषधारी बाधाओं को पार करता हुआ महारथी बने तथा रथी विजयशील हों-

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूरः।
इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम् ० जिष्णू रथेष्ठाः ० जायताम्।।[20]

इस कामना की प्रतिपूर्ति पुरुषार्थ से ही सम्भव है।

अथर्ववेद का कथन है कि उषा और सूर्य अपने प्रयत्न से उदित होते हैं। इसी तरह प्रत्येक मनुष्य को अपने उत्थान के लिए स्वयं प्रयत्नशील रहना चाहिए-

उदुषा उदु सूर्य उदिदं मामकं वचः।
उदेजतु प्रजापतिर्वृषा शुष्मेण वाजिना।।[21]

अथर्ववेद में मनुष्य कामना करता है कि मैं शत्रुओं का नाश करने वाला, बलवान, राष्ट्र का हित करने वाला, दुष्टों को भगाने वाला और वीरों में श्रेष्ठ होकर सबमें सम्माननीय बनूँ यह सब पुरुषार्थ पर ही आधारित है-

सपत्नक्षयणो वृषाभिराष्ट्रो विषासहिः।
यथाहमेषां वीराणां विराजानि जनस्य च।।[22]

समाज के आधार स्तम्भ परिश्रमी वर्ग के प्रति वेद सम्मान की भावना व्यक्त करता है-

नमस्तक्षभ्यो रथकारेभ्यश्च वो नमो।
नमः कुलालेभ्यः कर्मारेभ्यश्च वो नमः।।[23]

इस प्रकार वेद में कारीगरों का आदर पुरुषार्थ को विशेष स्थान प्रदान करता है। वेद की दृष्टि पुरुषार्थ को महत्व देती है, इस सम्बन्ध में यह वेदवचन भी स्मरणीय है-

उरूः पृथुः सुकृतः कर्तृभिर्भूत्।[24]

अर्थात् शारीरिक श्रेष्ठता होने पर भी सत्कार कर्तृत्वशक्ति से मिलता है। अतः कार्यशीलता अथवा पुरुषार्थ का बहुत महत्व है।

उपरिलिखित सन्दर्भों से यह निष्कर्ष सामने आता है कि वैदिकवाङ्मय में मानव-जगत की समृद्धि के लिए पुरुषार्थ का विशेष महत्व है।

सन्दर्भ सूची-

1. उत्तररामचरितम्- 1.23
2. तैत्तिरीयोपनिषद् -2.6
3. श्वेताश्वतरोपनिषद्- 6.21
4. यजुर्वेद- 1.6
5. ऋग्वेद- 3.44.8
6. ऋग्वेद- 6.24.5
7. ऋग्वेद- 3.36.1
8. यजुर्वेद- 40.2
9. अथर्ववेद 3.24.5
10. तैत्ति0- 1.11
11. वही, 1.11
12. अथर्ववेद- 4.35.1.2
13. ऋग्वेद- 10.34.13

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी की छायावादी दृष्टि

रंजना पाण्डेय एवं प्रो0 बलिराज पाण्डेय***

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लोकमंगल का जो नैतिक पैमाना साहित्य के परीक्षण के लिए निर्मित किया था, उसके कारण हिन्दी की अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाओं के साथ समीक्षकों की कठिनाइयाँ हुईं। उस समय की कविता, 'छायावाद' के साथ भी ऐसा हुआ। आचार्य वाजपेयी ने छायावाद के मूल स्वर एवं काव्य संवेदना को समझकर उसे हिन्दी साहित्य में स्थान दिया। इन्होंने ही पहली बार छायावाद को प्रतिष्ठित किया। आचार्य वाजपेयी ने छायावाद युग में नये जीवन का भावबोध, नूतन कल्पना, भाषा की लाक्षणिकता को लेकर समीक्षा की। जिस छायावाद को आचार्य वाजपेयी ने स्वीकार किया उसी छायावाद को आचार्य शुक्ल ने लाक्षणिकता व रहस्यवाद के रूप में देखा हैं। ''छायावाद जिस आकांक्षा का परिणाम था उसका लक्ष्य केवल अभिव्यंजना की रोचक प्रणाली का विकास था।[1] आचार्य शुक्ल राष्ट्रीय आन्दोलन को सक्रिय एवं जन सहयोगी बनाना चाहते थे इसी करण भारतेन्दु युग की कविताओं का स्वागत किया, तथा इन कविताओं को और तीव्रानुभूति से भरना चाहते थे, जो भारतेन्दु एवं द्विवेदी युगीन कविताओं में कतिपय अभाव सा बना हुआ था। आधुनिक जीवन की अभिव्यक्ति छायावादी काव्य के माध्यम से की गई है। छायावादी काव्यधारा के आचार्य शुक्ल विरोधी नहीं थे, उस धारा में कुछ ऐसे तत्त्व हैं जो सामान्य जनमानस को कविता से दूर ले जा रहे थे। उन तत्त्वों का आचार्य शुक्ल ने विरोध किया कि ''चित्रभाषा या अभिव्यंजना पद्धति पर ही जब लक्ष्य टिक गया तब उसके प्रदर्शन के लिये लौकिक या अलौकिक प्रेम का क्षेत्र ही काफी समझा गया। इस बँधे हुए क्षेत्र के भीतर चलने वाले काव्य ने छायावाद का नाम ग्रहण किया।''[2]

आचार्य शुक्ल काव्य में कल्पना को महत्त्व देते हैं, परन्तु अतिशय कल्पना का विरोध भी करते हैं जो छायावाद में विद्यमान थी। काव्य के प्राण तत्त्व एवं छायावाद के मूल बिन्दु को लेकर आचार्य शुक्ल काव्य एवं जीवन की सच्चाई को बताते हुए लिखते हैं, ''काव्य की प्रकृति पद्धति तो यह है कि वस्तु योजना चाहे लोकोत्तर हो पर भावानुभूति का स्वरूप भी यदि कल्पित होगा, तो हृदय से उसका संबंध क्या रहेगा? भावानुभूति यदि ऐसी होगी, जैसी नहीं हुआ करती तो सच्चाई कहाँ रहेगी? यदि कोई मृत्यु को केवल जीवन की पूर्णता कहकर उसका प्रबल अभिलाषा व्यंजित करें, अपने मर मिटने के अधिकार पर गर्व की व्यंजना करें तो कथन के वैचित्य से हमारा मनोरंजन तो अवश्य होगा पर ऐसे अभिलाषा या गर्व की कहीं सत्ता मानने की आवश्यकता न होगी।''[3] अगर आचार्य शुक्ल के किसी भी विचार को न स्वीकार करना हो या यह कहना कि आचार्य शुक्ल ने छायावाद के साथ अन्याय किया है, तो उपर्युक्त कसौटी पर उस बिन्दु को रखकर स्वयं ही निर्णय करना आवश्यक होगा कि क्या सही है और क्या गलत। एक बात यह भी संज्ञान में रखनी चाहिए कि छायावाद के विकास की पूर्ण अवस्था से पूर्व आचार्य शुक्ल ने छायावाद के विषय में अपना मत स्पष्ट किया था।

छायावाद की परिभाषा देते समय आचार्य शुक्ल छायावाद को दो अर्थो में सीमित करते हैं ''छायावाद शब्द का प्रयोग दो अर्थों में समझना चाहिए। एक तो रहस्यवाद के अर्थ में, जहाँ उसका संबंध काव्यवस्तु से होता है अर्थात् जहाँ कवि उस अनंत और अज्ञात प्रियतम को आलंबन बनाकर अत्यंत चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार से व्यंजना करता है। x x x x 'छायावाद' शब्द का दूसरा प्रयोग काव्यशैली या पद्धतिविशेष के व्यापक अर्थ में है।''[4]

इस पर रामविलास शर्मा को आपत्ति है। ''छायावाद को इन दो अर्थों तक सीमित नहीं किया जा सकता। छायावाद हिन्दी साहित्य की रोमांटिक धारा है। वह मूलतः रीतिकालीन परम्परा की विरोधी है। वह एक मानववादी धारा है, जिसका एक पक्ष रहस्यवाद भी है। आज अनन्त की ओर दौड़ने और अति-लाक्षणिक शैली के व्यवहार से हिन्दी के समर्थ कवि बच रहे हैं, यह बात शुक्लजी की आलोचना का समर्थन करती है। हिन्दी कविता का विकास रहस्यवाद के मार्ग पर नहीं हो रहा, न हो सकता है।''[5]

अतः आचार्य शुक्ल छायावाद को पूर्णतः खारिज नहीं करते, वे समाज, जन, अनुभूति एवं अभिव्यक्ति को लोकोत्तर की ओर न लेजाकर लोक परिदृश्य में देखना चाहते हैं, अगर कोई यह कहे कि आचार्य शुक्ल ने छायावाद का विरोध किया तो पन्त जो आचार्य शुक्ल के प्रिय कवियों में से एक हैं, उनके काव्य की आचार्य शुक्ल को प्रशंसा नहीं करनी चाहिए थी। पन्त ने प्रकृति को काव्य का मूल विषय बनाया। प्रकृति एवं लोक का समन्वय करने के कारण ही उन्हें 'प्रकृति का सुकुमार कवि' कहा जाता है।

आचार्य शुक्ल लिखते हैं, ''छायावाद के भीतर माने जाने वाले सब कवियों में प्रकृति के साथ सीधा प्रेम सम्बन्ध पंत जी का ही दिखाई पड़ता है।''[6]

छायावादी युग को हम संघर्ष का युग कह सकते हैं। इस युग में दो प्रकार के संघर्ष सामने थे। एक ओर आत्मसंघर्ष था और दूसरी ओर सामाजिक संघर्ष। आत्म संघर्ष का अर्थ है कि कवि के भाव और विचारों के क्षेत्र में होने वाला संघर्ष या मनोवैज्ञानिक संघर्ष हैं। वाजपेयी छायावाद के विषय में लिखते हैं- ''यह मुख्यतः सामाजिक और साहित्यिक परम्पराओं के विद्रोह का युग था। इस युग के कवियों ने बदलते हुए सामाजिक जीवन और

* शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

** प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

अंतिम सांसें गिनती हुई साहित्य की रीतिकालीन रूढ़ियों को अच्छी तरह देखा और पहचाना। व्यक्ति के नवीन स्वतंत्र और मानव के नवीन महत्त्व की अनुभूतियाँ इस युग के कारण साहित्य को नवीन उल्लास और नया आत्मबल देती है।''[7]

आचार्य वाजपेयी की दृढ़ मान्यता थी कि छायावाद शैली नहीं है उसका अपना एक दर्शन भी है छायावाद की आध्यात्मिकता पर बल देते हुए वाजेपयी जी लिखते हैं- ''मानव अथवा प्रकृति के सूक्ष्य किन्तु व्यक्त सौन्दर्य में आध्यात्मिक छाया का भाव मेरे विचार से छायावाद की एक सर्वमान्य व्याख्या हो सकती है।''[8] छायावाद का आरम्भ मध्यकालीन रीतिकाव्य के आन्तरिक विरोध में हुआ था। न केवल रचना शैली में वरन् नवीन जीवन दृष्टि और भावना कल्पना में छायावाद के कवियों ने वैयक्तिक अनुभूति को मुख्य साधन माना। ''छायावादी काव्य मध्ययुग की काव्य-धारा से प्रमुखतः इस अर्थ में भिन्न है कि वह किसी क्रमागत सांप्रदायिकता या साधन परिपाटी का अनुगमन नहीं करता।''[9]

आचार्य वाजपेयी छायावाद की विकास प्रक्रिया के विषय में लिखते हैं, ''सन् 1920 से 1935 तक इस आन्दोलन की विकासावस्था थी। इस समय तक वह अपना ऐतिहासिक कार्य पूरा कर चुका था।''[10] इस काल में मध्यकालीन सामंती रूढ़ियाँ रीतियों की पूर्णतः समाप्ति हो गयी थी, और नवीन प्रवृत्तियाँ पूर्णतः स्थापित हो गयी थीं। तीसरे चरण में पहुँचकर छायावादी काव्य की निजी विशेषताएं ही रूढ़ बनकर क्रमशः उसके लिए बंधन बनती गयी फलतः छायावादी काव्य के भीतर एक नये प्रकार का अन्तर्विरोध हुआ। यह अन्तर्विरोध छायावाद के उद्भव कालीन अन्तविरोध से पूर्णतः भिन्न था। उसका उद्भवकालीन अन्तर्विरोध सामंतवादी और पूँजीवादी विचारों का द्वन्द्वात्मक परिणाम था। छायावाद स्थूल के विरूद्ध सूक्ष्म का विद्रोह था ऐसी मान्यता थी, किन्तु अंतिम चरण में ही यथार्थवादी प्रवृत्तियों का जन्म हुआ और इन प्रवृत्तियों ने छायावाद की आदर्शवादी प्रवृत्तियों का विकास हुआ। जिनके परिणामस्वरूप छायावाद का अन्त हुआ। आचार्य वाजपेयी ने स्वयं स्वीकार है एक पीढ़ी समाप्त होती है तो दूसरी पीढ़ी का उदय होता है।''[11]

छायावादी साहित्य पर लगाये गये आरोपो का खंडन कतिपय छायावादी समीक्षकों ने किया। यह दायित्व शान्तिप्रिय द्विवेदी, डॉ0 नन्ददुलारे वाजपेयी, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा डॉ0 नगेन्द्र ने उठाया। कहना न होगा कि आचार्य शुक्ल की प्रौढ़ आलोचना और चुनौती पूर्ण व्यक्तित्व उनके सभी परवर्ती आलोचकों के लिए जिज्ञासा का विषय रहा वे उसकी विराटता से प्रभावित अवश्य थे पर आक्रान्त नहीं। इसीलिए वाजपेयी ने पहली बार छायावादी काव्य की प्रतिष्ठा करने का सर्वाधिक प्रयास किया।

आचार्य वाजपेयी ने समीक्षा के जो प्रतिमान निर्धारित किये थे वे बहुत कुछ प्रसाद, निराला और पंत के साहित्य के अध्ययन के पश्चात् निर्धारित किये थे। आचार्य वाजपेयी ने छायावादी साहित्य को सांस्कृतिक पुनर्जागरण का साहित्य माना।

आचार्य वाजपेयी ने प्रसाद, पन्त, निराला पर उन्होंने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पुस्तकें लिखी हैं। आचार्य शुक्ल ने निराला जैसे महत्त्वपूर्ण कवि एवं उनकी रचनाओं पर साहित्यिक दृष्टि से विश्लेषण नहीं किया है। आचार्य वाजपेयी ने 'महाकवि निराला' पर महत्त्वपूर्ण पुस्तक लिखी। निराला के विषय में वाजपेयी जी लिखते हैं-'समग्र रूप से देखने पर निराला के काव्य की मानववादी भूमि भी स्पष्ट हो जाती है। उन्होंने मानवीय भावना और प्रवृत्तियों का सम्मान किया है और ऐसा करते हुए उन्होंने वैयक्तिक प्रतिक्रियाओं को दूर ही रहने दिया है। इसी अर्थ में उनका काव्य तटस्थ और वस्तुन्मुखी है।''[12] पन्त छायावाद के मूल स्तम्भ हैं। आचार्य शुक्ल छायावाद में प्रकृति का सम्बन्ध पन्त के साथ ही मानते हैं। ''प्रकृति के साथ सीधा प्रेमसंबंध पंत जी का ही दिखाई पड़ता है।''[13] पन्त के रहस्यवाद को आचार्य शुक्ल स्वाभाविक रहस्यवाद मानते हैं। वाजपेयी जी भी पन्त की कल्पना शक्ति को अजेय रूप में स्वीकार करते हैं। ''नवीन हिन्दी कविता में सबसे श्रेष्ठ सृष्टि-प्रतिभा लेकर सुमित्रानन्दन पंत का विकास हुआ है। हिन्दी के क्षेत्र में पन्त की कल्पना की शक्ति अज्ञेय, उनका नवनोन्मेष अप्रतिय है।''[14]

आचार्य वाजपेयी ने आचार्य शुक्ल के आलोचना कर्म को स्वीकार और आगे भी बढ़ाया, वह चाहे आदिकाल के सन्दर्भ में हो या भक्ति एवं आधुनिक काल के सन्दर्भ में।

आचार्य वाजपेयी ने समीक्षा के जो प्रतिमान निर्धारित किये वे बहुत कुछ प्रसाद, निराला, पंत के साहित्य के अध्ययन के पश्चात् निर्धारित हुए थे, क्योंकि वाजपेयी जी किसी साहित्येत्तर मूल्य को निर्णायक नहीं मानते थे। छायावादी साहित्य के विश्लेषण के लिए छायावादी कवियों की प्रवृत्ति को ही महत्त्व देना उनके सौष्ठववादी स्वरूप को परखने के लिए उपयुक्त भी है। जो छायावाद के वास्तविक स्वरूप का विश्लेषण किया। आचार्य वाजपेयी ने छायावाद में नये जीवन दर्शन, अभिनव भाषा प्रयोग, नूतन कल्पना, कवियों के साथ-साथ समीक्षा के क्षेत्र में भी नवीनता की खोज की।

सन्दर्भ सूची-

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास-आचार्य रामचन्द्र शुक्ल नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, नवीन संस्करण-2009 पृ0 284
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास - रामचन्द्र शुक्ल, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, नवीन संस्करण-2009 पृ0 395
3. वहीं, 394
4. हिन्दी साहित्य का इतिहास-आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, नवीन संस्करण 2009 पृ0 395
5. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना-रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, संस्करण 1993, पृ0 162
6. हिन्दी साहित्य का इतिहास-आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नमन प्रकशन, नई दिल्ली, नवीन संस्करण 2009, पृ0 412
7. नया साहित्य नये प्रश्न-नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ0 07
8. हिन्दी आलोचना बीसवी सदी-नन्ददुलारे वाजपेयी, लोकभारती प्रकाशन संस्करण 1991, पृ016
9. आधुनिक साहित्य-नन्ददुलारे वाजपेयी लोकभारती प्रकाशन, चतुर्थ संस्करण, पृ0 354
10. हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी-नन्ददुलारे वाजपेयी, लोकभारती प्रकाशन संस्करण 1991, पृ0 24
11. आधुनिक साहित्य-नन्ददुलारे वाजपेयी लोकभारती प्रकशन, चतुर्थ संस्करण (भूमिका से)
12. कवि निराला-नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ0 208
13. हिन्दी साहित्य का इतिहास-रामचन्द्र शुक्ल, नवीन संस्करण 2009, नमन प्रकाशन, पृ0 412
14. कवि सुमित्रानन्दन पंत-नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ0 59

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के भोजपुरी अध्ययन केन्द्र में स्थित लोककला संग्रहालय : एक संक्षिप्त अवलोकन

डॉ0 शीतल राणा[*]

हमारी विरासत को संजोने, संरक्षण, प्रदर्शन एवं प्रचार-प्रसार में संग्रहालयों की भूमिका समाज के लिए अत्यन्त आवश्यक है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में स्थित लोककला संग्रहालय इस दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है। इसकी स्थापना पद्मश्री डॉ0 लालजी सिंह, कुलपति, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा 2012 में हुई। यह संग्रहालय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के भोजपुरी अध्ययन केन्द्र में स्थित है।

भारतीय संस्कृति में लोक-कलाओं के अनेक वर्ग हैं, यथा- लोक-रंग, लोक-गीत, सज्जा-श्रृंगार एवं अलंकरण, शिल्प एवं कारीगरी, प्रतीकात्मक एवं पूजा, स्थापत्य कला, काष्ठ कला, मूर्ति-आभूषण-बर्तन बनाने की कला, लोहारगिरि, भित्ति-चित्रण कला आदि सभी सम्बन्धित कलाएँ लोककलाएँ हैं।1

संग्रहालय में पूर्वी उत्तर प्रदेश के अनेक जनपदों से प्राप्त हुई लोककला से जुड़ी विविध वस्तुएँ संगृहीत हैं। जिनमें पटुआ के पिछवई पर गणेश, पटुआ के पालना में झूलती पुतरी, पटुआ की कलमदानी, बाँस का बेना, बाँस की डलिया, बाँस द्वारा निर्मित जुड़ा खोसनी, बटुआ, गहने का डिब्बा, मूंज की मुनिया, मूंज की कुरई, मूंज की डलिया, कागज की कुरई, झाँझ, डोकवा, उबटनदानी, रसोई सेट, खट्पटी-दाना चिड़िया, कलमदानी, गोरखपुर अंचल के पकावल मिट्टी के खिलौने जिनमें लालटेन, हाथी, घोड़ा आदि अभिप्राय प्रमुख हैं।

प्राचीन कला से ही अनेक जातियाँ उत्तर-पश्चिम भारत की ओर आती रही जो अपने साथ अपनी संस्कृति, तीज, त्यौहार, उत्सवों एवं संस्कारो को भी ले आईं। आर्यों के भारत आगमन से पूर्व की कला के विषय मे अधिक विवरण उपलब्ध नही है, परन्तु आर्यों के आगमन के पश्चात की कला की कुछ कृतियाँ आज भी भारतीय समाज में प्रचलित है, यथा-आर्य लोग अग्नि की पूजा करते थे। साथ ही वे विभिन्न देवताओं को प्रसन्न करने हेतु यज्ञ एवं हवन भी करते थे। यज्ञ-वेदी, रेखाओ, त्रिकोणो-वृन्त आयतवर्ग एवं अनेक प्रकार के ज्यामितिक अलंकरण से उसे सजाते थे। इन ज्यामितिक आकारों के विशेष अवसरों पर विशेष अर्थ होते थे। इस तरह की सजावट जोकि सुन्दरता बढ़ाने के दृष्टिकोण से आरम्भ हुई थी, धीरे-धीरे स्वतः हमारे जीवन का अंग बन गई, कुछ समय पश्चात कला की यह धारा जो बहुत ही सहज और सुगम थी तथा परिवार के सुख-सौभाग्य की कामना से ओतप्रोत थी जो लोक कला के नाम से जानी गई।[2]

लोककला के अन्तर्गत विविध प्रकार के पुरातन एवं प्रामाणिक अभिप्राय प्रागैतिहासिक काल से ही भारतीय संस्कृति को शोभायमान करते रहे है। यही नही सिन्धु घाटी की सभ्यता से प्राप्त मोहरों पर अंकित उकेरण से हमें अनेकों अंकन दृष्टिगत होते हैं। उस समय प्रचलित शक्ति पूजन, पशुपूजन, मातृपूजन, वृक्षपूजन आदि का परिचय मिलता है। शुंगकाल की कला में भी लोकअभिप्रायों के प्रमाण उपलब्ध हैं। लोककला से जुड़े अनेक साक्ष्य यथा कल्पवल्लरियाँ, कुण्डल, यक्ष, कलश आदि का अंकन भरहुत एवं साँची के स्तूप के तोरण द्वारों पर उत्कीर्ण किये गये दर्शनीय हैं।

मानव की सौन्दर्य एवं शोभन के प्रति अभिरूचि के भारतीय कला में विविध प्रमाण उपलब्ध है। भारतीय लोक कलाकारों द्वारा जिसे नये परिष्कृत रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। गृह सज्जा एवं दैनिक उपयोग से जुड़ी वस्तुओं में बेल-बूटे, हस्ती, अश्व, गमला, वल्लरी, कलश, थापन, ज्यामिति बेलें, सुराही, मटके, एवं काष्ट द्वारा निर्मित अनेक अभिप्राय, जिनमें रसोई सेट, कलम दानी, आभूषण बाक्स तथा विविध प्रकार की मनोविनोद की वस्तुयें, और बांस, मूंज एवं नारियल से बनी वस्तुओं में कुरई, मुनियाँ, जूड़ा खोसनी, पूतरी, गणेश आदि अभिप्रायों का निर्माण किया जाता रहा है। अभिप्राय अनावश्यक अभिव्यक्त होने वाली कोई वस्तु नहीं, बल्कि एक दीर्घकालीन परम्परा का सुनियोजित प्रयास है। सभ्यता के प्रारम्भीक काल से जब कला की उत्पत्ति हुई है, जिसे भावनात्मकता की अभिव्यक्ति का आवश्यक एवं महत्वपूर्ण आधार माना गया, जिसे मनुष्य ने अपने सर्जना में व्यक्त किया। कला अपने समस्त आयामों में अपने संकेतों के आधार पर विभिन्न क्षेत्रों की अनेक सम्भावनाओं का प्रकटीकरण करती है। जीवन के अनेकानेक विषयों पर अपनी शैली में प्रकाश डालती है। वह चाहे मानव जीवन से जुड़ा विषय हो अथवा कलाकार के मन की सोच। कला, ज्ञान का वह अलौकिक साधन है जो संसार के विविध संसाधनों का परिचय प्रस्तुत करती है।[3]

भारतीय सभ्यता के आरम्भ से ही मानव प्रकृति द्वारा प्रदत्त विविध प्रकार के उपादनों से अपने उपयोग की वस्तुओं का निर्माण करता रहा है। इनमें मिट्टी, काष्ठ, बांस, मूंज, ताड़, सरई आदि वस्तुएँ हैं, जो लोककला की प्रमुख उदाहरण हैं। वर्तमान काल में अनेक आकर्षक एवं सर्वसुलभ वस्तुओं के प्रचलन के बावजूद भी मिट्टी, काष्ठ, बांस, मूंज, ताड़, सरई आदि से निर्मित वस्तुओं का प्रचलन बना हुआ है। इन वस्तुओं से अनेक प्रकार के

* असिस्टेन्ट प्रोफेसर, संग्रहालय विज्ञान विभाग तथा प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

अभिप्राय बनाने वाले लोगों को धरिकार कहा जाता है, जिन्हें दो प्रकारों में बाँटा जा सकता है। एक वह जो घुमन्तू प्रकृति के हैं, यह अस्थायी रूप से कुछ स्थान पर रहकर उक्त प्रकार की वस्तुओं से अनेक उपयोगी सामग्रियों का निर्माण करते हैं। दूसरे स्थायी रूप से गाँव या शहर में रहकर विविध अभिप्रायों का निर्माण करते हैं।[4] ऐसे लोग पूर्वी उत्तर प्रदेश के अनेक जिलों में निवास करते हैं, जिनमें वाराणसी, मिर्जापुर, गाजीपुर, आजमगढ़, जौनपुर, देवरिया, बस्ती, लखनऊ, फैजाबाद, रायबरेली, सुल्तानपुर, प्रतापगढ़, उन्नाव, भदोही, इलाहाबाद, कानपुर, उरई, झांसी, ललितपुर, जालौन, बांदा, गोंडा, बहराइच, बाराबंकी एवं हमीरपुर आदि प्रमुख हैं।

काष्ठ द्वारा निर्मित वस्तुएँ- काष्ठ एक अत्यन्त उपयोगी वस्तु है, जिससे दैनिक जीवन में प्रयुक्त होने वाली अनेक वस्तुएँ बनायी जाती हैं, जैसे घर, खिड़की, दरवाजे, मेज-कुरसी, श्रृंगारदान, पलंग इत्यादि वस्तुओं के साथ ही साथ कुछ अन्य वस्तुएँ भी बनायी जाती हैं। जिनमें कठवत, अढ़िया, चरखा, विविध प्रकार के वाद्य-यंत्र, सजावट एवं मनोरंजक वस्तुएँ आदि।[5] भारतीय साहित्य में काष्ठ द्वारा निर्मित वस्तुओं के अनेक सन्दर्भ प्राप्त होते हैं, ऋग्वेद में काष्ठ से अनेक अभिप्राय बनाने वालों का वर्णन मिलता है।[6] महाभारत में काष्ठ से बनी वस्तुओं एवं उनके उपयोग का सन्दर्भ प्राप्त है।[7] मत्स्यपुराण में काष्ठ द्वारा घर एवं देव प्रतिमा के निर्माण का उल्लेख प्राप्त होता है।[8] वायुपुराण में प्लक्ष (पाकड़), न्यठोध (वरगद), अश्वत्थ (पीपल), उदुम्बर (गूलर), बिल्व, चन्दन आदि की लकड़ियों से धार्मिक अभिप्रायों के निर्माण का सन्दर्भ मिलता है।[9] वृहत्संहिता एवं शिल्पशास्त्र में काष्ठ द्वारा निर्मित दैनिक उपादानों में प्रयुक्त होने वाली विविध प्रकार की वस्तुओं का उल्लेख किया गया है।[10] लोक कला संग्रहालय में संगृहीत काष्ठ द्वारा निर्मित अभिप्राय इस प्रकार हैं-

उबटनदानी- इस वस्तु का उपयोग प्रायः पर्वों एवं विवाह आदि अवसरों पर उबटन तैयार करने के लिए किया जाता है (चित्र सं0 1)।

(चित्र सं0 1)

रसोई सेट- खाना तैयार करने हेतु उपयोगी पात्र, परन्तु लकड़ी द्वारा निर्मित छोटे-छोटे रसोई सेट से प्रायः बच्चे घर में समूह बनाकर खेलते हैं (चित्र सं0 2)।

(चित्र सं0 2)

चिड़िया खट्पटी-दाना- इससे छोटे बच्चे खेल कर अपना मनोरंजन करते हैं (चित्र सं0 3)।

(चित्र सं0 3)

कलमदानी- इस वस्तु का उपयोग घर अथवा ऑफिस में कलम रखने के लिये किया जाता है (चित्र सं0 4)।

(चित्र सं0 4)

गहने का डिब्बा- यह वस्तु सामान्यतः आभूषण रखने के काम आती है (चित्र सं0 5)।

(चित्र सं0 5)

बाँस से निर्मित वस्तुएँ- सभ्यता के प्रारम्भ काल से मानव प्रकृति द्वारा प्रदान की गयी वस्तुओं से विविध उपादनों का निर्माण करता रहा है। बाँस वंश-वृद्धि का द्योतक वृक्ष है। जिस प्रकार बाँस उत्तरोत्तर वृद्धि करके आकाश को छूते हैं, उसी प्रकार विवाहित वर-वधू की वंश परम्परा दिनोंदिन बढ़ती है।[11] पूर्वी उत्तर प्रदेश में बाँस का चित्रण प्रायः विवाह के समय अधिक किया जाता है। संग्रहालय में संगृहीत बाँस से निर्मित वस्तुएँ टटरा, टोकरी, चटाई, टटरी, डलिया, सुपा, बेना, मौकी, दौरी, सीढ़ी, करूई, मछली मारने एवं रखने का पात्र, तीर-कमान, पानडब्बा, कुर्सी-मेज, वाद्य-यंत्र, शहनाई, बाँसुरी, डफली आदि प्रमुख हैं।[12] बाँस द्वारा सादी एवं रंगीन वस्तुएँ भी निर्मित की जाती हैं। कुछ वस्तुएँ विविध प्रकार के त्यौहार एवं अनुष्ठानों पर जैसे- तीज, छठ, विवाह आदि विशेष अवसरों पर बनायी जाती हैं।[13] संठाहालय में बाँस से निर्मित वस्तुओं में जूड़ा खोंसनी प्रमुख है। इसे स्त्रियाँ अपने केश में खोंस कर केश सँवारती हैं (चित्र सं0 6)। इसके अलावा बेना एवं डलिया इत्यादि भी सुरक्षित हैं।

(चित्र सं0 6)

मूंज से निर्मित वस्तुएँ- संठाहालय में संगृहीत मूंज की बनी वस्तुओं में मूंज की मुनिया, कुरई (चित्र सं0 7), डलिया (चित्र सं0 8) आदि प्रमुख हैं। जिसे प्रायः गाँव-देहात में देखा जा सकता है, जिसमें दैनिक जीवन में प्रयुक्त उपयोगी सामान अथवा अन्न इत्यादि रखा जाता है, जो लोककला का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

(चित्र सं0 7)

(चित्र सं0 8)

पटुआ से निर्मित अभिप्राय- पटुआ के पिछवई पर गणेश- गणपति अथवा समुदायों के नायक भारतीय साहित्य में इनके अनेक नाम सन्दर्भित हैं। यथा लम्बोदर, गजानन, एकदन्त, विनायक, गणनायक आदि[14] संग्रहालय में पटुआ के माध्यम से निर्मित गणति मुख का एक आकर्षक अंकन प्राप्त

हुआ है (चित्र सं0 9)। इसके अलावा पटुआ के पालना में झूलती पुतरी एवं बटुआ भी प्राप्त हुआ है। यह आकृतियाँ बहुत ही कलात्मक एवं सुन्दर रूप से बनायी गयी प्रतीत होती हैं (चित्र सं0 10)।

(चित्र सं0 9)

(चित्र सं0 10)

मिट्टी से निर्मित खिलौने- भारतीय संस्कृति में प्रागैतिहासिक काल से लेकर वर्तमान काल तक मिट्टी से विविध प्रकार के अभिप्राय बनाने की परम्परा रही है। गंगा और सोन नदी की घाटियों से अनेक प्रकार के मृण्पात्र, खिलौने आदि प्राप्त हुए हैं। इनका निर्माण पूर्वी उत्तर प्रदेश के अनेक जनपदों, यथा- राजघाट, कौशाम्बी, भीटा आदि कलाकेन्द्रों पर भी होता रहा है। मिट्टी से बने अनेक अभिप्राय निम्नलिखित विषयों के बने हैं, जिनमें धार्मिक एवं मनोरंजक अभिप्राय, दैनिक जीवन में प्रयुक्त होने वाले उपादान, पशु-पक्षी एवं विशेष त्यौहारों से सम्बन्धित अनुष्ठानों पर निर्मित होने वाले खिलौने इत्यादि प्रमुख हैं। संठाहालय में संगृहीत मिट्टी द्वारा निर्मित वस्तुएँ निम्नलिखित हैं।

लालटेन- यह वस्तु प्रकाश उत्पन्न करने के लिए उपयोग की जाती है (चित्र सं0 11, 12)

(चित्र सं0 11)

(चित्र सं0 12)

हाथी- भारतीय लोककला के विशिष्ट अभिप्रायों में हाथी विशेष प्रमुख अभिप्राय है। साहित्य में इसके विविध नाम अभिहित हैं, यथा- गज, गयन्द, ऐरावत, चतुरदन्त आदि। भारतीय कला में हस्ती का अंकन, मौर्य, शुंग, गुप्त एवं गुप्तोत्तर काल की कला में देखने को मिलता है। लोक कला के प्रतीक हस्ती का अंकन विवाह अथवा शुभाशुभ अवसरों पर चित्रात्मक एवं मिट्टी के अभिप्रायों के रूप में किया जाता है।[15] (चित्र सं0 13, 14)

(चित्र सं0 13)

(चित्र सं0 14)

अश्व- मानव सभ्यता के क्रमिक विकास में अश्व बहुउपयोगी साधन रहा है। सिन्धु घाटी की सभ्यता से लेकर मध्यकालीन कलाओं में अश्व का अंकन प्रमुखता के साथ देखा जा सकता है। भारतीय लोककला के प्रमुख अभिप्रायों में अश्व का अंकन लोक पर्वों, त्यौहारों, अनुष्ठानों पर विशेष रूप से किया जाता है।[16] (चित्र सं0 15, 16)

(चित्र सं0 15)

(चित्र सं0 16)

दीपक- इस उपादान का उपयोग पूजन के समय किया जाता है। यह अंधेरे को मिटाता है, मनुष्य के जीवन का प्रतीक है।[17] संग्रहालय में संगृहीत अनेक मुख वाले दीये पर गणेश का आकर्षक दृश्यांकन किया गया है। (चित्र सं0 17)

(चित्र सं0 17)

लोक वाद्ययंत्र- भारतीय संस्कृति में लोककला के अन्तर्गत संगीत एवं वाद्य-यंत्रों का भी विशेष एवं महत्त्वपूर्ण स्थान है। लोककलाकार विभिन्न अवसरों पर सोहर-जनेऊ-विवाह अवसर के गीत, झूमर, चैता, कजरी, बिरहा, आल्हा, चनैनी, लोरिकी आदि का गायन करते हैं। गीत वस्तुति के साथ ही साथ संगीत में अनेक प्रकार के वाद्ययंत्रों का भी उपयोग किया जाता है। इन वाद्य-यंत्रों में ताशा, झाँझ, नगाड़ा, मृदंग, तुरही, सिंघा, पिपिहरी, वंशी, ढोल, करताल, खँजड़ी आदि का प्रमुख स्थान है।[18] संग्रहालय में झाँझ नामक वाद्ययंत्र संगृहीत है।

लोककला का उद्‌भव एवं विकास सामाजिक समूहों में ही हुआ तथा विद्वानों का मत है कि लोककला मनुष्य की मौलिक अभिव्यक्ति एवं बाह्य परिवेश का प्रतिबिम्ब है। एक कलाकार समाज से पृथक होकर कला का निर्माण नहीं कर सकता। नदी, पर्वत, मैदान, समुद्र, वनस्पति, पशु-पक्षी आदि सभी के साथ उसका भावात्मक सम्बन्ध होता है साथ ही सृजन प्रक्रिया में समाज के विभिन्न प्रतीक व अभिप्राय व्यक्ति की प्रगति के साथ सम्बन्धित होते हैं, और उन्हें कलाकार भौतिक स्वरूप प्रदान कर समाज के सम्मुख प्रस्तुत करता है। यह विविध प्रकार के अभिप्राय लोककलाकारों की जीविका की प्रमुख साधन भी है। वर्तमान काल में इन लोककला अभिप्रायों को कलाकार आकर्षक स्वरूप में प्रस्तुत करके बाजार में विक्रय करके अपने परिवार का भरण-पोषण कर रहे हैं। भारतीय लोककला सदियों से अपने धार्मिक एवं लौकिक पक्ष के माध्यम से विकसित एवं अविकसित समाज को परोक्ष एवं अपरोक्ष रूप से प्रभावित कर रही हैं।

लोककला जहाँ पर्वों एवं अनुष्ठानों के साथ ही दैनिक जीवन में भी प्रयुक्त होने वाली वस्तुओं में परिलक्षित होती है, वहीं लोकगीत, कथा-कहानी एवं मुहावरों में भी प्रकट होती है। लोककला में शास्त्रीयकला एवं तांत्रिक तथ्य भी विद्यमान होते हैं। लोककलाओं में संस्कार, धर्म, मनोरंजन आदि स्वरूप जुड़े होते हैं। लोककला में इनकी भूमिका को देखते हुए इन्हें निर्माण तत्त्व एवं भाव तत्त्व से भी सम्बन्धित किया जा सकता है। कला के क्षेत्र में प्रयुक्त होने वाले अनेक सजीव एवं निर्जीव आकृतियों यथा- अश्व, सिंह, हस्ति, मयूर, स्वस्तिक, घट, सूर्य, चन्द्र, चक्र आदि भी लोककला के अभिप्राय हैं। इन विविध प्रकार के अभिप्रायों के आधार पर सम्पूर्ण जीवन का अर्थ-निरूपण एवं निर्वचन अभिव्यक्त हुआ। लोककला के अन्तर्गत प्राकृतिक तत्त्वों एवं उपादानों को भी मनोहारी स्वरूपों में प्रस्तुत किया गया है। प्राकृतिक तत्वों की उपयोगिता को भारतीय अनुष्ठानों एवं पर्वों के साथ जोड़कर इन्हें भी पूज्य माना गया इनमें पद्‌म, तुलसी, दूब, वेलपत्र, धान, जौ, नारियल, शंख, दूध, दही, घी, तेल आदि प्रमुख हैं। कोई भी लौकिक पर्व एवं अनुष्ठान इनके अनुपस्थित में पूर्ण नहीं होता है। भारतीय संस्कृतिक में लोककला के अभिप्रायों की उपादेयता का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। अभिप्रायों के माध्यम से हमारी संस्कृति में समाहित सामाजिक मूल्य, नैतिक आदर्श और विश्व के दृष्टिकोण से अपने स्वरूप को आदर्श बनाती है।

विद्वान एवं मनीषी यह भी स्वीकार करते रहे हैं कि कला जहाँ व्यक्ति की मूल्यवान उपलब्धि है, वहीं समाज का दर्पण भी है। मानव के आन्तरिक एवं बाह्य परिवेश का प्रतिबिम्ब है, एक कलाकार सामाजिक भावों, संस्कारों, रीति-रिवाजों एवं प्रथाओं को अभिव्यक्त करता है। कला के माध्यम से सामाजिक उत्थान एवं गतिमयता प्रदान करने के लिए कलाकार आत्ममंथन कर नया सृजन करता है जो प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से सामाजिक प्रणालियों से सम्बन्धित है। अतः कला न केवल समाज की झाँकी प्रस्तुत करती है, अपितु उसे सशक्त व स्वस्थ बनाने के लिए सौन्दर्यपरक व कल्याणपरक रूपों का भी निर्माण करती है।[19]

लोक कला हमें विरासत एवं परम्पराओं से प्राप्त होती है, जिनका मूल अति प्राचीन है। जन्म से लेकर मृत्यु तक यह हमारे जीवन में रची बसी होती है और पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तानान्तरित होती रहती है किन्तु सामयिक परिवर्तन के कारण आधुनिकीकरण एवं औद्यौगिकीकरण की आँधी में हमारे प्रदेश की लोक कला परम्परायें शनैः- शनैः विलुप्त होती जा रही है एवं इनका मूल स्वरूप भी परिवर्तित हो रहा है। इसलिये इन प्राचीन लोक कला परम्पराओं के मूल स्वरूप को अक्षुण्य बनाये रखने एवं इनके विशेष दस्तावेजो को संकलित कर भविष्य के लिये सुरक्षित रखने के लिए हमारे संग्रहालयों को आवश्यक प्रबंध करना अत्यावश्यक है। यही नहीं लोक कला संग्रहालयों को अधिक से अधिक प्रचार-प्रसार एवं कला वस्तुओं के प्रति जनसामान्य की अधिक से अधिक भागीदारी बढ़ाये जाने हेतु समय-समय पर संग्रहालयों द्वारा विभिन्न शैक्षिक कार्यकम यथा-व्याख्यान, प्रदर्शनी, कार्यशालायें संगोष्ठी, विभिन्न त्योहारों के आधार पर प्रतियोगितायें, आडियों-वीजुअल कार्यकम तथा छोटे बच्चों के लिए प्रशिक्षण कार्यशालायें आयोजित की जानी चाहिए।

लोक कला संग्रहालय अपनी योजनाओं के विस्तार एवं कला प्रर्दशों के सरंक्षण, संवर्धन एवं संग्रह की दिशा में सतत् प्रयत्नशील होने चाहिए।

सन्दर्भ सूची-

1. हरद्वारी लाल शर्मा, लोक-वार्ता विज्ञान, खण्ड दो, लखनऊ, 1990, पृ0 670
2. बिमला वर्मा, उत्तर प्रदेश की लोककला भूमि और भित्ति अलंकरण, दिल्ली, 1987, पृ0 13
3. मंजुला चतुर्वेदी, भारतीय लोककला के अभिप्राय, वाराणसी, 2009, पृ0 39
4. कमल गिरि, काशी की लोक कला, वाराणसी, 1987, पृ0 32
5. अर्जुनदास केसरी, भारतीय लोककला, सोनभद्र, 1997, पृ0 11-12
6. आचार्य मानिक, ऋग्वेद, दिल्ली, 2009, पृ0 137
7. कमल गिरि, पूर्व निर्दिष्ट, पृ0 32
8. मत्स्यपुराण, 257.975-979
9. वायुपुराण, 75.626
10. कमल गिरि, पूर्व निर्दिष्ट, पृ0 32
11. बिमला वर्मा, पूर्व निर्दिष्ट, पृ0 38
12. अर्जुनदास केसरी, पूर्व निर्दिष्ट, पृ0 11-12
13. कमल गिरि, पूर्व निर्दिष्ट, पृ0 42
14. श्रीभगवान सिंह, गुप्तकालीन हिन्दू देव-प्रतिमाएँ, खण्ड दो, दिल्ली, 1987, पृ0 56
15. मंजुला चतुर्वेदी, पूर्व निर्दिष्ट, पृ0 130
16. वही, पृ0 129
17. बिमला वर्मा, पूर्व निर्दिष्ट, पृ0 40
18. द्विजराम यादव, लोक साहित्य, इलाहाबाद, 1993, पृ0 90
19. मंजुला चतुर्वेदी, पूर्व निर्दिष्ट , पृ0 39, 187, 201-202

शिक्षा व्यवस्था में मूल्यगत ह्रास ''कैसी आगी लगाई के सन्दर्भ में''

हनी दर्शन एवं डॉ0 उर्वशी गहलौत***

विश्वविद्यालय विचारों की जन्म स्थली हैं, जहां विद्यार्थी का व्यक्तित्व निर्माण के विभिन्न स्तरों से गुजरता है। लेकिन इधर कुछ दशकों में हम ऐसे सामाजिक बदलाव से गुजरे हैं कि हमारे जीवन मूल्य और आदर्श ह्रासोन्मुख हो गए हैं। शब्दों से अर्थ तथा संबंधों से विश्वास विस्थापित हो गए हैं। स्वार्थों की आँधी में राष्ट्रहित पत्तों की नियति को प्राप्त हुआ है। इस पतनोन्मुख परिवेश में भ्रष्टाचार की लपटों में निष्ठा, नैतिकता और प्रतिरोध का साहस सब भस्मसात हो चुके हैं। ऐसी दशा में हमारी शिक्षा व्यवस्था भी नकारात्मक परिवर्तनों से अछूती नहीं रह गई है। शिक्षकों से लेकर छात्रों तक और पूरे शैक्षिक संस्थानों में नैतिकता का ह्रास नजर आता है। आज विश्वविद्यालय अखाड़े हैं- शिक्षकों के वर्चस्व की लड़ाइयों के, गढ़ हैं जातिवाद के, नर्सरी हैं राजनीति और अपराध की। यह स्थिति जितनी घातक है उतनी ही शर्मनाक भी। विडम्बना यह है कि यह हमारे समय का यथार्थ है। रचनाकार अपने परिवेश की उपज होते हैं और ह्रासोन्मुख परिवेश उसकी चिन्ता का केन्द्र।

'असगर वजाहत सामाजिक बुराइयों से गहरी प्रतिबद्धता के साथ संघर्ष करने वाले रचनाकार हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं में ढहते जीवन मूल्यों के प्रति गहरी चिन्ता दर्शायी है। शिक्षा का वर्तमान स्वरूप भविष्य के सुनहरे सपनों से मेल नहीं खा रहा है। प्राथमिक शिक्षा से लेकर उच्च शिक्षा तक में असंगतियाँ विस्तार पा रही हैं और समूचा शैक्षिक परिवेश पतनशीलता की जद में है। असगर वजाहत ने 'कैसी आगी लगाई' उपन्यास के मध्यम से विश्वविद्यालय परिसर में व्याप्त असंगतियों को सहजता से रेखांकित किया है। इस रचना के केन्द्र में है अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय का परिसर, जो 'राग दरबारी' उपन्यास के 'छंगामल इन्टर कॉलेज' का विस्तृत रूप नजर आता है। साथ ही अपने इसी रूप में देश के छोटे से छोटे और बड़े से बड़े विश्वविद्यालय को प्रतिबिम्बित करता है। लेखक ने शिक्षकों से लेकर छात्रों के आचरण पर भी किसी तरह का पर्दा नहीं डाला है सब अपने नैसर्गिक रूप में प्रत्यक्ष हुए हैं और उनके माध्यम से कभी विश्व गुरू रहे भारत की शिक्षा व्यवस्था की पोल भी खुल गई है। गौरतलब है कि असगर वजाहत स्वयं देश के एक प्रतिष्ठित विश्वविद्यालय में प्रोफेसर रहे हैं इसलिए वे विश्वविद्यालयों के श्याम पक्ष से अनभिज्ञ नहीं। इसमें भोगे गए यथार्थ का अंकन पूरी विश्वसनीयता के साथ किया गया है।

लेखक ने इस उपन्यास में साजिद के जीवन के पृष्ठ पलटे हैं इस दौरान तमाम विसंगतियाँ स्वतः आती गई। उनका लक्ष्य केवल विश्वविद्यालय की विसंगतियों का अंकन करना नहीं, बल्कि समकालीन जीवन की समस्याओं का चित्रण करना है। फिर भी इस उपन्यास के केन्द्र में है विश्वविद्यालय और उससे जुड़े हैं सारी घटनाओं और अन्तर्कथाओं के तार। इसलिए इसमें लेखक विश्वविद्यालय की विभिन्न झांकियाँ दिखाकर प्रश्नांकित करता है हर पक्षपातपूर्ण पहलू को। असगर वजाहत की तीक्ष्ण दृष्टि से कुछ भी अछूता नहीं रह जाता- चाहे वह आर्ट गैलेरी हो या विभागीय राजनीति या फिर पक्षपात के शिकार साहित्यकार, शिक्षकों का अनैतिक आचरण या छात्रों की अनैतिकता के स्तर पर पहुँची मस्ती या फिर विषयों की उपेक्षा, शिक्षकों का विवरण देने में भी लेखक ने उनके चरित्र की बखिया उधेड़ दी है। विश्वविद्यालय में अकमण्यता का ऐसा आलम है कि कक्षाएँ अध्यापकों की प्रतीक्षा की भेंट चढ़ जाती हैं और अध्यापक लॉन के कोने में धूप खाने में व्यस्त रहते हैं तो कभी इधर-उधर की उल-जुलूल बातो की- ''चार एस, छायावाद पढ़ाते-पढ़ाते भाव-विभोर हो जाते हैं। जहां कहीं भी मौका मिलता है नारी सौन्दर्य और फिर सेक्स पर बातें ले आते हैं...वैसे चार एस, यह बार-बार कहते हैं कि वे हर छात्रा को अपनी बहन और बेटी के बराबर समझते हैं। लेकिन जिन नजरों से वे अपनी तथाकथित बहन-बेटियों को देखते हैं उससे यह साफ पता चल जाता था कि उनके लिए इन शब्दों का क्या अर्थ है।''[1] कक्षा के इस ओछे वातावरण से यह प्रश्न उठता है कि- प्राध्यापक छात्रों के सामने ये कैसा आदर्श प्रस्तुत कर रहे हैं। क्या इस तरह के विचारों के बीज बोकर संस्कारित किया जाता है नई पीढ़ी को?

विज्ञान और हिन्दी की कक्षा के माध्यम से शिक्षा व्यवस्था की कलई खुल गई है। ''क्लासों में लेक्चर होते थे। धुआंधार लेक्चर, लेक्चर देने वालों को देने से मतलब या सुनने वालों को सुनने से कितना मतलब है यह लेक्चर देने वालों का काम न था।''[2] हिन्दी की कक्षा का विवरण तो हास्य की सीमा में प्रवेश पाता है- ''रीतिकाल मैं तुम लोगों को पढ़ाता। अवश्य पढ़ाता यदि कक्षा में कन्याएँ न होतीं। ...अब आता है आधुनिक काल तुम सब आधुनिक हो। मुझसे अधिक आधुनिक हो तो मैं तुम्हें आधुनिक काल क्या पढ़ाऊँगा।''[3] इन कक्षाओं के विद्यार्थी भी पढ़ाई को लेकर गंभीर नहीं, वे शराबखोरी और बहसबाजी में मस्त रहते हैं। कक्षाओं में बैठकर भी वे वहाँ उपस्थित नहीं रहते। उनके लिए विश्वविद्यालय हंगामे और मस्ती की पाठशाला है। अनैतिकता

* शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, कला संकाय, काशीहिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी

** असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, महिला महाविद्यालय, काशीहिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी

और अकर्मण्यता से आक्रान्त शैक्षिक परिवेश में शोध-कार्य भी कछुआ चाल से चलते हैं। रिसर्च स्कॉलर के शोषण का भी रेखांकन असगर वजाहत ने किया है। रिसर्च स्कॉलर से छेड़खानी और उस मसले पर विभागाध्यक्ष का हाथ खड़े कर लेना पूरी व्यवस्था के खोखलेपन की निर्मम सूचना है- ''उन्होंने रेखा से कहा तुम स्त्री हो डॉ0 सुमन पुरुष हैं। मैं बीच में कहाँ आता हूँ।''[4] रिसर्च स्कॉलर से छेड़खानी का प्रसंग कभी कक्षा में ही छात्राओं पर छींटाकशी का प्रसंग तो कभी पत्नी को तलाक देकर रिसर्च स्कॉलकर से शादी कर लेने के प्रसंग कलंकित करते हैं गुरु-शिष्य के पवित्र रिश्ते को। शिक्षक चरित्र-निर्माता कहे जाते हैं, चरित्र-निर्माता ही जब चारित्रिक पतन से ग्रस्त हो जाएं तो समाज का स्वरूप कैसा हो सकता है। शिक्षकों के अवांछित व्यवहार का विरोध करने पर छात्रों को कम अंक देने की धमकी का जिक्र चरमराती शिक्षा-व्यवस्था को रेखांकित करता है- ''अब में देखता हूँ कि मेरे पेपर में तुम्हारे साठ नम्बर कैसे आते हैं।''[5] ये धमकी प्राध्यापकों की मनमानी के चरम को दर्शाती है। ये कैसा शैक्षिक परिवेश है जहाँ गलत का विरोध आत्मघाती स्थितियों का जनक है।

भाषाओं की क्या स्थिति है हमारे विश्वविद्यालयों में लेखक ने इसे बखूबी दर्शाया है। ''दरअसल यूनिवर्सिटी में सबसे ज्यादा कद्र इंजीनियरिंग पढ़ने वाले लड़कों की होती थी। उसके बाद साइंस में एम0एस0सी0 करने वालों का नम्बर आता था आर्ट्स फैकल्टी में साइकोलॉजी, इंग्लिश, हिस्ट्री, इकोनॉमिक्स वगैरह के डिपार्टमेंट्स में पढ़ने वाले लड़कों को भी अच्छी नजर से देखा जाता था लेकिन उर्दू, फारसी, अरबी, संस्कृत और हिन्दी पढ़ने वालों को तो लोग ऐसा समझते थे कि जैसे बिल्कुल नक्कारा और निकम्मे लोग है।''[6] भाषाएं जिनके माध्यम से विचारों की अभिव्यक्ति होती है उदासीनता के गर्त में पड़ी है। असगर वजाहत ने साजिद के हिन्दी को एम0ए0 के विषय के रूप में चुनने के प्रसंग में राष्ट्रभाषा की स्थिति का रेखांकन किया है। साजिद का हिन्दी से एम0ए0 करने का निर्णय सबके लिए स्तब्धकारी था। जैसे हिन्दी कोई अछूत विषय हो और उसे पढ़ना गँवार होने का प्रमाण- ''हॉस्टल में या दूसरे जानने वालों को जैसे ही ये पता चला कि मैंने हिन्दी में दाखिला लिया है, उन पर जैसे बम गिरा- अरे क्या हिन्दी? यार पागल हो गए हो? लिटरेचर में ही एम0ए0 करना था तो अंग्रेजी में करते हिन्दी भी कोई सब्जेक्ट है।''[7] यह सवाल आज भी विभिन्न विश्वविद्यालयों के कैम्पस में गूँजता है और हिन्दी के हर विद्यार्थी को इससे कभी न कभी जूझना पड़ता है। जैसे हिन्दी विषय न होकर कोई बदनुमा दाग हो, जो कैरियर पर लग जाए तो छुड़ाए न छूटे। लेखक को हिन्दी के प्रति यह उदासीन रवैया अखरता है। किन्तु यह रवैया बरकरार है। लेखक का मानना है कि अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में एक मुस्लिम के हिन्दी पढ़ने के निर्णय का स्वागत हो भी कैसे सकता था जबकि हिन्दी पट्टी के विश्वविद्यालयों में हिन्दी उपेक्षित है।

असगर वजाहत ने यूनिवर्सिटी की कैन्टीन के माध्यम से विश्वविद्यालय के कई स्याह पहलू दर्शाये हैं क्योंकि कैन्टीन बहसबाजी का मुख्य अड्डा थी और कैन्टीन के मालिक जावेद कमाल किसी खबरिया चैनल से कम न थे। वहाँ जमी महफिल में कभी गीत गजल, कभी राजनीतिक चर्चाएँ और कभी विभाग की बातें होती। जिनमें प्रोफेसर्स के जीवन के अन्तरंग पन्ने भी बेबाकी से पलट दिये जाते थे। किसकी पत्नी से बात बंद है, किसका तलाक क्यों हुआ और किसका किससे अफेयर है। इन चर्चाओं के माध्यम से लेखक ने प्रोफेसर्स के बीच होने वाली चर्चाओं की पोल खोली है। इन सबके बीच अनकहा छोड़ दिया गया है एक प्रश्न हमारी नैतिकता, सामाजिकता पर कि यह कौन सा सामाजिक चलन है? कैसी है यह मानसिकता कि दूसरों की जिन्दगी के अनछुए पहलू हम देख लेना चाहते हैं। ये सच है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है तो क्या सामाजिकता का अर्थ छिद्रान्वेषी बैठकें है, जिसमें निन्दा रस का आस्वाद होता है?

'कैसी आगी लगाई' सहज जीवन प्रसंगों के बीच से उठाता है जटिल प्रश्न, जो जुड़े हैं हमारी व्यवस्था की विकृति से। इससे झांकती विश्वविद्यालय की विभिन्न छवियाँ प्रश्नांकित करती है शिक्षा जगत में विस्तार पाती संकीर्णता को, पक्षपातपूर्ण रवैये को। विश्वविद्यालय की साहित्यिक संस्था 'हमराही' के माध्यम से जो समस्याएँ प्रत्यक्ष हुई हैं, वह इसका ज्वलंत प्रमाण है- ''युनिवर्सिटी में बॉडी बिल्डरों, खिलाड़ियों, तैराकों, दौड़ने वालों, हाई जम्प करने वालों, लाँग जम्प करने वालों गरज ये कि सब कुछ करने वालों की हिम्मत आफजाई के लिए बहुत कुछ है। उन्हें अच्छा खाना भी दिया जाता है, विशेष सुविधाएँ भी हैं। लेकिन लेखकों और कवियों के लिए सिर्फ दुआएं हैं।''[9] यह कथन महज व्यंग्य नहीं, इसके पीछे उपेक्षित साहित्यकारों की गहरी पीड़ा भी है, जिसकी पड़ताल लेखक ने की है। साहित्य समाज का दर्पण है, जिसमें युग चेतना प्रतिम्बित होती है किन्तु आज विडम्बना यह है कि वो दर्पण उदासीनता झेल रहा है। आन्तरिक कलह से त्रस्त विश्वविद्यालय के राजनीतिक गुटों की झांकी भी इसमें है साथ ही है अवसरवादिता जो मंच पर परस्पर विरोधियों को भी पर्दे के पीछे हाथ मिलाने पर विवश करती है। आज का आदमी स्वार्थों के धागों से बंधी कठपुतली है उसमें कोई उसूल, कोई आदर्श कोई सिद्धान्त शेष नहीं। अवसरवाद की सोने की जंजीरों से बंधे बुद्धिजीवियों की चैतन्य आँखें उसी चमक में चौंधिया गई है। उन्होंने अपनी क्रियाशीलता कैद कर ली है तटस्थता की चहारदीवारी में। शासन चाहे किसी का हो उनका राजयोग नहीं छिनता फिर दीन जनता की सूनी आँखों का दर्द उनके खून में उबाल कैसे पैदा कर सकता है, जबकि सुविधाओं की बाढ़ में उनकी विचारधारा सर्द पड़ चुकी है। असगर वजाहत ने एक झटके से हटा दिया है आवरण जन पक्षधरता का स्वांग रचाते सुविधा भोगी बुद्धिजीवियों की रंगीन दुनिया का- ''कुल मिलाकर यही लग रहा था कि कितनी सुरक्षित, कितनी आनंदमय, कितनी पुरानी और स्थायी, कितनी शानदार और ग्रैंड है इन लोगों की दुनिया यहाँ वर्षों पहले भी यही सबकुछ रहा होगाा सत्ता के परिवर्तन ने भी यहाँ कोई फर्क न डाला होगा और न भविष्य में ऐसा होगा तो फिर किस परिवर्तन या क्रान्ति की कामना की जाए''[9] ये निष्क्रिय बुद्धिजीवी उपज है पतनोन्मुख शैक्षिक परिवेश के या यूं भी कहा सकते हैं इस पतनोन्मुख परिवेश की सर्जना निष्क्रिय बुद्धिजीवियों ने ही की है। पतनोन्मुख परिवेश में जहाँ तरक्की के ताले सोर्स की चाभी से खुलते हैं

और निष्क्रिय बुद्धिजीवी जो स्वार्थों की चाभी पर चलते है, अवसरों की उड़ान भरते हैं और महज बयानबाजी करते हैं। जबकि शिक्षा के क्षेत्र में मंच से ऊँची-ऊँची बातें करना मायने नहीं रखता है, मायने रखता है तो उसे व्यवहार जगत में लाना, क्योंकि इसके बिना सारे विचार उन कोरे स्वप्नों की तरह साबित होते हैं जिनका यथार्थ से कोई वास्ता नहीं।

विश्वविद्यालयों का विकृत होता स्वरूप परोक्ष रूप से नई पीढ़ी के विचारों की विकृति की निर्मम सूचना है। वर्तमान शैक्षिक परिवेश का आइना 'कैसी आगी लगाई' घिरा है सवालों की आग से। ह्रासोन्मुख परिवेश की छवियाँ हमारी चेतना के ठहरे पानी में तरंगे पैदा करती है साथ ही इक्कीसवीं सदी में विकसित होते राष्ट्र का स्वप्न देखने वाली आँखों की नींद उड़ाने को पर्याप्त हैं। मूल्यों के मलवे पर गतिशील इस समय में असगर वजाहत हमारी चेतना को झकझोर कर ले जाना चाहते हैं वास्तविकता के चक्रव्यूह में, जहाँ निरूत्तर खड़ा है हमारा विवेक और खोखली होती जा रही है हमारी शिक्षा व्यवस्था। विश्वविद्यालय का ऐसा स्वरूप शर्मिन्दा करता है, चूँकि विश्वविद्यालय विचारों की जन्मस्थली है इसीलिए वितृष्णा भले न हो पर श्रद्धा जैसे भाव भी नहीं उपज पाते इसके प्रति।

सन्दर्भ सूची-

1. असगर वजाहत- कैसी आगी लगाई, पृ0 168
2. वही, पृ0 30
3. वही, पृ0 170
4. वही, पृ0 195
5. वही, पृ0189
6. वही, पृ0 134
7. वही, पृ0165
8. वही, पृ0 318
9. वही, पृ0 289

●

अशोक वाटिका में श्रीसीताजी जिस वृक्ष के नीचे रहती थीं वह शीशम का वृक्ष था

श्रीधनञ्जय प्रसाद शास्त्री[*]

प्रायः सभी लोग यह मानते हैं कि श्रीसीताजी अशोक वाटिका में अशोक वृक्ष के नीचे रहती थीं। तथा पूरी वाटिका ही अशोक वृक्षों की थी।

महर्षि वाल्मीकि ने उसे शीशम का वृक्ष बताया है। उस वाटिका में अनेक तरह के वृक्ष थे लेकिन अधिकता अशोक वृक्षों की थी। जब हनुमानजी लङ्का के राजमहलों में तथा अन्य महत्वपूर्ण स्थानों में खोज लिये साथ ही नदी-नालों और तालाबों, बावड़ियों में भी दृष्टि दौड़ा लिये तब सोचने लगे कि श्रीसीताजी को खोजने से कौन सी जगह छूटी है। ऐसे ही में उन्हें एक उद्यान दिखा। उस उद्यान की सुन्दरता देख वे मुग्ध हो गये और सोचने लगे-अगर श्रीसीताजी जीवित हैं तो इस उद्यान में अवश्य आती होंगी, इसका गंभीर निरीक्षण किया जाय। उस वाटिका का प्रवेशद्वार तथा चहारदिवारी रत्नजटित थे, आखिर लंङ्का सोने की जो थी।

हनुमान जी उछलकर चाहरदिवारी पर जा बैठे। उन्होंने अन्दर दृष्टिपात किया, देखा-साल (सखुआ), अशोक, निम्ब (नीम), चम्पा, बहुआर, नागकेशर (सुल्तान चंपा, नागचंपा), आम, फूलों से लदे हुए थे। यथा-

''सालानशोकान् भव्यांश्च चम्पकांश्च सुपुष्पितान्।
उद्दालकान् नागवृक्षांश्चूतान् कपिमुखानपि॥''

(वा0रा0/सुन्दरकाण्ड/14/3)

इस वाटिका में कृत्रिम नदियाँ (नहर) बनी थी जो उसमें बनी बावड़ियों को जलपूर्ण रखती थीं। इन जलाशयों में जलकुक्कुट, बत्तख, काराण्डव, चक्रवाक (चकोर), हंस क्रीड़ा कर रहे थे। तटों पर मयूर नृत्य कर रहे थे। कोयल, सुग्गे, नीलकंठ, बगुले, कबूतर आदि पक्षी उषाकाल होने के कारण खूब चहक रहे थे। हनुमानजी की उपस्थिति से घबड़ाकर सब पक्षी ऐसे उड़े कि वृक्षों से फूलों की वर्षा ही होने लगी और हनुमानजी उन फूलों से ऐसे सज गये मानो वह वानर की कोई नयी प्रजाति हों। मृग आदि पशु भी इधर-उधर चौकड़ी भरने लगे। उस वाटिका में बहुत ऊँचे पर्वत भी वे देखे जिससे नदी उतर रही थी। पर्वत के पास सुन्दर कृत्रिम सरोवर था जिसकी सीढ़ियाँ रत्नजटित थीं। किनारे पर बालू में मोतियों की राशि-राशि बिखरी पड़ी थी। अधिकांश वृक्ष सुवर्ण के समान आभा बिखेर रहे थे। उन वृक्षों के डोलने से घुंघरु की ध्वनि आ रही थी। हनुमानजी इन वृक्षों और इनकी छटा देख मुग्ध थे। सुनहले वृक्ष और सुनहले फूलों से लदी डालियाँ, हवा का एक छोटा झोंका भी फूलों की वर्षा-सा कर रहा था और हनुमानजी उसमें बिल्कुल सन गये थे, वह अपने को भी सोने का ही समझने लगे थे।

घूमते हुये उन्होंने एक बड़े-शीशम का वृक्ष देखा जो सुनहला था तथा सुनहले पुष्पों से लदा था। बहुत घने पत्ते थे उसके, लताओं से परिवेष्टित वह वृक्ष बहुत ही शीतलता प्रदान कर रहा था। अगल-बगल के वृक्षों से वह बहुत ही ऊँचा और घना था हनुमानजी ने उसी वृक्ष का आश्रय लिया श्रीसीताजी का निरीक्षण करने के लिए। यथोक्तं-

सुपुष्पिताग्रान् रुचिरांस्तरुणाङ्कुरपल्लवान्।
तामारुहय महावेगः शिंशपां पर्णसंवृताम्॥

(वा0रा0/सुन्दरकाण्ड/14/41)

इस श्लोक में शिंशपा शब्द आया है और उसका अर्थ भी टीकाकार ने शिंशपा ही लिखा है। उस वृक्ष के पास एक सुन्दर सुसज्जित सरोवर विद्यमान था जहाँ चन्दन चम्पा और वकुल वृक्ष मौलेसरी बहुतायत में थे। पास ही नदी भी थी और वह भी रत्नजटित सीढ़ियों से अलंकृत चमत्कृत थी।

श्रीहनुमानजी ने सोचा- श्रीसीताजी प्रकृति प्रेमी हैं। उन्होंने बहुत दिन तक वन में वास किया है। यहाँ सुन्दर मृग हैं, तालाब है, नदी हैं, वृक्ष हैं, लताये हैं, फूलों की सुगन्ध है पक्षियों का कलरव है, लताओं ने वृक्षों का आश्रय ले निकुञ्ज बना दिया है जिससे यह स्थान सुखद, शीतल है। पति वियोग से विदग्ध श्रीसीताजी को यहाँ अवश्य आराम मिलेगा। वे यहाँ अवश्य आती होंगी। अभी प्रातःकालीन उपासना का समय है अतः श्रीसीताजी प्रातःकालीन संध्या-वंदन के लिए यहाँ अवश्य आयेंगी, यह स्थान मेरे लिए अत्यन्त उपयुक्त है। यहाँ से मैं दूर-दूर तक दृष्टि दौड़ा सकता हूँ।

नाना प्रकार की बातें सोचते हुये उस शीशम वृक्ष पर वे उपयुक्त स्थान खोजने लगे। उन्होंने सोचा कि रखवाले जो हैं वाटिका के, उनसे अपने को बचाना आवश्यक है। राक्षसों से भिड़न्त किसी तरह से नहीं होनी चाहिये अन्यथा अत्यधिक थकावट होने पर वापसी में समुद्र लांघना कठिन हो जायेगा। ऐसा सोच उन्होंने अपने को और छोटा बना लिया और ऊपर जाकर बैठ गये। अभी तक वे दूर-दूर तक ही निरीक्षण में लगे थे। दृष्टि समीप किये तो पास ही एक अत्यन्त ऊँचा भव्य मंदिर दिखा जो 1000 खम्भोंवाला था। उसकी सीढ़ियाँ इस शीशम वृक्ष के समीप पहुँच रही थीं। वह चैत्र-प्रासाद सुन्दर संगमरमर से बना था, उत्तम रत्नों और मणियों से जटित था।

उस मंदिर के समीप धरती पर एक स्त्री बैठी हुयी दिखी जो राक्षसियों से बंदिनी की तरह घिरी थी। उस स्त्री के शरीर पर एक पीले रंग की रेशमी साड़ी थी पुरानी सी। हनुमानजी उस स्त्री का निपुण-निरीक्षण करने लगे। श्रीरामजीने श्रीसीताजी का स्वरूप जो बताया था सब वैसा हीं था बस समय, स्थान और परिस्थिति बदली थी। वस्त्र अत्यन्त मलिन हो गया था यद्यपि वह वैभवशाली

* आयुर्वेदचार्य व ज्योतिषाचार्य, श्रीसुभद्रा औषधालय, सीवान, बिहार

था। शरीर पर मैल जम गयी थी फिर भी वह शुभ्र गौर-वर्ण थीं। जो आभूषण श्रीरामजी बताये थे उनमें बहुत कुछ थे। कुछ तो उन्होंने अपहरण-काल में सुग्रीव और कुछ बंदरों को देखकर फेंक दिया था। उनके कानों में मणिजटित कुत्ते की दाँत की आकृति का त्रिकर्ण अभी भी चमक रहा था। वातावरण में भयंकर उदासी थी। आग से झुलसी हुयी कमलिनी की तरह म्लान मुखमण्डल था। आँखों से आँसुओं की अविरल धारा अभी भी बह रही थी। श्रीसीताजी की स्थिति देख महावीरजी की आँखें भी आँसू बहाने लगीं। दया, करुणा, शान्ति, श्रद्धा, क्षमा, कान्ति, लक्ष्मी, स्मृति, बुद्धि आदि सबकी जननी जनक जाया जननी की गोद में धूल धूसरित पड़ी थी। अत्यन्त निरीह, दीन-दुःखी श्रीसीताजी ने कैसे अपने प्राण अभी तक त्यागा नहीं था, यह अत्यन्त आश्चर्य में हनुमानजी को डाले हुये था। श्रीराम से पुनः मिलने का आत्मविश्वास उन्हें जीवित रखे हुये था। यद्यपि यह अवसर हनुमानजी के लिए अत्यन्त दुःख का था, और वे दुःखी थे भी, लेकिन इस भयानक दुःख में विचलित करने से जो उन्हें रोक रही थी वह थी श्रीसीताजी की खोज की सफलता। मैं इसे समझने का प्रयन्त कर रहा हूँ कि श्रीसीताजी धरती पर हताश और निराश पड़ी हुयी हैं। चारों ओर से घेर कर बैठी भयंकर राक्षसियों से, कहीं से उन्हें सहायता की आशा अभी भी है। ऊपर वृक्ष पर महावीर किंकर्त्तण्यविमूढ़ से छुपे हैं। अस्ताचलगामी भुवन-भास्कर की ओर श्रीहनुमानजी ने देखा और उस रात वहीं और वैसे ही बने रहने का निश्चय किया। अब वे अवसर की प्रतीक्षा में थे श्रीसीताजी से कब और कैसे संवाद स्थापित किया जाय?

सोचते-जगते-सोते रात्रि विदा होने लगी, अरुणोदय हुआ और लङ्का के राक्षसों के घरों में घंटे और शंख की ध्वनि गूँजने लगी। सर्वत्र वेद-पाठ होने लगा। साम-संगीत-ध्वनि से दिशायें व्याप्त हो गयीं। राक्षसों की नगरी में कर्ण सुखदायिनी साम-ध्वनि श्रीहनुमानजी को आश्चर्य चकित कर गयी। सभी नगर निवासी प्रातः संध्या वंदन में लग गये। सहसा उसी समय नींद से उठा रावण, अपने हरम्य की सैकड़ों रानियों के साथ अलसाया-लड़खड़ता अशोक-वाटिका में श्रीसीताजी के समीप आकर प्रणय निवेदन करने लगा। श्रीसीताजी के तिरस्कार पर वह अत्यन्त विचलित और क्रोधित हो दुर्वाच्य-कुवाच्य कहने लगा। उसने स्पष्ट सीता से कह दिया कि वह दो महीने में उससे विवाह कर लें अन्यथा उनकी हत्या कर दी जायेगी। अगर उसकी स्त्रियाँ उसे खींच कर बलात् नहीं ले जातीं तो उसी समय वह हत्या कर सकता था।

उसके चले जाने पर बहुत देर तक निगरानी करने वाली कुरुप और भयानक राक्षसियाँ श्रीसीताजी को रावण से विवाह करने के लिए समझाने लगीं-डराने लगीं-धमकाने लगीं। श्रीसीताजी अत्यन्त व्याकुल हो प्राणान्त करने की बात सोचने लगीं। उनका दुःख देखकर त्रिजटा नामक राक्षसी ने उन्हें सांत्वना दिया राक्षसियों को डाँटा और बताया कि मैंने अभी स्वप्न देखा है श्रीसीताजी से मिलने श्रीराम आयें हैं और सम्पूर्ण लङ्का और राक्षस नष्ट हो गये हैं। किसी तरह से धीरे-धीरे श्रीसीताजी की व्याकुलता कम हुयी लेकिन रुक-रुककर आसुओं का ढलकना बना रहा।

वृक्ष पर बैठे हनुमानजी ने सोचा राक्षसियों के थोड़ा असावधान होने पर श्रीसीताजी से संवाद स्थापित किया जाय। अभी प्रातःकालीन कार्यों के लिये ये सुरक्षा घेरा शिथिल कर रही हैं यह अवसर तो ठीक है पर मेरे संवाद से श्रीसीताजी आशंकित होकर मुझे रावण का भेजा दूत मत समझ लें अतः कोई भी उपाय श्रीसीताजी के अनुकूल होना चाहिए।

बहुत सोच-विचार कर हनुमानजी ने अवधी में बोलने का तय किया । संस्कृत हनुमानजी की स्वाभाविक भाषा थी परन्तु रावण की तथा समूची लङ्का की भाषा संस्कृत थी। अतः उस भाषा में बोलने से श्रीसीताजी पर उलटा प्रभाव पड़ सकता था। अतःऊपर बैठे हुये ही उन्होंने अवध की भाषा प्राकृत में बोलना प्रारम्भ किया ''एक थे राजा दशरथ। उनकी अनेक रानियाँ थीं। उनकी बड़ी रानी कौशल्या के पुत्र श्रीराम को राजगद्दी देने की तैयारी हुयी तो छोटी रानी कैकेयी ने अपने पुत्र भरत के लिए राजगद्दी माँग दिया और राम के लिये वनवास माँग दिया, पूर्व की वचनबद्धता के कारण राजा दशरथ को राजी होना पड़ा। श्रीराम को जंगल में जाना पड़ा, ऐसे में श्रीराम के छोटे भाई लक्ष्मण भी राम के साथ जंगल जाने के लिये तैयार हो गये और श्रीराम की प्यारी पत्नी श्रीसीताजी भी वन में पति के साथ साधिकार चल पड़ीं। वन में ही राक्षस रावण ने छल से श्रीसीताजी का हरण कर लिया। श्रीराम अपने भ्राता के साथ भटकते हुये सुठीव से मिले। सुग्रीव की व्यथा सुन, राम बालि को मारकर उसका राज्य सुग्रीव को दे दिये। बदले में सुग्रीव ने श्रीसीताजी को ढूँढने के लिये करोड़ों बन्दरों को धरती के चारों ओर पठाया है; उन्हीं में से एक मैं यहाँ ढूँढते-ढूँढते आया हूँ। यहाँ मैं जिन तपस्विनी स्त्री को देख रहा हूँ क्या वे ही श्रीराम की सती-भार्या जानकी हैं? श्रीरामजी ने जैसा बताया था वैसा ही यह दिख रही हैं।''

श्रीसीताजी राक्षसी त्रिजटा से तुरंत पहले स्वप्न की बात सुन चुकीं थीं कि श्रीराम उनका उद्धार करने लङ्का आ गये हैं और क्षणभर भी नहीं बीता अवधी में बोली जाने वाली भाषा उनको सुनने को मिली और बोलने वाला उन्हीं के लिये बोल रहा है। उनकी उत्सुकता बढ़ गई यह कौन है जो इस वृक्ष के ऊपर से बोल रहा है? वे झट उठीं और उस वृक्ष की टहनी पकड़कर ऊपर देखने लगीं, बोलने वाले को ढूँढने लगीं। अभी-अभी जिनकी आँखे आँसुओं से इतनी भर गयी थी कि उनके अविराम प्रवाह के कारण कुछ दिखता नहीं था वही आँखें कुछ देखने के लिये लालायित हो शीशम वृक्ष की ऊपरी डालियों में किसी को खोजने लगी थीं ऐसे में शिर के बाल बार-बार आँखों को ढक देते थे। वे उन्हें हटाती, देखती, रोना भूल गयीं। बहुत ऊपर एक सुन्दर सुनहले रंग का वानर जो उजले कपड़े पहने था, बार-बार उन्हें हाथ जोड़कर प्रणाम कर रहा था। श्रीसीताजी उस तेजस्वी वानर को देख काठ बन गयीं- ''यह आदमी की तरह बोलता है, कितना सुन्दर है, इसकी आँखें कितनी प्रकाशमान हैं लगता है सोने की आँखें हैं। फिर उन्होंने सोचा यह रावण की कोई माया तो नहीं है तब तक उनकी बायीं आँख फड़कने लगी अनायास मन में उल्लास आ गया।

''घुंघराले बालों वाली श्रीसीताजी ने केशों से ढँके मुखमण्डल को ऊपर उठाकर उस वृक्ष की ओर देखा''- टीकाकार ने उस वृक्ष को अशोक लिखा है पर मूल श्लोक में उसे शिंशपा कहा गया है। श्लोक है-

ततः सा वक्रकेशान्ता सुकेशी केशसंवृतम्।
उन्नम्य वदनं भीरुः शिंशपामन्ववैक्षत॥

(वा0रा0/सुन्दरकाण्ड/31/17)

लगता है टीकाकार (गीताप्रेस, गोरखपुर प्रकाशन) ने लोगों की श्रद्धा के अनुसार 'अशोक' उस वृक्ष को बताया है क्योंकि उन्हें मालूम है कि 'शिंशपा' को हिन्दी में शीशम कहा जाता है अशोक नहीं।

वाल्मीकीय रामायण के किष्किन्धाकाण्ड के प्रथम सर्ग के 81वाँ श्लोक में पम्पा सरोवर के समीप के वृक्षों की चर्चा में लिखा गया है-

''मुचकुन्द अर्जुनाश्चैव दृश्यन्ते गिरिसानुषु।
केतक उद्दालकाश्चैव शिरीषाः शिंशपा धवाः।।''

यहाँ टीका करते हुये उन्होंने शिंशपा का अर्थ शीशम लिखा है अतः टीका करते समय टीकाकार ने परम्परा पर ध्यान दिया है सत्यार्थ पर नहीं।

श्रीसीताजी ने हनुमानजी की आवाज सुनकर अपने स्थान से उठकर शीशम की टहनी पकड़कर ऊपर की ओर देखा था। ऐसे में मन में ऐसा भी भाव उठता है कि कहीं वह बगल के वृक्ष के पास तो नहीं बैठी थी जो अशोक हो सकता है तो अगला श्लोक संदेहोत्पत्ति नहीं होने देता। जब हनुमानजी लङ्का के राजमहलों को स्वाहा कर पुनः श्रीसीताजी के पास प्रणाम करने आये तो उन्होंने देखा- श्रीसीताजी शीशम वृक्ष की जड़ के पास बैठी हुयी थीं। उन्होंने बहुत हर्ष के साथ प्रणाम किया क्योंकि उन्हें भय हो गया था कि राजमहलों की आग ने यहाँ तक अपना प्रभाव मत दिखाया हो। श्रीसीमाजी भी अपने इस अद्भुत बलशाली सेवक पर प्रसन्न थीं। देखिये इस श्लोक को-

ततस्त, शिंशपामूले जानकीं पर्यवस्थिताम्।
अभिवाद्याब्रवीद् दिष्ट्यापश्यामि त्वामिहाक्षताम्।।

(वा0रा0/सु0का0/56/1)

इस तरह हम देखते हैं अशोक वाटिका का वह वृक्ष जिसके नीचे श्रीसीताजी बैठती थीं वह शीशम ही था।

मैंने सोचा कहीं अशोक का पर्यायवाची शब्द शिंशपा तो नहीं है तो इसके लिए ''निघण्टु'' के पन्ने उलटना प्रारम्भ किया। अशोक के नाम-

''अशोकः शोकनाशश्च विचित्रः कर्णपूरकः।
कङ्केलि हेमपुष्पश्च पिण्डपुष्पतथैवच।।''

(वृ0 निघण्टु रत्नाकर/7-8 भाग/पृ0सं0 383/पुष्पवर्ग)

अशोक, शोकनाश, विचित्र, कर्णपूरक, कङ्केलि, हेमपुष्प, पिण्डपुष्प आदि इसके नाम हैं वृ0 निघण्टु रत्नाकर[1] में लिखा है।

दूसरा श्लोक मिला-

अशोको हेमपुष्पश्च वञ्जुलोताम्रपल्लवः।
कङ्केलि पिण्डपुष्पश्च गंधपुष्पो नटस्तथा।।

(अभिनव बूटी दर्पण/अकारादि वर्णक्रम/अशोक वर्ग/पृ0 116)

यह श्लोक अभिनव बूटी दर्पण[2] में है। कहने के लिए अशोक दो प्रकार का है लेकिन औषधीय प्रयोग में एक ही आता है। दूसरे को औषधीय प्रयोग में नहीं लाया जाता। जो औषधि में लिया जाता है उसका वृक्ष झोपड़ी की आकार का होता है। टहनियाँ पतली होती हैं पत्ते 3 इञ्च से 9 इञ्च तक लम्बे होते हैं और प्रत्येक टहनी में 3 जोड़े से 6 जोड़े पत्ते होते हैं। पुष्प गुच्छों में लगते हैं। प्रारम्भ में पुष्प पीलापन लिये लाल रंग के होते हैं, बाद लाल हो जाते हैं। फल इसका चपटा और सेम की तरह होता है और उनकी लम्बाई 6 से 10 इंच तक होती है। कली में बीज 4 से 8 तक होते हैं। यह बंगाल में सबसे अधिक पाया जाता है। इसका लैटिन नाम- साराका इन्डिका है। यह औषधीय वृक्ष स्त्रियों के अत्यार्तष और प्रदर की अच्छी दवा है। विशेषकर रक्तप्रदर में अधिक कारगर है वैसे खूनी बवासीर और खूनी पेचिस में दिया जा सकता है और फायदा भी करेगा। शोढल निघण्टु का कहना है-

''अशोकस्य त्वचा रक्तप्रदरस्य विनाशनी।''

इसका क्षीरपाक बनाकर लेना सर्वोत्तम है। 25 ठाम छाल कुचलकर 1 कप दूध 3 कप पानी मिलाकर उबालें। जब दूध बच जाय पानी जल जाय तब इसे भोजन के 1 घंटा पहले पुराना गुड़ डालकर पी लें 2 बार। ग्रंथ में मात्रा अधिक है अगर उतना दिया जाय तो आज के समय में गलत होगा। बाजार में इससे बनी दवा है- अशोकारिष्ट और अशोकघृत। यह वृक्ष स्त्री रोग में प्रशस्त है। यह वृक्ष स्त्री शोक नाशक है। कान्ता वाम पदाघात से यह पुष्पित होता है, ऐसी मान्यता है।

दूसरा अशोक बन्दनवार सजाने के काम आता है। फल पकने पर जामुन की तरह होता है। फल का आकार भी जामुन की तरह है। इसे औषधीय कार्य में नहीं लिया जाता।

अब शिंशपा पर थोड़ा विचार- शिंशपा संस्कृत नाम है- हिन्दी, गुजराती और फारसी में शीशम किंबा सीसम कहा जाता है। लैटिन नाम- डालबर्जिया सीसू है। अशोक जहाँ गर्भाशय को सुधारकर प्रजा-स्थापन में सहायक है वहीं शीशम गर्भनाशक है। यह उष्ण वीर्य है अतः जिनको दाह हो वे मत प्रयोग में लायें। इसका बुरादा 10 ग्राम 1 ग्लास पानी में उबालकर 1 चौथाई बचने पर मधु मिलाकर भोजन के पहले 2 बार पीने से चर्म रोग ठीक होता है, कुष्ठ ठीक होता है, उजला कुष्ठ भी ठीक होता है। दवा पीने के साथ ही एक हाँडी में बुरादा भरकर पेंदी में छेदकर, जमीन में थोड़ा गड्ढा कर एक कटोरी नीचे रखें। कटोरी के ऊपर हाँडी को रख चारों तरफ से गोंयठा सजाकर आग लगा दें, ठंढा होने पर कटोरी में टपके तैल को रख लें। दाग पर इसी तैल को लगायें।

इसके पत्ते उबालकर पीने से खून की खराबी से होने वाला फोड़ा-फुन्सी ठीक होता है। अशोक और शीशम का उपयोग रोगी लोगों के लिये लिखा अतः इसे कोष्ठ के अन्तर्गत मान लें।

सन्दर्भ सूची-

1. शालिग्राम- वृ0 निघण्टु रत्नाकर, हेमराज श्रीकृष्णदास, अप्रैल 2004 ई0
2. रूपलालजी वैश्य- अभिनव बूटी दर्पण, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, चतुर्थ संस्करण, 1999

●

वैदिक शिक्षा समीक्षा एवं वर्तमानकालिक उच्च शिक्षा का वैश्वीकृत एवं नवीनीकृत स्वरूप

डॉ. निधि गोस्वामी[*]

शिक्षा से तात्पर्य मूलतः व्यक्तित्व के समग्र विकास से है। विद्वानों और मनीषियों के अनुसार शिक्षा से तात्पर्य जीवन के समन्वित अर्थ तथा अखिल विकास से है। शिक्षा की परिभाषा करते हुए श्रुति कहती है कि शिक्षा वह है जो हमें बन्धन से मुक्त कराती है 'या विद्यया सा विमुक्तये अर्थात् विद्या के द्वारा आत्मज्ञान होता है एवं या लोक परलोक भय साधनी स विद्या। यजुर्वेद के 50वें अध्याय में वर्णित है विद्ययाऽमृतमश्नुते अर्थात् विद्या ग्रहण से अमरत्व की उपलब्धि होती है। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने 'गीता' में कहा है 'ऋतेज्ञानान्न मुक्तिः' अर्थात् ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती है।

वेदों में शिक्षा के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए मनुष्य के शारीरिक, मानसिक बौद्धिक तथा आत्मिक विकास पर बल दिया गया है। वेदों तथा अन्य वाङ्मय में शिक्षा के विषय में उत्तमोत्तम आदेश प्राप्त होते हैं। शिक्षा का प्राचीनतम स्वरूप अथर्ववेद में प्राप्त होता है जिसमें गुरु शिष्य के सम्बन्ध में विस्तार मिलता है। 'पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह।' मैक्समूलर ने अपनी पुस्तक "India what can it teach us" में एक स्थान पर लिखा है 'अगर मैं विश्वभर में उस देश को ढूंढने के लिये चारों दिशाओं में आँखें उठाकर देखूँ जिस पर प्रकृति देवी ने अपना सम्पूर्ण वैभव, पराक्रम और सौन्दर्य खुले हाथों से लुटाकर उसे पृथ्वी का स्वर्ग बना दिया है तो मेरी अंगुली भारत की ओर उठेगी' सम्भवतः इस देश की वैदिकज्ञानगङ्गा इसकी ओर इंगित करती है कि यहाँ की वैदिक परम्परा और उससे आप्लावित ज्ञान ऋचा अपने आपमें कितनी प्रखर है। सुकरात ने शिक्षा का मुख्य उद्देश्य सार्वभौम सत्यज्ञान ही माना है। प्लेटो ने शिक्षा का मुख्य उद्देश्य सच्चरित्र, विनय, संस्कृति-सभ्यता, गुणग्राहिता, कलाप्रियता ही माना है। अरस्तु के अनुसार आध्यात्म दर्शन एवं लोक व्यवहार शिक्षा दोनों के दर्शन पक्ष को समान ही बताया है। डेवेनपोर्ट ने शिक्षा का उद्देश्य नैतिकरूप से दान से बताया है। स्पेन्सर के अनुसार शिक्षा वाह्य और आभ्यान्तर दोनों अवस्थाओं में साम्यता लाती है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर जी ने रूस महोदय के शिक्षा के मत का अनुसरण करते हुए प्राकृतिक वातावरण में उसका सहयोग करते हुए उन्मुक्त शिक्षा ग्रहण करना ही उपयुक्त कहा है।

वैदिक शिक्षा प्रणाली के अन्तर्गत शिक्षा की ऐसी आदर्श व्यवस्था की गई थी जो मनुष्य के भौतिक और आध्यात्मिक जीवन को सफल बनाने में सहायक थे। मानव जीवन का परम लक्ष्य ही वैदिक वाङ्मय में परम आह्लाद बताया गया है जिसकी अनुभूति बिना ज्ञान के सम्भव नहीं है जिसके अभाव से मनुष्य पशु समान है। 'ज्ञानेन हीना पशुभिः समानाः' इस दोष निवारण हेतु ही धर्माचार्यों ने विद्यारम्भ वेदाध्ययन एवं उपनयन इत्यादि षोडश संस्कारों का वर्णन किया है जिसकी महत्ता को किसी भी रूप में झुठलाया नहीं जा सकता है। यह संस्कार प्रथम सोपान के रूप में मानव को संस्कारी बनाता हुआ उसके अन्तर में निहित गहन अंधकार का विनाश करता है। वेदों में शिक्षा तथा उसमें निहित ज्ञान प्राप्ति की याचना इस मन्त्र में द्योतित हो रही है- शिक्षेयमस्मै दित्सेयं शचीपते मनीषिणे मनीषिणे मनीषिणे। यदहं गोपतिः स्याम् ।।

तैत्तिरीयोपनिषद् में 'मातृदेवो भवः पितृदेवों भवः के साथ आचार्य देवो भव' कहकर शिक्षा को प्राप्त करने वाले गुरु का महत्व माता-पिता के समान बताया गया है। 'गुरु साक्षात् परब्रह्म' से उसकी वन्दना की गई है, जिससे उसकी तुलना परम तत्व से करते हुए आत्मतत्वों का ज्ञान कराने वाला इंगित किया गया है।

स्वामी विवेकानन्द ने कहा है कि मनुष्य की अन्तर्निहित पूर्णता को अभिव्यक्ति प्रदान करने वाली प्रक्रिया का नाम ही शिक्षा है। इन परिभाषाओं को मापदण्ड मानकर उसकी कसौटी को परखना अत्यन्त श्रेयस्कर है। आज मैं शैक्षिक पद्धतियों और तकनीकियों के साथ-साथ शिक्षा का ठीक-ठीक प्रयोग और उसकी उपयोगिता को समझने और समझाने का प्रयास कर रही हूँ। वैदिक कालीन शिक्षा से उपरोक्त तथ्यों का परिकलन तो होता ही है साथ ही साथ उसके गूढ़तम विषय को भी जाना जा सकता है। वेदों के उपयुक्त सटीक तथा विशुद्ध ज्ञान के लिये षड् वेदाङ्गों के अध्ययन की आवश्यकता होती है जिसमें शिक्षा वेदाङ्ग ही उसे ठीक-ठीक एवं शुद्ध परीधि में समाहित कराता है। शिक्षा में स्वर और वर्णों आदि के उच्चारण की रीति का उपदेश दिया जाता है। भाष्यकार आचार्य सायण ने अपने ग्रन्थ ऋग्वेद भाष्य भूमिका में शिक्षा की परिभाषा ही है- ''स्वरवर्णातुच्चारणप्रकारायत्रोपदिश्यते सा शिक्षा''।

वैदिक शिक्षा से संहिताओं और ग्रन्थों के उच्चारण और प्रयोग परिशिष्ट का संज्ञान होने से उनमें निहित ज्ञान तत्वों को जाना जाता था तथा उससे निसर्गित श्रुतधारा से समस्त विधाओं का ज्ञान होता था जिससे विद्यार्थी या श्रोता को आत्मरसानुभूति होने के साथ साथ जीवनमुक्ति भी प्राप्त होती थी।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में इसकी महत्ता का सामन्यार्थ ही परिवर्तित हो गया है। इसकी आवश्यकता और उपयोगिता के सम्बन्ध में उक्त है कि 'शिक्षा जीवन का शाश्वत मूल्य है।' मानवीय चेतना जिन दो प्रकारों के मूल्यों की परिधि में पल्लवित होती है उनमें कुछ शाश्वत होते हैं और कुछ परिवर्तनशील।

* पूर्व शोधार्थिनी, वेद विभाग, संस्कृतविद्याधर्मविज्ञान संकाय, काशीहिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी

शिक्षा को जीवन का शाश्वत और अतुल्य मूल्य कहा जा सकता है क्योंकि कथञ्चित कोई अज्ञानी और अशिक्षित व्यक्ति अपने जीवन को विकासशील नहीं बना सकता है जब तक उसमें कुछ सीखने या जानने की उत्कण्ठा न हो।

शिक्षा का अर्थ केवल वस्तुओं और विभिन्न विषयों का ज्ञान मात्र नहीं है। यदि अर्थ को यहीं तक सीमित मान लिया जाये तो वह अज्ञान से कुछ ही अधिक हो सकता है और कहीं-कहीं तो उससे भी भयावह परिणाम प्रस्तुत कर सकता है। ज्ञान अथवा शिक्षा की सार्थकता वस्तुओं के ज्ञान के साथ-साथ उपयोगी और अनुपयोगी का विश्लेषण करने तथा उनमें से अनुपयोगी को त्यागने एवं उपादेय ग्रहण करने की दृष्टि का विकास भी वांछित है। उत्तम और सर्वश्रेष्ठ शिक्षा से तात्पर्य है कि किसी वस्तु का वांछित ज्ञान सर्वोपयोगी, सर्वग्राही और हितैषिणी हो जिससे क्षेत्र विशेष में चिन्तन करने की सामर्थ्यता बढ़े और स्वतंत्र चिन्तन विकसित हो।

प्राचीन काल में मनीषियों ने इसी अवधारणा को जन्म दिया कि बालकों के 5 वर्ष होने पर उन्हें गुरुकुल भेज दिया जिससे बालक ज्ञान बिन्दुओं के प्रकाशित होने के लिए विद्याध्ययन गुरुकुल परम्परा से कर सकें। प्रोक्त भी है- ''जागतिक सुख और पारलौकिक आनन्द की प्राप्ति का साधन विद्या ही है।'' ज्ञान का आध्यात्मिक पक्ष को जीवन में प्राप्त करने का यर्थात् अर्थ विचारों को उपयुक्त दिशा में विकसित करना ही है। उद्दात और ऊर्ध्वगामी विचार ही मनुष्य को उच्चतम परिधियों को प्राप्त करा सकता है। स्वामी विवेकानन्द ने अपने शब्दों में कहा है- ''जिस शिक्षा से हम अपना जीवन निर्माण कर सकें, मनुष्य बन सकें, चरित्र गठन कर सकें और विचारों में सामंजस्य कर सकें, वही वास्तव में शिक्षा कहलाने योग्य है।''

विंस्टन चर्लिन ने कहा है- "The further backward you can look the further forward you are likely to see" अतः वर्तमान शिक्षा के विषय में विचार करने से पूर्व भारत की वैदिक शिक्षा पद्धति का अवलोकन करना समीचीन होगा।

आज शिक्षा का स्तर बढ़ तो रहा है किन्तु वह आँकड़ा पुस्तकीय मेला और टॉपर्स श्रेणी की अंकपत्रों और डिग्रीयों से आँका जा रहा है। वर्तमान शिक्षा से उच्च संस्थाओं में नियुक्ति तो हो रही है किन्तु सामाजिक, आध्यात्मिक और व्यवहारिक स्थान रिक्त है जिसके लिए शिक्षा के विषय विशेष के उभयविध पक्ष परखना अत्यन्त आवश्यक हो गया है।

शिक्षा के प्रसार और व्यवहार के लिये समय-समय विद्वत परिषद् ने अलग-अलग योजना बनाई जिसके अनुसार शिक्षा विद्या का प्रसार हो सके। इन्हीं योजना के अनुसार विद्याग्रहण कराई जा रही है-

1. राष्ट्रीय शिक्षा नीति एवं कार्ययोजना
2. भारतीय शिक्षा आयोग
3. विश्वविद्यालय आयोग
4. सैडलर आयोग
5. वुडएक्ट रिपोर्ट
6. हॉर्टेग समिति
7. वुड का आदेश पत्र
8. ताराचन्द्र समिति
9. राधाकृष्णन आयोग (विश्वविद्यालय आयोग)
10. कोठारी आयोग
11. मुदालिया आयोग
12. श्री माली समिति
13. आचार्य राममूर्ति समिति
14. विद्यालय पाठ्यक्रम पुनरावलोकन समिति
15. सर्वशिक्षा अभियान
16. प्रारम्भिक शिक्षा
17. माध्यमिक शिक्षा
18. विश्वविद्यालय और उच्चशिक्षा
19. जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम

समय-समय पर विभिन्न योजनाओं के आधार पर शिक्षा के प्रासार्य और उद्देश्यों की परिपूर्ति के लिये कार्य किया जाता है। शिक्षा की पूर्णता के लिये भाषा एवं उसके प्रति श्रद्धा का होना अति आवश्यक है। भाषागत दृष्टि में तथा उसकी उत्तमता के विचार में भाषा मर्मज्ञों द्वारा संसार की सभी भाषाओं में संस्कृत को प्रथम स्थान दिया गया है। यदि कोई भाषा संगणक के लिये उपयुक्त है तो वह संस्कृत ही है। इस भाषा का बोध सभी भारतीयों के लिये आवश्यक है। स्वामी विवेकानन्द के अनुसार संस्कृत की शिक्षा अवश्य होनी चाहिए क्योंकि संस्कृत शब्दों की ध्वनि मात्र से ही मानव जाति को एक प्रकार का गौरव, शक्ति और बल प्राप्त हो जाता है।

शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य ही व्यक्ति के चरित्र का निर्माण करना है। प्राचीन ऋषियों के दृष्टि में शिक्षा विकास के मार्ग का वह पहिया है जिस पर आसीन होकर ही उत्तमोत्तम धनार्जन अर्थात् ज्ञान को प्राप्त किया जा सकता है। इसका उद्देश्य मात्र पुस्तकीय ज्ञान प्राप्त करना ही नहीं है वरन् व्यवहारिक ज्ञान प्राप्त करना भी है। शास्त्रों का पण्डित मूर्ख के समान ही होता यदि उसने कर्मशील व्यक्ति के रूप में निपुणता प्राप्त नहीं की क्योंकि सिद्धान्तों को जानना ही पर्याप्त नहीं है वरन् उसको व्यवहारिक दृष्टि से भी प्रयोग में लाना उचित ज्ञान है। 'शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खाः यस्तु क्रियावान्पुरुषः स एव।' वर्तमान में शिक्षा ठाहण का स्वरूप क्रियावान पुरुष बनाकर ही करना परिहार्य है।

शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य मानव के भौतिक एवं आध्यात्मिक जीवन का सर्वाङ्गीण विकास करना है। जीवनपर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया 'शिक्षा' जीवन का वह आइना है जिसमें मनुष्य अपनी योग्यताओं और क्षमताओं को प्रतिबिम्ब के रूप में देखता है। इसका प्रमुख उद्देश्य ज्ञान पिपासा जगाने के साथ-साथ व्यक्ति को संस्कारी, विचारवार तथा संयमी बनाना है। शिक्षा के द्वारा ही समाज अपनी भावी पीढ़ी को उच्चादर्शों, अभीष्ट आशाओं, उत्कण्ठ आकांक्षाओं, सनातन मूल्यों, सतत् विश्वासों तथा प्राचीन परम्पराओं से युक्त अपनी सांस्कृतिक धरोहर को हस्तान्तरित करता है।

उच्चशिक्षा किसी भी देश के आर्थिक विकास तथा सुसंस्कृत समाज की आधारभूत बिन्दु होती है। वैश्वीकरण की प्रक्रिया ने शिक्षा के क्षेत्र को गहराई से प्रभावित किया है जिसके कारण शिक्षा के क्षेत्र में तीव्रता से वृद्धि हुई है और दूरस्थ शिक्षा का भी प्रसार हुआ है। वैश्वीकरण की अवधारणा का सामान्य अर्थ आर्थिक उदारीकरण तथा मुख्य अर्थव्यवस्था के रूप में लगाया जा सकता है। इस प्रक्रिया से शिक्षा का विस्तार तीव्रतम गति से हो रहा है, किन्तु भारत में इस प्रणाली के तहत कई ऐसे क्षेत्र या संभाग है, जो कि इससे प्रभावित होकर अपनी वास्तविकता को प्रायः खोते जा रहे हैं।

शिक्षा का प्राधान्य वैदिक काल से ही लोकनिष्ठ था, किन्तु शिक्षा या ज्ञान का अस्तित्व पृथ्वी के स्वरूप निर्धारण के पूर्व में व्याप्त था। हमारे वैदिक और पौराणिक ज्ञानतत्व पूर्व में ही अस्तित्व में थे किन्तु उनको प्रकाश में आने का सौभाग्य पृथ्वी रचना के पश्चात् प्राप्त हुआ, इस बात की पुष्टि हमारे विभिन्न वैदिक दृष्टा ऋषियों ने धीरे-धीरे समाज में किया जिस ज्ञान का प्रचार-प्रसार शनैःशनैः होता गया। विश्वस्तरीय रूप में शिक्षा का आविर्भाव विभिन्न दृष्टिकोण से माना गया है।

विश्व में शिक्षा अलग-अलग स्तर पर व्याप्त है, उसकी महत्ता एवं स्वरूप का भी अपना वर्चस्व है। उच्च शिक्षा का जो भी अस्तित्व एवं प्रचार है वो भी मूल में वैदिक कोषों से ही प्राप्त है किन्तु आज के आधुनिक परिप्रेक्ष्य में शिक्षा का जो वैश्वीकरण एवं नवीनीकरण होता जा रहा है उसमें शुद्धता एवं आध्यात्मिकता का प्रायः अभाव सा हो रहा है। वर्तमानकालिक विद्या अर्थकारी होती जा रही है। पूर्व में वैदिक विद्या का उद्देश्य ही धर्मार्थ चतुष्टय का पालन करना था किन्तु आज के परिप्रेक्ष्य में शिक्षा को मूलतः जीविकोपार्जन का माध्यम बनाया जा रहा है। शिक्षा प्राप्त करके मनुष्य को यथार्थ दृष्टिकोण प्राप्त होता है। उसके बल, बुद्धि, धैर्य, कार्यदक्षता और चिन्तन शक्ति की वृद्धि होती है। शिक्षा से परिष्कृत, विकसित और परिपक्व बुद्धि ही मनुष्य का बल है। 'बुद्धिर्यस्य बलं तस्य'।

प्राचीन आर्यों ने शिक्षा के माध्यम द्वारा अपनी संस्कृति का प्रसार सम्पूर्ण विश्व में किया। शिक्षा से ही प्रभावित होकर मनु का कथन है, 'इस देश के विद्वानों से पृथ्वी के सभी मनुष्य अपने चरित्र की शिक्षा लेंगे-' एतद्देशप्रसूतस्य सकाशात्जन्मनः। स्वं स्वं चरित्रशिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवः।।

शिक्षा के माध्यम से ही मनुष्य के सांस्कृतिक जीवन का एवं उसकी परम्पराओं का उत्कर्ष होता है इसके माध्यम से अतीत की संस्कृति वर्तमान में जीवित रहती है। भारतवर्ष में प्राचीन समय में शिक्षा पद्धति का विकास वैज्ञानिक रूप से हुआ था जिसके विभिन्न विषय प्राचीन शिक्षाविदों ने निर्धारित किये थे। वर्तमान शिक्षा पद्धति के तुल्य ही प्राचीन समय के शिक्षा संस्थाओं में भी शिक्षा के विषयों को निर्धारित करके उनके विभाग निश्चित किये गये थे। विभिन्न देशों से सम्बन्धित शिक्षाग्रन्थ एवं धर्मशास्त्र का प्रचलन पूर्णतः शुद्ध था किन्तु आज के वर्तमान उच्चशिक्षा के परिप्रेक्ष्य में शास्त्रों की मौलिकता एवं सम्पूर्णता लुप्त होती जा रही है तथा नित्य नव्य रूप लेकर समसामयिक रूप से हमारे सामने परिलक्षित हो रही है।

एक ओर तो ज्ञान 'विज्ञान' के चरम स्तर को पार कर रहा है तो दूसरी ओर वही ज्ञान विश्व के मौलिकतापूर्ण ग्रन्थों या तत्वों का हनन कर रहा है। आचार्य मनु ने अपने धर्मशास्त्र में ज्ञान के महत्व का वर्णन किया है- 'वेद शास्त्रार्थ तत्त्वज्ञो यत्र यत्राश्रम वसन्। इहैव लोके तिष्ठन् स ब्रह्मभूयाय कल्पते।।'

उपनिषद् युग में वैदिक संहिताओं, वेदाङ्गों एवं यज्ञ सम्बन्धी विधाओं का अध्ययन प्रचलित रहा है परन्तु सबसे अधिक महत्व पराविद्या को दिया गया है, ब्रह्मविद्या अर्थात् परा विद्या वैदिककाल के प्रारम्भ से ही किसी न किसी रूप में थी परन्तु उपनिषद् युग में इसका प्रस्फुटित एवं विकसित रूप प्राप्त हुआ है। छान्दोग्योपनिषद् में एक स्थान पर पूछने पर नारद मुनि कहते है- 'हे भगवान- मैनें ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, वेद के अर्थ-विधायक ग्रन्थ, पितृविद्या, राशिविद्या, दैवविद्या, निधिविद्या, वाकोवाक्य विद्या, एकाय विद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्र और सर्वजन्य विधाओं का अध्ययन किया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि आज के नवीन/आधुनिक परिप्रेक्ष्य से पूर्व में भी उच्च के कई आयाम अपने प्रारम्भिक रूप में उपस्थित थे।

वर्तमान में भारत में उच्च शिक्षा को नये आयाम विभिन्न पद्धतियों में प्राप्त हो रहे है और उनका प्रचार भी काफी हद तक सकारात्मक रूप में हो रहा है। सांस्कृतिक क्षेत्र में जो भारत की ज्ञानपूर्ण दृष्टि है वो शिक्षा को एक नवीन मार्ग की ओर उन्मुख कराती है। शिक्षा के क्षेत्र में आधुनिकीकरण एक ऐसी जटिल प्रक्रिया है जिससे कि समाज में ऐसे परिवर्तन आ रहे है जो एक-दूसरे पर व्याप्त है और अन्योन्याश्रित भी। आधुनिकीकरण या वैश्वीकरण की सङ्कल्पना के लिए तीन अवधारणाओं का मूलभूत महत्व है- ऊर्जा के अचेतन साधनों को मानव समस्याओं के समाधान के लिये अधिकाधिक प्रयोग में लाना और एक न्यूनतम स्वीकार्य जीवनस्तर को सुनिश्चित करना जिसकी अधिकतम सीमा धीरे-धीरे बढती जायें, इसे व्यक्तिगत प्रयास की अपेक्षा सामूहिक प्रयास से अधिक सफलता के साथ सम्पन्न किया जा सकता है तथा व्यक्तित्व में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाना जिससे प्रखरित व्यक्तित्व से समाज प्रखरित हो सके।

उच्च शिक्षा किसी भी देश के आर्थिक विकास एवं सुसंस्कृत समाज की स्थापना का आधारभूत बिन्दू होती है। उच्च शिक्षा के महत्व और योगदान को स्व0 जवाहर लाल नेहरू द्वारा 1947 में इलाहाबाद विश्वविद्यालय में दिये गये दीक्षान्त भाषण के अंश द्वारा समझ सकते हैं- 'विश्वविद्यालय मानववाद सहिष्णुता, विवेकपूर्ण विश्लेषण, विचारों में साहसिकता, सत्य की खोज का ही नहीं बल्कि मानवजाति का विकास और उच्चतर लक्ष्यों का प्रतिनिधित्व करते है।' यदि विश्वविद्यालय अपने कर्तव्यों एवं दायित्वों का सम्यक् निर्वहन करें तो राष्ट्र एवं लोगों का सदैव ही शुभ होगा।'' इस प्रकार की दृष्टि व सोच ने स्वतन्त्र भारत में उच्च शिक्षा के विस्तार का मार्ग प्रशस्त किया है। वर्तमान में भारत उच्च शिक्षा व्यवस्था तन्त्र विस्तार की दृष्टि से विश्व में दूसरे स्थान पर है। भारत में लगभग 307 विश्वविद्यालय या इसके समकक्ष उच्च संस्थान है। 18 केन्द्रीय व 81 मानद विश्वविद्यालय है लगभग 13150 डिग्री कॉलेज विभिन्न विश्वविद्यालयों से सम्बद्ध है इसमें 16000 महिला कॉलेज है। इस अभी शिक्षण संस्थाओं में 4.5 लाख शिक्षक और 95 लाख छात्रगण अध्ययनरत है। विगत कई वर्षों में अध्ययनोपरांत यह तथ्य सामने आया है कि सरकार भी उच्च शिक्षा के बजाय प्राथमिक शिक्षा पर अपना ध्यान केन्द्रित कर रही है, जिससे उच्च शिक्षा में आवश्यक संसाधनों की कमी होती जा रही है। इस बजटीय उपेक्षा का परिणाम उच्च शिक्षा के निजीकरण के रूप में परिलक्षित हो रहा है।

वैश्वीकरण की प्रक्रिया ने विश्व के स्वरूप को ही परिवर्तित कर दिया है। इससे भौगोलिक दूरियाँ समाप्त हो रही है और प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे से जुड़ रहा है और शिक्षा व संस्कृति का आदान-प्रदान हो रहा है। जीवन के विविध क्षेत्रों में सम्पूर्ण विश्व के हस्तक्षेप को आज सहज ही स्वीकारा जा सकता है। वैश्वीकरण समकालीन दुनिया की सत्यता है।

इस सन्दर्भ में महात्मा गांधी का कथन विचारणीय है कि ''मैं नहीं चाहता कि मेरा मकान चारों ओर दीवारों से घिरा हो और मेरी खिड़कियां बन्द हो, मैं तो चाहता हूँ कि संस्कृतियों की हवाएं हमारे घर में जितनी भी आजादी से बह सके बहें, लेकिन मैं यह नहीं चाहता कि उनमें से कोई भी हवा मुझे मेरी जड़ों से उखाड़ दें।''

इस प्रकार से हम नवीन शिक्षा से वर्तमान प्रौद्योगिकी तथा नवीन तकनीकि ज्ञान से परिचित होते हैं और विश्व के किसी भी कोने में होने वाले अनुसंधान हमें लाभान्वित करते हैं। उच्च शिक्षा के प्रभावी निजीकरण के लिए ये आवश्यक है कि इसे केवल ख्याति प्राप्त विश्वविद्यालय/संस्थानों के हवाले किये जाये जिससे वाणिज्यीकरण पर रोक लगाई जा सके जिससे सामान्य वर्ग विशेष भी उच्चशिक्षा के सभी लाभ के आयाम को प्राप्त कर सकें। विश्वस्तरीय शैक्षिक कार्यक्रमों का संचालन व उच्चस्तरीय शिक्षकों की नियुक्ति करनी चाहिये जिससे कि उच्च शिक्षा की गुणवत्ता बनी रहे तथा व्यवसायिक एवं रोजगारपरक स्ववित्तपोषित कार्यक्रम का संचालन किया जाये एवं प्रकाशन का कार्य भी करना श्रेयस्कर हो।

वैश्वीकरण की दृष्टि से दूरस्थ शिक्षा का प्रचार-प्रसार भी बड़ा व्यापक हो गया है। इसमें परोक्ष रूप से शिक्षक दूरस्थ शिक्षार्थी को शिक्षा प्राप्त कराता है जिससे शिक्षण निर्देशन, परामर्श सामग्री आदि संचार माध्यमों से प्राप्त होते हैं।

भारत में सूचना प्रौद्योगिकी के एकीकरण से तकनीकि शिक्षा प्रणाली अधिकाधिक सूक्ष्म एवं प्रभावकारी हो गई है। इस प्रकार से उच्चशिक्षा का वैश्वीकृत स्वरूप हमारे सामने प्रदर्शित हो रहा है जिससे कि शिक्षा का एक तरफ वृद्धि एवं विस्तार हो रहा है तो दूसरी ओर शिक्षा जनसामान्य की पहुँच से प्रायः दूर होती जा रही है जिससे निजात पाना आज के समय में जटिल प्रक्रिया है लेकिन असम्भव प्रयास नहीं।

सन्दर्भ सूची-

1. यजुर्वेद
2. गीता
3. अथर्ववेद
4. इण्डिया व्हाट कैन आई टीच एस
5. तैत्तिरीयोपनिषद
6. ऋग्वेद भाष्यभूमिका
7. वर्तमान शैक्षिक विमर्श
8. पंचतंत्र-मित्रभेद

●

वैदिक काल में विज्ञान एवं तकनीकी शिक्षा का स्वरूप

डॉ0 लतापंत तैलंग एवं डॉ0 वरद राज पाण्डेय***

21वीं सदी में विज्ञान एवं तकनीकी में हो रहे विकास के फलस्वरूप प्रोफेशनल की दिन प्रतिदिन मांग बढ़ रही है। सरकार भी विज्ञान एवं तकनीकी शिक्षा को विशेष प्राथमिकता प्रदान कर रही है। राष्ट्रीय एवं राज्यीय स्तर पर विज्ञान एवं तकनीकी शिक्षा को विस्तार प्रदान किया गया है। यह सरकारी एवं निजी दोनों तरीकों से संरक्षित है। इसने शिक्षा के क्षेत्र में एक क्रांति का सूत्रपात किया है। विज्ञान एवं तकनीकी शिक्षा की उपर्युक्त व्यवस्था से स्वावलम्बी, स्वरोजगार की ओर उन्मुख, दक्ष, स्वतंत्र चिन्तक, कर्मयोगी तथा सुसंगठित व्यक्तित्व वाले नागरिकों का विकास सुनिश्चित है।

ऐतिहासिक दृष्टि से वेदों में विज्ञान एवं तकनीकी शिक्षा के अनेक सूत्र मिलते हैं। ऊर्जा विश्वव्यापी है। यजुर्वेद में समुद्री ऊर्जा, जलीय ऊर्जा (Hydel), सौर ऊर्जा, पार्थिव ऊर्जा, आकाशीय ऊर्जा, भूभर्गीय ऊर्जा वृक्षादि से उत्पन्न ऊर्जा आदि का उल्लेख हुआ है।[1] ऋषि ने तालाब के जल के मन्थन से जलीय विद्युत का आविष्कार किया था-

त्वामग्ने पुष्कीरइणि-अथर्वा निरमन्थत।[2]

विज्ञान एवं तकनीकी शिक्षा के अन्तर्गत वर्तमान सिविल इंजीनियरिंग से प्राचीन शिक्षा साम्य रखती है। ऋग्वेद में एक हजार द्वार वाले भवन के निर्माण का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद में राजा वरूण के एक हजार द्वार वाले विशाल भवन का उल्लेख है -

बृहन्तं मानं वरुण स्वभावः सहस्त्रद्वारं जगमा गृहे ते।[3]

लौहनिर्मित नगर का उल्लेख भी मिलता है। ऋग्वेद और अथर्ववेद में लोहे के अभेद्य नगर या किले बनाने का उल्लेख है-

पुरः कृणुध्वम् आयसीरधृष्टाः।[4]

शतं पूर्भिरायसीभिर्नि पाहि।[5]

विविध यंत्र- तैत्तिरीय संहिता में इन यंत्रों का उल्लेख है-

1. वातयंत्र- वायु की दिशा जानने का यंत्र।
2. ऋतु यंत्र- मौसम की जानकारी हेतु
3. दिग्यंत्र- दिशाबोधक यंत्र।
4. तेजो यंत्र- प्रकाश दूर तक फेंकने का यंत्र।
5. ओजो यंत्र- ऊर्जा उत्पन्न करने और नापने के यंत्र।[6]

विशाल पोत- ऋग्वेद आदि में विशाल समुद्र पोतों का उल्लेख है, जिनमें सौ या उससे अधिक पतवार (अरित्र) लगे होते थे।[7]

इसके साथ ही अनेक विज्ञान एवं तकनीकी विषयों पर जानकारी मिलती है- समुद्र के अन्दर और अन्तरिक्ष में चलने वाला जहाज (यान)[8], द्यु-भू में चलने वाला यान, पृथ्वी की सात परतें, पर्वतों में धन, समुद्र में निधि[9] आदि।

वैदिक काल में विज्ञान एवं तकनीकी की शिक्षा योग्यतानुसार एवं वर्णानुसार प्रदान करने की व्यवस्था थी, जो कर्म शिक्षा कहलाती थी। ब्राह्मणों को पठन-पाठन (अध्यापन) और कर्मकाण्ड एवं यज्ञ कराना[10] (पुरोहित कार्य) क्षत्रियों को राजनीति और रणकौशल की, वैश्यों को कृषि, पशुपालन, हीरे, जवाहरातों की पहचान एवं मूल्य अनुमान, सूत ज्ञान, मसालों के ज्ञान एवं क्रय-विक्रय (वाणिज्य) की शिक्षा दी जाती थी। उस काल में सेवा कार्य करने वालों को शूद्र कहा जाता था। ये जीविकोपार्जन के लिए सेवा कार्य के साथ-साथ कताई, बुनाई, रंगाई, वास्तुकला, चित्रकला और शिल्प कार्य भी करते थे और नृत्य एवं संगीत से लोगों का मनोरंजन करते थे और इन कार्यों की शिक्षा ये अपने-अपने परिवारों में यथा क्रियाओं में भाग लेते हुए प्राप्त करते थे। इस काल में सूती व ऊनी कपड़ों का निर्माण, काष्ठ कार्य (रथों और नौकाओं का निर्माण), धातु कार्य (सोने- चांदी के आभूषणों और अन्य धातुओं के बर्तनों का निर्माण) पाषाण कार्य (प्रतिमाओं का निर्माण) और वास्तुकला (भवन निर्माण कार्य) बहुत उन्नत स्थिति में थे। गौतम धर्म सूत्र में 27 प्रकार के शिल्पियों का उल्लेख है। वैदिक काल में हमारे देश में आयुर्विज्ञान (रोग निदान, रोग उपचार और औषधि निर्माण) और शल्य विज्ञान की शिक्षा की भी उत्तम व्यवस्था थी। पशु चिकित्सा विज्ञान की शिक्षा पशुगृहों में दी जाती थी।

वैदिक साहित्य में कारू शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त है- कवि एवं शिल्पी। संस्कृत साहित्य में कारू शब्द का प्रयोग शिल्प के अर्थ में हुआ है।[11] ऋग्वेद[12] और अथर्ववेद[13] में कारू शब्द का अर्थ स्तोता, स्तुतिकर्त्ता या कवि है। उल्लेख है कि इन्द्र ने द्युलोक से सात कारूओं को उत्पन्न किया।[14] ये दिन भर काम करते थे और स्तुति करते थे। संभवतः वैदिक कारू शब्द इस श्रम-निष्ठा के कारण ही बाद में कवि अर्थ को छोड़कर शिल्पी अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। ऋग्वेद के एक अन्य मन्त्र में उल्लेख है- कारूरहं ततो भिषग् उपलप्रक्षिणी नना। नानाधियो वसूयवोऽनुगा इव तस्थिम।[15] अर्थात् - मैं कारू (कवि, स्तोता) का काम करता हूँ, पिता भिषक् (वैद्य) हैं, माता चक्की पीसती हैं, हमारे काम अलग-अलग हैं। हम धन प्राप्ति के लिए विभिन्न काम करते हैं। इस मंत्र में कारू शब्द वृत्ति या पेशे के रूप में वर्णित है। अथर्ववेद में कारू-लोगों को पुरूदमासः (अनेक घर या भवन वाले) कहा गया है। इससे स्पष्ट होता है कि कारू वृत्ति के रूप में कवि-कार्य या स्तुतिकर्म

* सह आचार्य, शिक्षाशास्त्र विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

** पूर्व शोध-छात्र, इतिहास विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

अपनाते थे, ये अपने लिए अनेक भवन बना सकते थे। पाणिनी ने हाथ से काम करने वाले कुम्भकार, लौहकार तथा स्वर्णकार प्रभृति को कारू कहा है।[16] वाजसनेयी संहिता[17] में उल्लिखित कारि को भाष्यकार महीधर ने कार्य करने वाले के रूप (करणशील) में व्याख्या की है।[18] इसके अतिरिक्त वैदिक साहित्य में अनेक शिल्पवर्गों का उल्लेख हुआ है, जिसमें प्रमुख रूप से त्वष्टा, कर्मार, बुनकर, हिरण्यकार, चर्मन, कुलाल, वाप्ता, मलग इत्यादि।

वैदिक साहित्य में विज्ञान एवं तकनीकी शिक्षा के अन्तर्गत त्वष्टा शिल्पी का महत्वपूर्ण स्थान है। देवों के बर्धकी या बढ़ई को त्वष्टा कहा गया है[19] जो विश्वकर्मा की भांति एक देवता की ही संज्ञा है। वैदिक तक्ष शब्द से तक्षक बना जो लकड़ी, पत्थर तथा ईटों को भवन निर्माण हेतु तैयार करता था। ऋग्वेद के कई स्थानों पर वास्तोस्पति देवता का उल्लेख मिलता है, जिसे गृह निर्माण के पूर्व आवाहन किया जाता था। वास्तु साहित्य में त्वष्टा का नाम एक कुशल शिल्प के रूप में मिलता है, जिसका सम्बन्ध वास्तोस्पति से जोड़ा गया है।[20] तक्षण कर्म (रूप पिंषन) द्वारा विविध वस्तुओं का निर्माण करना त्वष्टा का काम था।[21] जो अपना व्यवसाय अलग से करते थे। ऋग्वेद में त्वष्टा तथा ऋभु को कुशल कारीगर कहा गया है, जिन्होंने इन्द्र के लिए कई वस्तुओं का निर्माण किया था, इनमें तीक्ष्ण वठा भी था।[22] तक्षा शिल्पी कृषि के उपकरण हल, धर के लिए विभिन्न वस्तुओं एवं उपयोगी समान ढोने वाली गाड़ियों का निर्माण करता था, जिसकी छतें छेदिय कही जाती थी।[23] ऋग्वेद[24] में सद्स (सहस्रस्थूण भवन), वृहत्मान (सहस्रद्वार वाले प्रासाद), दम, गृह, पस्त्या, सदन, दुरोण, हर्म्य, अस्त, शरण इत्यादि नामों से तत्कालीन तक्षण कुशल शिल्पी की जानकारी प्राप्त होती है। इसी वेद के एक अन्य मंत्र में उल्लेख है कि प्रजा द्रोही न होकर राजा तथा मन्त्री दृढ़, उत्तम तथा हजार स्तम्भ वाले भवन में रहे।[25] वह परशु और कुल्हाड़ी को लकड़ी से गढ़ता था। तक्षा की शिल्पकला से निर्मित 100 परिवार वाले पोतों व नावों का वर्णन है।[26] शिल्पी प्रोष्ठ को भी बनाता था।[27] भारी बोझा ढोने वाली गाड़ी को अनस या शकटी कहा जाता था। इसे खींचने वाले तगड़े बैनल अनडवाम कहे जाते थे। इससे स्पष्ट होता है कि इस युग में रथ बनाने की कला का विकास हो गया था, जिसे वर्धकी शिल्पी निर्माण करता था।

अथर्ववेद में बढ़ई के लिए रथकार, त्वष्टा तथा तष्टा का प्रयोग मिलता है।[28] इससे ज्ञात होता है कि उत्तर वैदिककालीन समाज के शिल्प समुदाय में से पृथक-पृथक वर्ग विकसित होने लगे थे। जैसे- तक्षण वर्ग से रथकार वर्ग विकसित हुआ, जिसका कार्य मात्र रथों का निर्माण करना था। इसे दशाकारस एवं धीमनः (बुद्धिमान) कहा गया है।[29] शिल्पी अपनी चतुराई से राज्य के लिए रथों का निर्माण करता था। समाज में इनका सम्मान इतना बढ़ गया था कि वह अग्निहोत्र यज्ञों तथा राजतिलकोत्सवों में भाग ले सकता था।[30] ऋग्वेद में रथांगों के नाम मिलते हैं- रथ, अक्ष (धुरा), चक्र, अरे (पहिए के डंडे), नम्य (नाह), प्राधि (पहिए का बाहरी गोल भाग), नेमि (प्राधि के ऊपर चढ़ा हुआ गोल चक्का), बन्धुर या गर्त (रथ के भीतर बैठने का स्थान), ईषा (रथ के अग्रभाग का अगला डंडा), रथ वाहन, रथ-मुख इत्यादि।[31] ये कुशल शिल्पी की दक्षता के परिचायक हैं। त्वष्टा को रथ पर नक्कासी कार्य तथा स्वधिपति (कुल्हाड़ी) से लकड़ी छीलकर सुन्दर वस्तु बनाने वाला बताया है।[32] ये अनस (बैलगाड़ी) भी बनाते थे।[33] इस काल में भी तक्षा प्रोष्ठ के अतिरिक्त अनेक प्रकार की आसन्दिया तथा उठने-बैठने के अन्य उपकरण भी बनाते थे।[34] ऐतरेय ब्राह्मण में उल्लेख है कि तक्षों द्वारा विभिन्न याज्ञिक आवश्यक वस्तुओं का निर्माण होता था जिसमें अग्निहोत्रहवणी (चम्मच के समान जिससे अग्नि को आहुति दी जाती थी) प्रमुख है। सायण ने इसकी गणना यज्ञायुधों में की है।[35] इसके अतिरिक्त अनेक प्रकार के यज्ञादि उपकरणों का निर्माण भी त्वष्टा करता था।

वर्धकियों के काष्ठ शिल्प की भांति ऋग्वेद में कर्मार या लोहार के पेशे का उल्लेख है। कहा गया है कि जैसे- लोहार अपनी भट्टी के सामने बैठकर धातुओं को गलाता है, वैसे ही ब्राह्मणस्पति प्रजापति सब देवताओं के रूप में ढालता है।[36] ऋग्वेद में काष्णायस (लोहा या तांबा), हिरण्य, रजत, त्रपु (टिन) आदि धातुओं का उल्लेख है, जिससे कर्मार आवश्यक वस्तुओं का निर्माण करते थे। वेद के अन्य मंत्र में असुरों द्वारा लोहे की वस्तुएँ- वाण, खड्ग, भाला बनाने का उल्लेख है।[37] अश्विनी कुमारों ने विश्पला की नकली लौह की टाँग लगाई थी।[38] कर्मार कृषि के निमित्त अभृ दात्र या सृण्य, फाल (हल) आदि निर्मित करता था।[39] ऋग्वेद के अग्निसूत्र मन्त्र सात में लौह निर्मित सौ नगरों का उल्लेख है।[40] कुशल शिल्पी एवं कारीगर द्वारा निर्मित अश्ममयी तथा अयशी दुर्गों के उल्लेख मिलते हैं। अतः पूर्व वैदिक कालीन कर्मार शिल्पी अपनी कला में दक्ष हो गया था।

उत्तर वैदिक कालीन ग्रन्थों में लोहे को श्याम अथवा कृष्ण अयस कहा गया है।[41] अथर्ववेद में इसे कुशल कारीगर (मनीषिणः) उपकरण बनाने के लिए चमड़े की बनी धौंकनी (दृति) का उपयोग करता था। वह लोहा गलाता था, अतः उसे ध्माता कहा गया है।[42] सूखी लकड़ियों की आग से लोहे को तपाकर लोहे के (अयस्मय) बर्तन बनाते थे। लोहे को पीटकर बनाने को अयोहत कहा गया है। इसमें सोम रस भी रखा जाता था।[43] यजुर्वेद[44] में कर्मार धातुओं से कुम्भी, सुराधानी (सुरा रखने का पात्र) और स्थाली (थाली) के पात्र बनाता था। ब्राह्मण ग्रन्थों में अनेक अस्त्र-शस्त्रों तथा कृषि सम्बन्धी उपकरणों का उल्लेख है, जिसे कर्मार शिल्पी निर्माण करता था।

अन्य शिल्पियों की भांति बुनकर शिल्पी का भी महत्वपूर्ण व्यवसाय था, जिसे वाय कहा जाता था। ऋग्वेद[45] में प्रयुक्त वासोवाय (धोती बुनने वाला) शब्द से जान पड़ता है कि उस समय धोती बुनने वालों तथा अन्य वस्त्रों, जैसे- चादर, दुपट्टा, कम्बल आदि के बुनने वालों में भेद माना जाता था। बुनकर के पेशे से सम्बन्धित पारिभाषिक शब्द साधारण व्यवहार के विषय थे। तन्तु (ताना), ओत[46] (बाना), तन्त्र[47] (करघा), प्राचीनाताना[48] (आगे से खींचकर बांधा गया ताना), प्रवय (आगे की ओर बुनना), अपवय (पीछे की ओर बुनना), तनुते (फैलाना), कृणति (समेटना), मयूख (धागा तागने की खूटियाँ) आदि अनेक बार प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द शिल्प कला से प्रगाढ़ परिचय के द्योतक हैं। बुनने की प्रक्रिया भी बहुत वर्तमान समय से जान पड़ती है। सूत खूँटियों की सहायता से ताना जाता था।[49] बुनने में सहायता देने वाली ढरकी का नाम तसर था।[50] करघे के लिए वेमन् शब्द का प्रयोग होता था। बुनने का काम विशेषतः स्त्रियों के जिम्में रहता था, जिन्हें वयित्री कहते थे।[51] अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि बुनाई का कार्य अधिकतर स्त्रियाँ ही करती थीं। किन्तु एक मन्त्र में पुरुष द्वारा बुनाई का उल्लेख है।[52] इसी वेद में एक सुन्दर रूपक द्वारा बुनाई का वर्णन है, इसमें कालचक्र को एक करघा माना गया है। उस पर दिन और रात्रि रूपी दो स्त्रियाँ वर्षरूपी वस्त्र बुनती हैं। उसमें 6 ऋतुएँ 6 खूँटियाँ हैं। इसमें रात्रि ताना है और दिन बाना है। इनमें से एक धागे को फैलाती है और दूसरी इसको सँभालती है।[53]

वैदिक साहित्य में हिरण्यकार शिल्पी की जानकारी प्राप्त होती है।[54] यहाँ हिरण्य का कार्य करने वाली शिल्पी को हिरण्यकार कहा गया है, जो स्वर्ण धातु से विभिन्न आभूषणों का निर्माण करता था। ऋग्वेद के मित्र वरूण सूक्त में हिरण्यनिर्णिक् शब्द आया है, जो शिल्प की ओर संकेत है। सुवर्ण के आभूषण धारण करने वाले को हिरण्यनिर्णिज् कहा है।[55] यह चाँदी के आभूषणों पर सोने की पालिश चढ़ाता था।[56] अथर्ववेद एवं शतपथ ब्राह्मण में हिरण्यकार के कार्यों का उल्लेख प्राप्त होता है। वे सोने के छोटे-छोटे टुकड़ों को गर्म कर विभिन्न आभूषण गढ़ता था। ऋग्वेद के अन्य मंत्र में उल्लेख है कि लोग विवाह के अवसरों पर निष्क, कुरीर से बांधती थीं जो कुल्मीनुमा गहना था। इस प्रकार लोग स्वर्ण आभूषणों से निर्मित गहना पहनते थे।[61]

सायण और कीथ ने हिरण्य को सुवर्ण का वाचक माना है।[62] जातरूप[63] तथा हरिणीम[64] ये दो शब्द हिरण्य शिल्पी के पर्यायवाची है, के रूप में उल्लिखित है। ऐतरेय ब्राह्मण में हिरण्य को वस्तु बताया गया है, जिससे बने आसन हिरण्यया सद्म तथा हिरण्यकशिपु कहलाते थे। घरों के निर्माण में हिरण्य का प्रयोग शिल्पी करते थे।[65] शतपथ ब्राह्मण[66] में स्वर्णकार द्वारा सोने की सौ-सौ मन (वजन) की तस्तरियाँ, सोने की तिपाई व थाली बनाने का भी उल्लेख हुआ है।

ऋक्संहिता में चर्मन शिल्पी का उल्लेख है, जो चमड़े की विभिन्न वस्तुएं बनाता था। पैरों को सरदी-गरमी से बचाने के लिए पादत्राण[67] (वटूदिणा), पत्सर्न्निणी[68], उपानह शब्दों का उल्लेख हुआ है, जिसे चर्मन शिल्पी मृग व शूकर के चाम से निर्मित करता था। व्रात्यों के जूते कुछ विलक्षण प्रकार के होते थे। उनके जूते काले और नुकीले हुआ करते थे। तैत्तिरीय ब्राह्मण ग्रन्थ[69] में चर्म शोधकों का उल्लेख है, जिसे मलन्द कहा जाता था। वाजसनेयी संहिता में चमड़े से वस्त्र या सामान बनाये जाने का उल्लेख है। जिसे अजिन सन्ध कहा जाता था।[70] निश्चित ही जानवरों के चर्म से विभिन्न प्रकार के वस्त्रों को व्यवहार में लाने का प्रचलन रहा। देवता, मुनि, व्रात्य और देश के आदिनिवासी खालों से बने कपड़े पहनते थे। उत्तरवैदिक काल में चर्म उद्योग विकसित हो चला था। चर्मन शिल्पी बैलों के पट्टे (उकत्र), प्रत्यंचा (ज्या-धनुष की डोरी), दृति और धमत (लगाम), अधिषधण (आपक), रस्सियाँ, गोफन, चाबुक, कवच (द्रविस व वर्मन्) इसके अतिरिक्त बाजे भी चमड़े से मढ़े जाते थे।[71] वैदिक ग्रन्थों के उल्लेख से स्पष्ट है कि माथे पर चमकीली पगड़ी और पैर में काले नोकदार जूता पहनने वाले व्रात्य लोग उस समय शौकिनों में गिने जाते थे। छाता (छत्र) और दण्ड आर्यो के नित्य सहचर थे। छाता धूप से बचाने के लिए और छड़ी अनिष्टकारी जानवरों से अपने रक्षा के निमित्त हुआ करती थी।

कुलाल शिल्पी वर्ग का नाम भी कला शिल्प के रूप में उल्लेख है, जो मिट्टी के सुन्दरतम वर्तनों को गढ़ता था। ऋग्वेद में कुलाल द्वारा मिट्टी के विभिन्न प्रकार के पात्रों को गढ़ने का उल्लेख हुआ है, घरेलू भांडो में अमत्र (हांडी), ऊखा (कड़ाही), अहाव (डोल), उदच्चन (गगरी), कंस (भिगोना), कलश, कुम्भ, द्रोणकलश (गगरा), चमस् (कटोरा), चरू (कड़ाह), दृति (दूध पकाने का वर्तन), सूर्प, परिणहा (छींका), मणिक (पानी लटकाने का वर्तन), सुशिरा सूर्मि (छेदने का वर्मा), दृषद (पीसने का सिल) इत्यादि से इस काल के कुम्हार शिल्पी द्वारा निर्माणित गृहस्थ संस्कृति का परिचय मिलता है।

वर्तमान युग विज्ञान एवं तकनीकी का युग है। इस युग में किसी भी राष्ट्र एवं उसकी जनता की समृद्धि, कल्याण, वैभवता तथा सुरक्षा मुख्यतः विज्ञान व तकनीकी के विकास पर निर्भर करती है। विज्ञान व तकनीकी दृष्टि से विकसित राष्ट्रों के नागरिक ही सुखी व समृद्धि से परिपूर्ण निरापद जीवन व्यतीत कर रहे हैं जबकि विज्ञान व तकनीकी दृष्टि से पिछड़े राष्ट्रों के अधिकांश नागरिक दीन-हीन ढंग से जीवनयापन कर रहे हैं। वास्तव में राष्ट्र के भौतिक व मानवीय संसाधनों का उचित ढंग से उपयोग करके ही राष्ट्र को प्रगति के उच्च शिखर पर आसीन किया जा सकता है। वर्तमान समाज में मानव का व्यक्तिगत, सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक जीवन विज्ञान व तकनीकी के विकास के प्रभाव से अछूता नहीं है। आधुनिकीकरण, व राष्ट्रीय विकास के पथ पर अठासरित हमारे राष्ट्र का भविष्य उसके वैज्ञानिक व तकनीकी विकास पर निर्भर करता है। गरीबी हटाने, पिछड़ेपन को दूर करने, जनसाधारण के जीवन स्तर को उन्नत बनाने, राष्ट्रीय सुरक्षा को सुनिश्चित करने, विदेशी ऋणों से मुक्ति पाने जैसे प्रयासों का सफल बनाने के लिए विज्ञान एवं तकनीकी शिक्षा के संख्यात्मक विस्तार तथा गुणात्मक सुधार की तीव्र आवश्यकता है।[72] वास्तव में किसी भी राष्ट्र के प्रगति में विज्ञान एवं तकनीकी शिक्षा का बहुत योगदान होता है। आधुनिक युग में कोई भी राष्ट्र विज्ञान एवं तकनीकी शिक्षा के बिना विकसित राष्ट्र नहीं बन सकता। पूर्व राष्ट्रपति डॉ0 ए0पी0जे0 अब्दुल कलाम के विचार प्रासंगिक हैं- ''किसी भी राष्ट्र की खुशहाली और प्रगति तकनीकी और रोजगारपरक शिक्षा की गुणवत्ता पर निर्भर करती है।'' भारत एक विकासशील देश है। गरीबी और बेरोजगारी इसकी प्रगति में सबसे बड़ी बाधा है। भारत में पर्याप्त मानवीय शक्ति है, तकनीकी और व्यावसायिक शिक्षा के द्वारा इस शक्ति का अधिकतम उपयोग किया जा सकता है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात से ही भारत सरकार द्वारा इस दिशा में विशेष ध्यान दिया जा रहा है। विभिन्न शिक्षा आयोगों तथा राष्ट्रीय शिक्षा नीतियों की अनुशंसाओं के आधार पर विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में विज्ञान एवं तकनीकी शिक्षा के द्वारा जनशक्ति को संसाधन के रूप में विकसित करने का प्रयास किया जा रहा है। अतएव यह कह सकते है कि भारत में विज्ञान एवं तकनीकी शिक्षा की शुरूआत वैदिक काल में हो गई थी। वर्तमान में अनुभव किया गया कि भारत अपने प्राचीन गौरव को प्राप्त करने में तब तक सर्वथा असमर्थ है, जब तक वह वर्तमान वैज्ञानिक अन्वेषणों का अध्ययन नियमित तथा अनिवार्य नहीं बनाता। वर्तमान में विज्ञान तथा तकनीकी शिक्षा को सर्वोत्तम माना जा रहा है एवं इस शिक्षा पर विशेष बल दिया जा रहा है।

सन्दर्भ सूची-

1. यजुर्वेद, 12.18.25
2. ऋग्वेद, .16.13; यजुर्वेद, 11.32; सामवेद, 9.
3. ऋग्वेद, 7.88.5.
4. अथर्ववेद, 19.58.4.
5. ऋग्वेद, 7.3.7.
6. तैत्तिरीय संहिता, 1.6.1.2.
7. ऋग्वेद, 1.116.5..

8. वही, 6.58.3..
9. वही, 1.118.1; 1.183.1; 10.47.2..
10. स्वकर्म, ब्राहम्णस्याऽययन्मध्यापानं यज्ञो याजनम्, दानम्, प्रतिग्रहणं, दायाधं, सिलाञ्क्ष।
11. द्विवेदी, कपिलदेव (1988), अथर्ववेद का सांस्कृतिक अध्ययन, वाराणसी, पृ0 158
12. मैकडानल और कीथ (1962), (अनु.-रामकुमार राय), वैदिक इण्डेक्स, वाराणसी, पृ.-166; ऋग्वेद- 4.16.3, आर्य भाषा भाष्य.
13. अथर्ववेद-20.77.3, सप्तकारून्..
14. ऋग्वेद, 9.112.3
15. अथर्ववेद-7.73.1 पुरूदमासो.....कारवः
16. अठावाल, वी.एस., पणिनीकालीन भारतवर्ष, वाराणसी,पृ. 220
17. वाजसनेयी संहिता, 1.148.2
18. वैदिक इण्डेक्स, पृ.-166; ऋग्वेद-7.54, 7.55, 8.17.14
19. ऋग्वेद, आर्य भाषा भाष्य, 7.55.1-8
20. मैकडानल और कीथ (1962), (अनु.-रामकुमार राय), वैदिक इण्डेक्स, वाराणसी, पृ. 279
21. ऋग्वेद 1.32.2
22. वही, 9.65.6, 9.112.1, 10.85.10
23. अग्रवाल, वासुदेव शरण (200), भारतीय कला, वाराणसी, पृ. 57
24. ऋग्वेद, 2.41.5
25. वही, 1.116.5.
26. अग्रवाल, वासुदेव शरण (2000), भारतीय कला, वाराणसी, पृ. 56
27. ऋग्वेद, 10.146.3
28. अथर्ववेद 3.5.6
30. अग्रवाल, वासुदेव शरण (200), भातीय कला, वाराणसी, पृ. 65
31. अथर्ववेद. 12.3.33
32. अथर्ववेद. 14.1.41
33. यजुर्वेद, 19.16, 31. अथर्ववेद. 15.3.2
34. ऐतरेय ब्राह्मण, 34.1
35. ऋग्वेद, 10.72.2
36. वहीं, 5.57.2 6.47.10.6.46.1
37. वही, 1.116.15
38. वही, 8.78.10
39. वही, 7.3.7.7.15.14
40. अथर्ववेद, 3.5.6
41. ऋग्वेद, 5.9.5
42. वही, 9.1.2
43. यजुर्वेद, 0.19.27
44. ऋग्वेद, 10.26.6
45. वही, 6.9.2
46. वही, 10.71.9
47. तैत्रिरीय संहिता- 6.11-14
48. वाजसनेयी संहिता-19.8
49. ऋग्वेद, 10.30.2
50. उपाध्याय, आचार्य बलदेव (1998), वैदिक साहित्य और संस्कृति, वाराणसी, पृ. 458
51. अथर्ववेद, 10.7.42, 10.7.43
52. वही, 10.7.42
53. द्विवेदी, कपिलदेव (1988), वैदिक साहित्य संस्कृति, वाराणसी पृ. 458
54. अथर्ववेद, 19.27.10 शतपथ ब्राह्मण- 6.3.1.42
55. ऋग्वेद, 2.33.10, 2.19.3, 8.87.3, 1.12.14, 10.58.8
56. यजुर्वेद, 30.17
57. अथर्ववेद, 20.15.2
58. वही, 10.6.4
59. ऋग्वेद, 2.3310
60. मैकडानल और कीथ (1962), (अनु-रामकुमारन राय), वैदिक इण्डेक्स, वाराणसी, 2, पृ. 558
61. ऐतरेय ब्राह्मण-4.6, कौषीतकि ब्राह्मण, 8.8
62. ऐतरेय ब्राह्मण, 382
63. ऐतरेय ब्राह्मण, 4.6 कौषितकि ब्राह्मण, 8.8
64. शतपथ ब्राह्मण, 13.4.1-6,6.7.1.2
65. ऋग्वेद, 1.133.2
66. अथर्ववेद, 5.21.10
67. द्विवेदी, कपिलदेव (1988), वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ. 445
68. तैत्रिरीय बाह्मणग्रन्थ, 3.4.13.1
69. अथर्ववेद, 7.18.1 ऋग्वेद 6.75.3 ऐतरेय ब्राह्मण, 37.1.2.38 ऋग्वेद 1.31-15, 10.101.18
70. ऋग्वेद 1.116.71.117.6, 1.17.41
71. अग्रवाल, वासुदेव शरण (2000), भारतीय कला, वाराणसी, पृ. 56
72. एस.पी. गुप्ता एवं अलका गुप्ता (2009), भारतीय शिक्षा का इतिहास, विकास एवं समस्यायें, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, पृ. 427.

●

महामना की दृष्टि में विज्ञान, उद्योग व तकनीकी शिक्षा का नैतिकतामूलक स्वरूप

डॉ0 मनोज कुमार सिंह एवं डॉ0 व्रजराज पाण्डेय***

मायर्स ने अपनी पुस्तक 'Education in Democracy' में लिखा है कि माँ-बाप, शिक्षकशाला व समाज सभी का एक उद्देश्य होता हैं बालक की सामाजिकता का विकास हो, वह व्यवस्था में कुशलता प्राप्त करे तथा ठोस आधारों पर उसका नैतिक विकास हो।

आज के समय में नैतिक शिक्षा द्वारा सच्चरित्रता का विकास किया जाना आवश्यक है। नैतिक शिक्षा का उद्देश्य सदाचार के लिए बालक के मनोबल को दृढ़ कर उसमें अच्छी आदतें डालना है। नैतिक शिक्षा तथा चरित्र-निर्माण का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। व्यक्ति में चरित्र-निर्माण नैतिक शिक्षा से ही सम्भव है।

व्यक्ति की भावनाओं का विकास समाज की उन्नति के अनुकूल करना नैतिक शिक्षा का कार्य है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य को मनुष्यता का ज्ञान प्रदान करना नैतिक शिक्षा है।[1]

शिक्षाशास्त्र जगत के प्रख्यात विद्वान समालोचक प्रो0 प्रेम नारायण सिंह का यह मानना है कि- ''जो शिक्षा बालक में सद्प्रवृत्तियों, अच्छी आदतों, तर्क एवं निर्णय क्षमता तथा नैतिकता का विकास करे उसे ही मूल्यपरक शिक्षा की संज्ञा दी जा सकती है।''[2] उनका स्पष्ट कहना है कि ''बालक में वैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा तकनीकी कुशलता का विकास करते हुए उसे जीवन के मानवीय पक्षों से जोड़ा जाना चाहिए।''[3]

शिक्षा में नैतिक मूल्यों के प्रबल पक्षधर व काशी की पांडित्य परंपरा के संवाहक आचार्य लब्ध शिक्षाविद् विद्यामूर्ति प्रो0 सुभाष चन्द्र तिवारी के अनुसार, ''आज के समय में विज्ञान व तकनीकी शिक्षा की महत्ता पर प्रश्न चिन्ह नहीं लगाया जा सकता किन्तु हमें ध्यान रखना होगा कि यह शिक्षा तभी तक सार्थक है जब तक यह मानवता के विकास में बाधक नहीं बल्कि साधक की भूमिका का निर्वहन कर सके।''[4]

मालवीय जी देश को एक ओर भीषण दरिद्रता से मुक्त करने के लिए आधुनिक वैज्ञानिक एवं तकनीकी शिक्षा पर बल देते थे, वहीं दूसरी ओर वे आत्मिक एवं नैतिक शिक्षा पर भी उतना ही बल देते थे। उनका पूर्ण विश्वास था कि जब तक मनुष्य में आत्मिक एवं नैतिक बल नहीं होगा तब तक वह सच्चे अर्थों में समृद्ध नहीं हो सकता। वह नैतिकतामूलक विज्ञान, उद्योग व तकनीकी शिक्षा द्वारा विद्यार्थियों का चरित्र निर्माण करना चाहते थे।[5]

मालवीय जी विज्ञान के प्रयोगात्मक और व्यावहारिक पक्ष के बहुत प्रशंसक थे। उन्हें इस बात की खुशी थी कि विज्ञान के विद्यार्थियों को शब्द-प्रमाण के आधार पर पाठ्यपुस्तकों द्वारा ही विज्ञान की शिक्षा नहीं दी जाती, बल्कि प्रचलित सिद्धान्तों और संचित अनुभवों की सच्चाई प्रयोगशाला में वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा सिद्ध करवायी जाती है और निजी अनुभवों द्वारा उन सिद्धान्तों को संशोधित तथा नये सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने के लिए विद्यार्थियों को प्रोत्साहित किया जाता है।

वे हारवर्ड विश्वविद्यालय के प्रो0 विलियम जेम्स से सहमत थे कि वैज्ञानिक विधि लेबरेटरी वर्क और शॉप वर्क प्रेक्षण का अभ्यास, यथार्थता और अस्पष्टता के अंतर का ज्ञान, तथा प्रकृति की पेचीदगी की और वास्तविक तथ्य के सब शाब्दिक विवरणों के गलतियों की पूरी जानकारी पैदा करते हैं।[6]

मालवीय जी चाहते थे कि वैज्ञानिक ढंग की शिक्षा अपने देश में भी चालू की जाय और प्रयोगशाला तथा वर्कशॉप में विद्यार्थियों को अपने हाथों के प्रयोग का अभ्यास कराया जाय। उनमें प्रेक्षण की शक्ति पैदा की जाय। उनके ज्ञान को यथातथ्य तथा जीवनोपयोगी बनाया जाय। उनकी धारणा थी कि भारत अपने प्राचीन गौरव को प्राप्त करने में तब तक सर्वथा असमर्थ है, जब तक वह वर्तमान वैज्ञानिक अन्वेषण का अध्ययन नियमित और अनिवार्य नहीं बनाता।[7]

औद्योगिक एवं तकनीकी विकास में महामना देशहित को सर्वोपरि रखते थे। उनके अनुसार केवल भौतिक विकास से ही कोई देश समृद्ध नहीं हो जाता, आध्यात्मिक विकास भी आवश्यक है। महामना के शब्दों में, ''हमारी प्राचीन शिक्षा पद्धति, जो सांसारिक तथा अध्यात्मिक शिक्षा का मधुर समन्वय है-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, चारों ध्येयों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करती है।''[8] यदि इन चारों ध्येयों को ध्यान में रखकर विज्ञान व तकनीकी का विकास होगा तो आज हमारे सामने वे समस्याएँ नहीं आएँगी, जो आज उपस्थित हैं।

मालवीय जी चाहते थे कि प्रत्येक जिले या कम से कम प्रत्येक कमिश्नरी में ऐसी माध्यमिक स्तर की औद्योगिक शिक्षा संस्थाएँ खोली जायें जिनमें बुनाई, रंगाई, धुलाई-वस्त्र-छपाई, बढ़ईगिरी व मीनाकारी आदि की

* सह-आचार्य, हिन्दी विभाग, काशीहिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी

** पूर्व शोध-छात्र, हिन्दी विभाग, कला संकाय, काशीहिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी

शिक्षा का प्रबन्ध हो। इन संस्थाओं में फोरमैन और उनके सहायकों के प्रशिक्षण का भी प्रबन्ध हो। वे यह भी चाहते थे कि प्रत्येक प्रान्त में एक उच्चस्तरीय औद्योगिक शिक्षा महाविद्यालय खोला जाय, जिसमें शिल्पविज्ञान सम्बन्धी विषयों की उच्चस्तरीय शिक्षा दी जाय।[9]

प्रांतीय कौन्सिल में काम करते समय देश के औद्योगिक विकास की आवश्यकता की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित करते हुए मालवीय जी ने सरकार से कहा था कि संयुक्त प्रान्त जैसे बड़े भूभाग में कम से कम एक उच्चस्तरीय औद्योगिक शिक्षा महाविद्यालय खोला जाय, जिसमें विद्यार्थियों को इंडस्ट्रियल केमिस्ट्री (औद्योगिक रसायन विज्ञान), मैकेनिकल, कपड़ा उत्पादन और चीनी-परिष्करण की उच्चस्तरीय शिक्षा प्रदान की जाय तथा फोरमैन मैनेजर प्रशिक्षित किये जायें। इसी तरह उनकी माँग थी कि उन सब छोटे-बड़े उद्योगों के प्रशिक्षण का समुचित प्रबन्ध किया जाय जो संयुक्त प्रान्त में चालू हैं या चालू किये जा सकते हैं।[10]

मालवीय जी देश के आर्थिक उत्थान के लिए पुराने घरेलू उद्योग धन्धों का पुनरूत्थान तथा नवीन बड़े-बड़े उद्योगों की स्थापना, दोनों जरूरी समझते थे। वे देशी उद्योग का प्रोत्साहन व संरक्षण राज्य का कर्तव्य समझते थे और संयुक्त प्रान्त की सरकार से उनकी माँग थी कि वह अपने इस कर्तव्य का यथाशक्ति निर्वाह करे।[11] उनका सरकार से अनुरोध था कि वह ऊँचे पैमाने पर वैज्ञानिक पद्धति द्वारा कृषि, औद्योगिक शिक्षा, चिकित्सा शास्त्र की शिक्षा तथा उच्चस्तरीय ज्ञान विज्ञान की शिक्षा का प्रबन्ध करे।[12]

उनका कहना था कि हमें उद्योग-धन्धों में यथा-सम्भव स्वतन्त्र होने के लिए प्रयत्न करना चाहिए और उस समय तक सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए, जब तक हम वे सब चीजें तैयार न कर सकें जिनकी हमें जरूरत है और जिनको तैयार करने के लिए आवश्यक भौतिक साधन देश में मौजुद हैं।[13]

भारत सरकार ने सर टी.एच. हालैण्ड की अध्यक्षता में 19 मई 1916 को भारतीय औद्योगिक आयोग की नियुक्ति की। मालवीय जी भी इस आयोग के सदस्य नियुक्त हुए थे। 1918 में आयोग ने अपनी रिपोर्ट तैयार की। कहा जाता है कि मालवीय जी के आठाह पर रिपोर्ट की पाण्डुलिपि कई बार बदलनी पड़ी। रिपोर्ट में संस्तुति की गई कि भारत को आत्मनिर्भर बनाने के उद्देश्य से भविष्य में सरकार को देश की औद्योगिक उन्नति में सक्रिय भाग लेना चाहिए और इसके लिए उसे पर्याप्त वैज्ञानिक तथा प्रशासनिक मशीनरी भी संगठित करनी चाहिए।[14] मालवीय जी ने कमीशन संस्तुतियों की पुष्टि करते हुए एक महत्वपूर्ण टिप्पणी भी लिखी। इसमें उन्होंने सरकार की औद्योगिक और वित्त नीति की विस्तार से समीक्षा करते हुए बहुत से महत्वपूर्ण सुझाव दिये। यह टिप्पणी निःसन्देह भारत के व्यावसायिक और आर्थिक इतिहास के अध्ययन के लिए बहुत ही लाभप्रद है।[15]

मालवीय जी चाहते थे कि भारतीयों द्वारा भारत के हित में भारत के गौरव और समृद्धि की वृद्धि के निमित्त ही देश का औद्योगिक विकास हो।[16]

आज का विज्ञान एवं तकनीकी अर्थ और भोग के पीछे भाग रहा है इसलिए संसार पर्यावरण से लेकर अन्य कई विपदाओं से घिरा हुआ है। यदि महामना के समन्वयवादी शिक्षा नीति को लेकर हम चलेंगे तो कोई भी विपदा किसी भी देश में नहीं आएगी। महामना की यह सोच है कि तकनीकी एवं औद्योगिक विकास, कृषि विकास या अन्य कोई भी विकास अपने देश के स्वास्थ्य एवं प्राकृतिक संसाधनों को ध्यान में रखकर होना चाहिए। यदि ऐसी दृष्टि को लेकर हम चलेंगे तो समस्याओं से विरत रहेंगे।[17] महामना का मानना था कि धर्म और दर्शन के बिना विज्ञान और तकनीकी अंधे हो जाते हैं। महामना सतत विकास के समर्थक हैं। वे कौटिल्य के उस मंत्र को स्वीकार करते हैं, जिसमें कहा गया है कि ''अलब्ध लाभार्थी, लब्ध परिरक्षिणी, रक्षित विवर्धनी, विर्धेषु तीर्थेषु प्रतिपादिनी'' अर्थात् जो प्राप्त न हुआ हो,उसे प्राप्त करना (सतत् विकास), जो प्राप्त हो गया हो, उसे संरक्षित करना (विकास, पर्यावरण और मानव चरित्र), जो रक्षित हो चुका हो, उसे आगे बढ़ाना, भावी पीढ़ी के लिए रक्षित करते हुए उसके आगे की पीढ़ियों के लिए वृद्धि करना, जो वृद्धि हो चुका हो, उसे प्रत्येक व्यक्ति तक पहुँचाना, वह भी समानता के आधार पर। महामना ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में सबसे पहले व्यावसायिक शिक्षा की आधार शिला रखी। प्रबन्ध संस्थान, कृषि संस्थान, चिकित्सा विज्ञान व प्रौद्योगिकी संस्थान इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। महामना क्रूर व्यावसायिकता के समर्थक नहीं बल्कि नैतिक, मानवीय और उदार व्यावसायिकता के समर्थक थे।[18]

महामना मालवीय जी द्वारा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की योजना मात्र एक विद्या-मन्दिर खोलना नहीं था, बल्कि यह बौद्धिक और चारित्रिक उत्थान का राष्ट्रव्यापी आन्दोलन भी था। पं0 जवाहर लाल नेहरू के शब्दों में, ''विश्वविद्यालय के सामने लक्ष्य था- आजकल के जमाने में विज्ञान और विज्ञान की औलाद टेक्नालॉजी, इण्डस्ट्री वगैरह को पुरानी भारतीय संस्कृति के साथ जोड़ना। एक माने में यह सबसे बड़ा कार्य था भारत के लिए। अब भी है, क्योंकि यह एक-दो रोज की बात नहीं है।''[19] महामना के अनुसार शिक्षा के मूल में धर्म है, तकनीकी नहीं। वे धर्म की भित्ति पर विज्ञान, उद्योग व तकनीकी आदि को खड़ा करना चाहते थे क्योंकि धर्म से ही विद्या, रूप, धन, शौर्य, वीरता, कुलीनता, आरोग्य, राज्य, स्वर्ग और मोक्ष सब प्राप्त होता है।[20]

महामना वैज्ञानिक, औद्योगिक एवं तकनीकी शिक्षा को पश्चिमी ढाँचे पर खड़ा करना नहीं चाहते थे। वे उसे भारतीय परंपरा एवं संस्कृति की नींव पर विकसित करना चाहते थे, क्योंकि दसवीं सदी पूर्व यह देश धातुकी, औषधि-विज्ञान, ज्यामिती, खगोलशास्त्र आदि के क्षेत्रों में बहुत ऊँचाई पर था।[21] महामना द्वारा स्थापित काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का मुख्य उद्देश्य था- कला और विज्ञान की सर्वतोन्मुखी शिक्षा तथा अन्वेषण की वृद्धि, आवश्यक प्रयोगात्मक ज्ञान के साथ-साथ विज्ञान शिल्पादि कला कौशल तथा व्यवसाय सम्बन्धी ऐसे ज्ञान की वृद्धि जिससे देशी व्यवस्था तथा उद्योग धन्धों की उन्नति हो।

महामना मालवीय जी ने विश्वविद्यालय की मूल दृष्टि में 'राष्ट्र-निर्माण को मुख्य लक्ष्य रखा था। इसी उत्कट उद्देश्य से प्रौद्योगिकी, विज्ञान, कृषि, मानविकी, विधि तथा अन्य ऐसी सभी विधाओं के शिक्षण की व्यवस्था की थी जिनकी राष्ट्र को जरूरत थी। इसी विश्वविद्यालय में भारत का सर्वप्रथम खनन और रासायनिक अभियांत्रिकी विभाग स्थापित किया गया। उस समय

आस-पास के राज्यों में मेकेनिकल, इलेक्ट्रिकल, फार्मास्यूटिक्स तथा अन्य तकनीकी विद्याओं के अध्ययन की कोई व्यवस्था नहीं थी। मालवीय जी ने आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के अध्ययन और प्रयोग की आवश्यकता को स्वीकारते हुए उसकी समुचित शिक्षा के प्रबन्ध पर बल दिया और यह अवगत कराया कि देश में विज्ञान का व्यापक प्रसार और प्रयोग भारतीय भाषाओं के माध्यम से ही सम्भव है। इस प्रकार उन्होंने भारतीय भाषाओं के माध्यम से आधुनिक ज्ञान विज्ञान और शिल्प शास्त्र की शिक्षा को प्रस्तावित विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम के रूप में सुनिश्चित किया।[22]

काशी हिन्दू विश्वद्यिालय में विशुद्ध पारंपरिक शास्त्रों का पारस्परिक पद्धति से अनुशीलन, पश्चिम के विज्ञान, तकनीकी एवं व्यावसायिक ज्ञान और प्रशिक्षण के साथ युवा छात्रों को सबल चारित्रिक पीठिका प्रदान करने की उनकी आकांक्षा उनके शिक्षा दर्शन का आधार है। महामना के शब्दों में, ''यह विश्वविद्यालय ऐसा हो जिसके द्वारा हमारे प्राचीन काल की उदात्त पद्धतियों की रक्षा हो और आवश्यकतानुसार वर्तमान तथा भविष्य के साथ आवश्यक परिवर्तन करके उनमें सामंजस्य पैदा करे। यह विश्वविद्यालय ऐसा हो जिसमें पूर्व व पश्चिम के सर्वश्रेष्ठ ज्ञान का एक साथ प्रकाश हो।[23]

मालवीय जी के लिए उच्च आदर्शों एवं नैतिक मूल्यों से युक्त स्थापित विश्वविद्यालय ही मानव के सर्वांगिण विकास के लिए परम आवश्यक था। विद्यार्थियों के लिए उनका उपदेश का-

सत्येन ब्रह्मचर्येण व्यायामेनाथ विद्यया।

देशभक्त्यात्मत्यागेन सम्मानर्हः सदा भव।।[24]

मालवीय जी ने एक बार कहा था-''इस विश्वविद्यालय में विद्या पढ़ना ही नहीं है, इसी के साथ-साथ चरित्र बनाना है। ज्ञान और चरित्र दोनों का मेल कर देने से संसार में मान होगा, गौरव प्राप्त होगा।''[25] महामना मालवीय जी को केवल औद्योगिक विकास में ही लोगों का सुख और वैभव नहीं दीखता है, किसी राष्ट्र के विकास का यह मापदण्ड भी नहीं है। वे इसके लिए भौतिक विकास की अपेक्षा नैतिक विकास को आवश्यक मानते हैं।[26]

महामना वैज्ञानिक एवं तकनीकी विषयों की शिक्षा पर विशेष बल देते थे, क्योंकि बिना इन विषयों के ज्ञान हुए देश समृद्ध नहीं हो सकता। चूँकि वे स्वदेशी के पक्षधर थे। इसलिए वैज्ञानिक एवं तकनीकी ज्ञान को देशी परिप्रेक्ष्य में ही बढ़ाना चाहते थे। वे औद्योगिक विकास देशी ढंग से करना चाहते थे।

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि नैतिकता के आधार पर दी जाने वाली परम्परागत एवं मानवीय मूल्यों से प्रभावित विज्ञान, उद्योग व तकनीकी शिक्षा के भव्य ईमारत के रूप में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना करने वाले महामना वास्तविक अर्थों में आधुनिक भारत के निर्माता थे।

महामना के सम्बन्ध में विद्वानों के विचार

''पूज्य मदन मोहन मालवीय जी भारतीय संस्कृति के मूर्तिमान रूप थे।''[27]

-आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

''मालवीय जी आदर्श मनुष्य थे, जिन्होंने राजनीति और शिक्षा दोनों क्षेत्रों में युग परिवर्तक और प्रवर्तक का काम किया।''[28]

-राजर्षि पुरूषोत्तम दास टण्डन

''अब हम उस उज्ज्वल नक्षत्र का दर्शन नहीं कर सकेंगे जिसने हमारे जीवन में प्रकाश दिया, बाल काल से ही प्रेरणा दी तथा भारत से प्रेम करना सिखाया।''[29]

-पं0 जवाहर लाल नेहरू

''मालवीय जी भारत के गौरव स्तम्भ थे। उनकी देशभक्ति और सेवा भारतीयों को नया उत्साह देती रहेगी। देश की पुकार पर उन्होंने अपनी वकालत छोड़ दी। देश में शिक्षा का प्रचार कर उन्होंने अमूल्य सेवा की है। हिन्दू विश्वविद्यालय उनका सर्वोतम स्मारक है।''[30]

-आचार्य नरेन्द्र देव

''मालवीय जी ने 60 वर्ष तक जिस श्रद्धा, लगन तथा निःस्वार्थ भाव से राष्ट्र की सेवा की है, वह किसी भी देश के इतिहास में अद्भूत और स्मरणीय है।''[31]

-पं0 हृदय नाथ कुंजरू

सन्दर्भ सूची-

1. जायसवाल, डॉ0 सीताराम : वृहत् शिक्षाशास्त्र, नंद किशोर एण्ड ब्रदर्स पब्लिकेशन बांसफाटक, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1969, पृ0 734
2. सिंह, प्रो0 प्रेम नारायण : 'भारतीय संस्कृति और मूल्यपरक शिक्षा की व्यवस्था' शीर्षक शोध-आलेख, 'प्रज्ञा' शोध-पत्रिका, मानव-मूल्य विशेषांक, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, अंक 65, भाग-01, वर्ष-2010-11, पृ0 77
3. वही, पृ0 81
4. 28 फरवरी 2013 को 'राष्ट्रीय विज्ञान दिवस' के अवसर पर सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी में प्रख्यात शिक्षाविद् प्रो0 सुभाष चन्द्र तिवारी से डॉ0 व्रजराज पाण्डेय की शैक्षिक भेंटवार्ता पर आधारित।
5. 'प्रज्ञा' शोध-पत्रिका, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी अंक 58, भाग-2, वर्ष-2012-13, पृ0 23
6. प्रान्तीय कौंसिल में भाषण, सन् 1907
7. चतुर्वेदी, पं0 सीताराम : महामना पं0 मदन मोहन मालवीय, खण्ड 3, पृ0114
8. वही, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का दीक्षान्त भाषण, सन् 1920
9. प्रान्तीय कौन्सिल में भाषण, सन् 1907
10. दी आनरेबिल पं0 मदन मोहन मालवीय : लाइफ एण्ड स्पीचेज, सन् 1907, सेकेण्ड एडिशन, पृ0 422-423
11. वही, पृ0 424-426
12. वही, पृ0 426-427
13. प्रोसीडिंग-गवर्नर जनरल की कौंसिल (विधायिका) 1915, जि0-53, पृ0400
14. लाल, प्रो0 मुकुट बिहारी, महामना मदन मोहन मालवीय : जीवन और नेतृत्व, मालवीय अध्ययन संस्थान प्रकाशन, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, जनवरी 1978

15. इंडिया इण्डस्ट्रीयल कमीशन रिपोर्ट-नोट-1918, पृ0 292-355
16. वही
17. 'प्रज्ञा' शोध-पत्रिका, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, अंक 58, भाग-2, वर्ष 2012-13, पृ0 74
18. वही, पृ0 84
19. वही, पृ0 47
20. सनातन धर्म साप्ताहिक, वर्ष-2 अंक-1, 17 जुलाई, 1934 ई0
21. 'प्रज्ञा' शोध-पत्रिका, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, अंक 58, भाग-2, वर्ष 2012-13, पृ0 73
22. लाल, मुकुट बिहारी पू0नि0,पृ0 150, दर और सोमस्कन्दन, हिस्ट्री ऑफ दी बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, वाराणसी पृ0 59-62
23. तिवारी, उमेश दत्त : महामना के लेख, पृ0 204
24. लाल, मुकुट बिहारी : महामना मदन मोहन मालवीय : जीवन और नेतृत्व, पृ0 162
25. अठावाल, वासुदेव शरण : मालवीय जी के लेख और भाषण (धार्मिक), पृ0164
26. एस.एल.दर एवं एस्. सोमस्कन्दन् : हिस्ट्री ऑफ दी बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, 2007, पृ0 131
27. उद्धृत, धर्मपाल सैनी, सादगी-संस्कार-स्वदेश प्रेम की अद्भूत त्रिवेणी, हिन्दुस्तान, 25 दिसम्बर 2007, पृ0 9
28. महामना मालवीय जी : वर्थ सेनटिनरी कोमिमोरेशन वाल्यूम, 1932
29. 'आज' दैनिक समाचार पत्र, 15 नवम्बर, 1946
30. फैजाबाद की सभा में अध्यक्षता करते हुए कहा था।
31. 'आज' दैनिक समाचार पत्र, 15 नवम्बर, 1946

●

चतुरी चमार और निराला की दलित संवेदना

डॉ0 संगीता यादव[*]

छायावादी काव्य धारा के चार प्रमुख कवियों में सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला की काव्य रचनाएँ जितनी इस काव्य धारा को मजबूत बनाती है उतना ही वह इस धारा को नवीन दिशा एवं दृष्टिकोण की प्रदान करती है। इस समय जब अधिकांश कवि प्रकृति, नारी एवं समकालीन आन्दोलन की वैचारिकी से प्रभावित हो कर रचनाएँ कर रहे थे तथा नवीन बिम्बों एवं प्रतीकों का खोज कर रहे थे। उस समय निराला की नजर उन छोटी-छोटी समाजिक समस्याओं पर पड़ी जो बड़ी समस्याओं के पीछे दबी जा रही थी। राष्ट्रीय आन्दोलन से समाज का प्रत्येक वर्ग प्रभावित हो रहा था परन्तु गरीब, अनपढ़, मजदूर एवं निम्न जाति के लोग अपनी समस्याओं से उबर ही नहीं पा रहे थे तो वह विस्तृत आन्दोलन के बारे में क्या विचार कर पाते। इसी विचारधारा को लेकर काव्य को नवीन अर्थों के साथ प्रस्तुत करने वाले सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला साहित्य की हर विधा में बड़े ही सरल एवं सहज दिखाई देते है, एवं निराला की रचनाओं में संवेदनात्मक एवं भावनात्मक पक्ष सबसे ज्यादा परिलक्षित होता है। निराला ने अपनी कविताओं में जहाँ तत्कालीन ज्वलंत विषयों को पूरी अनुभूति के साथ वर्णित किया और सामान्यजन को उसी स्तर तक विचार करने के लिए बाध्य भी किया तो उनका गद्य भी उतना ही मर्मस्पर्शी और आत्म विभोर करने वाला है। निराला ने जिन विषय को चुन कर अपनी कविता में स्थान दिया वह सिर्फ कल्पना जनित घटनाओं का वर्णन नहीं बल्कि वास्तविकता के साथ उसका गहरा सम्बन्ध दिखाई देता है। निराला की काव्य कृतियों जैसे- अनामिका, परिमल, गीतिका, तुलसीदास, कुकुरमुत्ता, अणिमा, बोला, नये पत्ते, अर्चना, आराधना, गीतागुंज, सांध्यकाकली आदि में कविहृदय के साथ प्रस्तुत होते दिखाई देते है।

यह सच है!, बार-बार हार हार मैं गया,
उड़ी धूल, तन सारा भर गया
वहीं फूल, जीवन.....
यह सच है।'[1]

अपनी गद्य रचनाओं जैसे उपन्यास एवं कहानियों के माध्यम से जमीन से जुड़े लोगों के जीवन के मौलिक यथार्थ को सामने लाने के साथ उन पर गम्भीर टिप्पणियाँ भी दी है जो कहीं न कहीं सामान्य जन को विचार करने के लिए प्रेरित करता है। मानवता और सहजता को जीवन का जरूरी अंग मानने वाले निराला की सूक्ष्मदर्शी नजरों ने मनुष्य को भीतर तक जाना और समझा। मन की सरलता और सहजता को व्यक्ति की सबसे बड़ी सम्पत्ति मानने वाले निराला ने समाज की लघुतम इकाई को भी उसकी पूरी महत्ता के साथ अपने साहित्य में उच्च स्थान दिया है। सामाजिक नीतियों व व्यवस्थाओं को सामने रख उनमें व्याप्त समस्याओं पर व्यंग्यात्मक टिप्पणी करने के साथ उसे झेल रहे मनुष्यों की गाथा निराला के गद्य में मिल सकती है। सशक्त चित्रण में सिद्धहस्त निराला ने स्वयं यह स्वीकार किया है कि 'सत्य की कसैली अनुभूमि को उजागर करने की अपेक्षा उन्होंने विधिवत हास्य का सहारा लेकर ब्राह्मणों की अपने पुरख्यातम परम्परा' का बड़ा सही जन्मांक प्रस्तुत किया है।

समाज को कई हिस्सों में बाँटने वाली क्षेत्रगत, जातिगत, वर्णगत व्यवस्थाओं ने मनुष्य को मनुष्य नहीं बल्कि, क्षेत्र, जाति और वर्ण में परिवर्तित कर दिया है जिसके कारण मनुष्य ही मनुष्य पर अत्याचार और शोषण करता है और समाज के निम्न वर्ग का व्यक्ति हीन भावना से ग्रसित हो न तो उसका विरोध कर पाता है और ना ही खुल कर अपना बात ही रख पाता है। ऐसे समय में निराला इनका मुखर स्वर बन इन की बात समाज में रखते है। निराला की गद्य रचनाएँ जैसे चतुरी चमार, बिल्लेसु बकरिहा, कुल्ली भाट, सुकुल की बीबी आदि गद्य रचनाओं में जहाँ निराला यथार्थवादी दृष्टिकोण के साथ सामने आते हैं और अपने गद्य को मौलिकता और नवीनता प्रदान करते है। वस्तुतः निराला का कथा साहित्य उनकी दोहरी सामाजिक चेतना का प्रतिनिधित्व करता है एक ओर जहाँ के कवि स्वभाव के कारण मुक्तता के अभिलाषी रहे और अपने गद्य में प्रेम, सौन्दर्य और भावुकता की व्याख्या करते है तो कहीं सामाजिक जीवन में व्याप्त रूढ़िग्रस्त नैतिकता का विरोध भी किया है। समाज द्वारा बनाई गई पितृसत्तात्मक व्यवस्था एवं सामन्ती व्यवस्था ने असहाय निर्धन एवं निर्बल लोगों को प्रताड़ित एवं दमित किया। निराला अपनी कहानी चतुरी चमार में अपने पात्र चतुरी को इसी व्यवस्था के विरूद्ध खड़ा करते है। 1934 में प्रकाशित यह कहानी दलित संघर्ष की एक छोटी सी घटना का वर्णन करती है जो निश्चित रूप से साहित्य में दलित विमर्श को एक नया मोड़ देती है। गैर दलित लेखक होने के बावजूद चतुरी के संघर्ष को महत्वपूर्ण बताते हुए, उसके लिए यथा सम्भव प्रयास करना निराला की दलित संवेदना को परिलक्षित करता है। जब देश स्वाधीनता आन्दोलन में शामिल हो अंग्रेजों से देश को आजाद करने के लिए संघर्ष कर रहा था ऐसे समय में देश की मूल भूत समस्याओं से अनभिज्ञ चतुरी को बस इस बात का ही ख्याल है कि उसे हर साल एक जोड़ी जूता बना कर सिपाही को देना पड़ता है जब कि उसके द्वारा बनाये गये जूते तो दो साल चलते है। परन्तु निराला द्वारा यह कहने पर कि, ''चतुरी, इस का वाजिब-उल-अर्ज में पता लगाना होगा। अगर तुम्हारा जूता देना दर्ज होगा, तो इसी तरह पुश्त-

* रिसर्च असोसिएट, हिन्दी विभाग, कला संकाय, काशीहिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी

दर-पुश्त तुम्हें जूते देते रहने पड़ेंगे।''[2] जिसे सुनकर चतुरी के अन्दर मुक्ति की आशा जागृत होती है और वह पूरे संघर्ष और प्रयास के बाद यह पता लगाने में सफल हो जाता है कि ऐसा कोई की कानून कहीं भी दर्ज नहीं है और वह स्वयं को स्वतंत्र और मुक्त महसूस करने लगता है। निराला ने अपने पात्र चतुरी को जूते गाँठने का काम देकर समाज में चल रहे एक बहुत बड़े संघर्ष से जोड़ दिया और साथ ही उसे कबीर पदावली का विशेषज्ञ बना कर उसके सत्संग को किन्ही चतुर्वेदियों से उपर माना है। इस कहानी के माध्यम से निराला ने जमींदारों, ब्राह्मणों, अफसरों के द्वारा किये गये शोषण को लिखने के साथ दलित जीवन के अभावों जैसे आर्थिक शैक्षिक, धार्मिक, सामाजिक आदि को भी व्यक्त किया है। कहीं न कहीं यह कहानी दलित संघर्ष को आगे बढ़ाने का कार्य करती है क्योंकि एक सवर्ण रचनाकार द्वारा दलित जीवन एवं उसके संघर्ष को महसूस करना तथा उसके कारणों को समझना और साहित्य में स्थान देना विषय एवं विमर्श को महत्वपूर्ण बना देता है।

निराला की कहानी चतुरी चमार की तुलना बी0एल0 नैय्यर की कहानी 'चतुरी चमार की चाट से की जाय तो ज्ञात होता है कि दोनों कथावस्तु के आधार पर पूर्णतया भिन्न है। निराला की कहानी का चतुरी का संघर्ष सिर्फ एक विषय को लेकर है जिसे कहानी के अन्त में अपने उद्देश्य की प्राप्ति होती है और वह स्वयं को मुक्त मानता है परन्तु बी0एल0 नैय्यर की कहानी का चतुरी का संघर्ष वर्ण व्यवस्था एवं छूआछूत को समाप्त करने को लेकर है जिसके समाधान की खोज अभी भी जारी है। स्पष्ट होता है कि निराला ने अपने पात्र को संघर्ष की सफलता के साथ देखते है और अपनी सफलता भी उसी में खोजते है निराला अपनी कहानी के अन्त में चतुरी से हँसते हुए यह कहलवाते है कि, ''काका जूता और पुरवाली बात अब्दुल अर्ज में दर्ज नहीं है।''[3] कहने का तात्पर्य यह है कि निराला समस्या उठाने के साथ उसके समाधान को भी महत्वपूर्ण मानते हैं अपने पात्र को उसके लक्ष्य तक पहुँचाने में अपनी सफलता देखते हैं।

कहना होगा कि आज के भूमंडलीकरण, उदारीकरण एवं निजीकरण के दौर निश्चित रूप से दलित वर्ग की समस्याएँ और ज्यादा जटिल एवं कठिन हो गई है जिसे देखते हुए यह कहा जा सकता है कि निराला की कहानी चतुरी चमार के पात्र के संघर्ष की सफलता कहीं न कहीं यह राहत देती है कि हर संघर्ष के अन्त में सफलता जरूर मिलती है। अतः निराला की कहानी आज के दौर की दलित लेखकों की कहानियों में व्यक्त समस्या एवं संघर्ष के समान अपनी बात कहती है और साथ ही उन्हें प्रोत्साहित भी करती है। कुछ दलित लेखकों द्वारा यह कहें जाने पर कि सवर्ण रचनाकार दलित जीवन को न ही समझ सकता है और न ही उन की बात कर सकता है तो निराला की कहानियों इस बात का प्रमाण है कि दलित वर्ग के पात्रों को निराला ने बड़े सटीक एवं बिना किसी कारूणिक तामझम के साथ प्रस्तुत किया है तथा उनकी समस्याओं को समाज तक पहुँचाया भी है और तब जब किसी को (स्वयं दलित वर्ग) मुक्ति की चेतना का आभास भी नहीं था निराला का गद्य दलित साहित्य का शुरूआती समय था जो दलित विमर्श को नयी पहचान देता है।

सन्दर्भ सूची-

1. यही सच है, 1935
2. निराला रचनावली, चतुरी चमार, पृ0सं0 381
3. निराला रचनावली, चतुरी चमार, पृ0सं0 386

●

वैदिककालीन भारत में नैतिक शिक्षा का स्वरूप

डॉ0 वरद राज पाण्डेय एवं श्री सम्पत कुमार पाण्डेय***

''भारत सहित समस्त विश्व के कष्टों का कारण यह है कि शिक्षा केवल बौद्धिक कसरत रह गई है और उसका जीवन के नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों से कोई सम्बन्ध नहीं रहा।''

-डॉ0 राधाकृष्णन

प्रसिद्ध विद्वान डॉ0 भगवानदास ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'एसेनशल यूनिटी ऑफ ऑल रेलीजंस' (सभी धर्मों की वास्तविक एकता) में यह सिद्ध कर दिया है कि संसार में जितने भी धर्म हैं उनके आधारभूत सिद्धान्त एक हैं। संसार के सभी धर्मों का उपदेश है कि सत्य बोलो, दया करो, किसी को दुःख न दो, दुखी जनों की सहायता करो, मनुष्य मात्र में कोई भेद नहीं है, सब एक हैं। यही मानव धर्मसार है और नैतिक शिक्षा में इसी धर्म को स्थान मिलना चाहिये।

नैतिकता के दो स्पष्ट अर्थ हैं पहला तो यह कि वो आचरण व व्यवहार जो सामाजिक संदर्भ में हो और दूसरा उचित मूल्यों एवं आदर्शों का अनुशीलन एवं प्राप्ति हेतु किया गया प्रयत्न।[1] नैतिक शिक्षा का सम्बन्ध मनुष्य की भावनाओं से है। व्यक्ति की भावनाओं का विकास समाज की उन्नति के अनुकूल करना नैतिक शिक्षा का कार्य है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य को मनुष्यता का ज्ञान प्रदान करना ही नैतिक शिक्षा है। मनुष्य की मनुष्यता के चिन्ह सत्य, प्रेम, दया, करूणा, सहानुभूति, सहयोग आदि हैं। जब तक मनुष्य में इन गुणों का अभाव रहता है तब तक उसका नैतिक विकास नहीं हो सकता।[2] यह शाश्वत सत्य है कि मनुष्य की सबसे बड़ी आवश्यकता व उसके जीवन का सबसे बड़ा रक्षक चारित्रिक मूल्य होते हैं। चारित्रिक मूल्यों को नैतिक मूल्यों के नाम से भी जाना जाता है। हमारी संस्कृति की वास्तविक धरोहर इन नैतिक मूल्यों के माध्यम से ही सुरक्षित रह सकती है।[3] मानवीय मूल्य बिना नैतिकता के संभव नहीं है। नैतिकता के बिना न तो बालक में मानवीय मूल्य विकसित किये जा सकते हैं और न ही उसे मानव बनाया जा सकता है।[4] वस्तुतः नैतिकता तो एक आचार संहिता है जो मनुष्य को अपने ज्ञान से कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय करके धर्म के प्रति आकृष्ट और अधर्म से विरत रहने की प्रेरणा देते हैं।[5] ऋषि वाक्य भी है- ऋत् अर्थात् नैतिकता के मार्ग पर चलने वाले वरुण से हम इन्द्रिय शक्तियों को प्राप्त करें। नैतिकता के मार्ग पर चलने से इन्द्रियाँ शक्ति सम्पन्न होती हैं (ऋतस्य ते खां ऋध्याय)।[6]

इन्द्रिय-निग्रह द्वारा चित्त विषयों की ओर आसक्त नहीं होता, जिसके कारण बुद्धि प्रखर होती है, आत्म-बल दृढ़ होता है तथा शरीर सबलता को प्राप्त करता है। यही नैतिकता का मूल उद्देश्य है।[7]

वैदिककालीन भारत में शिक्षा का उद्देश्य था- गुरु के निर्देशन में शिष्य का सर्वांगीण विकास। इस काल में शिष्य की ज्ञान-ज्योति को प्रबुद्ध करना, उसे प्रखर बनाना और उसके जीवन को सर्वथा सौभाग्यशाली बनाना गुरु का कर्तव्य था :

वर्धयैनं ज्योतियैनं महते सौभागाय।
संशितं चित् संतरं शिशाधि।।[8]

वैदिक काल में धार्मिकता तथा नैतिकता शिक्षा के प्रमुख उपादान थे। शिष्य गुरु में अगाध विश्वास एवं श्रद्धा रखता था। गुरु त्यागी व तपस्वी था। दयालुता एवं उदारता की उसमें कमी नहीं थी। गुरु और शिष्य में परस्पर स्नेह, सहानुभूति और सौमनस्य था। गुरु शिष्य के केवल शैक्षिक व बौद्धिक विकास पर ही ध्यान नहीं देता था अपितु शारीरिक, मानसिक, चारित्रिक, धार्मिक एवं नैतिक सभी पक्षों पर ध्यान देता था। गुरु शिष्य के व्यापक हित में भावनात्मक रूप से तल्लीन था। शिष्य उनकी विद्वता, उदारता, शालीनता, त्याग और धर्म-परायणता से प्रभावित होकर उनके पद-चिन्हों पर चलने लगता था।

आचार्य के सच्चरित्र व पवित्र जीवन द्वारा शिष्य को आत्मिक विकास के लिए प्रेरणा प्राप्त होती थी तथा उन्हें इसके लिए पूर्ण अवसर प्रदान किया जाता था।[9] सम्पूर्ण शिक्षा-चाहे वह साहित्यिक हो या व्यावसायिक, उसका वास्तविक उद्देश्य विद्यार्थी को इस योग्य बनाना था कि वह समाज का एक धर्म-निष्ठ सदस्य बन सके।[10] इस काल में भारत में धर्म का जीवन में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान था। पुरोहित ही प्रायः आचार्य भी हुआ करते थे। अतः कोई आश्चर्य की बात नहीं कि उदीयमान संतति के मानस पर ईश्वरभक्ति और धार्मिकता की छाप लगाना शिक्षा का सर्वप्रथम उद्देश्य माना जाता था।[11]

सत्य, अहिंसा, परोपकार आदि भावों की प्रतिष्ठा शिक्षा के माध्यम से ही परिपक्व की जाती थी ताकि सामाजिक समायोजन में ब्रह्मचारी को बल मिले और अनुशासित जीवन के लिए उसकी पृष्ठभूमि तैयार हो। आशा की जाती थी कि शिक्षित व्यक्ति जीवन की तमाम कठिनाईयों और समस्याओं का सामना करने में सक्षम हो। शिक्षा का मुख्य केन्द्र गुरुकुल था जिनमें शिक्षा के लिए वय तथा पात्रता निश्चित थी। समाज में अपनी-अपनी उन्नति तथा वृद्धि का सबको सहज अधिकार प्राप्त था :

* पूर्व-शोध छात्र, इतिहास विभाग, सामाजिक विज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

** सहायक प्रवक्ता, श्री भागवत् महाविद्यालय, अस्सी, वाराणसी

आरोहणमाक्रमणं जीवितो जीवितो यनम्।[12]

वैदिककालीन शिक्षा के उद्देश्यों में हम शिक्षा में अनुशासन एवं स्वतंत्रता की अवधारणा को मूर्तरूप में पाते हैं। विद्यार्थियों के जीवन में भक्ति, धर्म, शुद्धता और पवित्रता की भावना का आरोपण शिक्षा के माध्यम से होता रहा है। विद्यार्थी में प्रतिष्ठित अनुशासन उनकी दैनंदिन क्रिया, संध्योपासना, व्रतों का अनुपालन, धर्म समन्वित उत्सव आदि का अनुगमन उसकी धार्मिक वृत्तियों के उत्थान में निहित हैं।

वैदिक काल में ऐसा माना जाता था कि जीवन के उत्थान और विकास के लिए आत्मविश्वास, आत्मबल और आत्मिक शक्ति की आवश्यकता पड़ती है जो धार्मिक भावना से और दृढ़ होती है। आचार्य कुल में रहते हुए अग्नि-परिचर्या के नैत्यिक नियम का पालन शिक्षार्थी का धार्मिक व्रत था और अनुशासन का एक अंग भी।

एक ऋचा में यह प्रतिपादित किया गया है- ''हे मनुष्य! तुम जुआ मत खेलो, कृषि से जो धन प्राप्त होता है, उससे सुखपूर्वक जीओ। इसके विपरीत परिश्रम न करके द्यूत क्रीड़ा के द्वारा धन बढ़ाने के प्रयास मत करो। अपने परिश्रम से जो धन प्राप्त होता है, उससे जो शान्ति मिलती है, वह शान्ति द्यूत क्रीड़ा से उपार्जित धन के द्वारा नहीं मिलती है :-

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्य वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः॥[13]

वैदिक काल में अध्यापक शिक्षा के लिए ऐसे ही शिष्य को चुनता था जो मेधावी हों और पात्र हों। पात्रता का ध्यान विशेष रूप से रखा जाता था जिससे उपर्युक्त व्यक्ति को ही शिक्षा प्राप्त हो सके। इसके लिए आवश्यक था कि वह विद्या के प्रति निष्ठावान हो तथा आचरण में सदाचारी हो। विद्यार्थी अध्यापक के घर ठहरते, भोजन करते और शिक्षण ग्रहण करते थे जबकि अध्यापक के लिए उन्हें मात्र सेवा-कार्य ही करना होता था। अध्यापक पर शिष्य के निरीक्षण, उत्थान और शिक्षा के आयोजन का बोझ होता था।

इस काल में विद्यार्थियों का जीवन कठोर एवं नियंत्रित होता था। सामान्य परिस्थितियों में उन्हें छाता लगाने, तेल लगाने, माला पहनने, मांस खाने व सुन्दर वस्त्रों का प्रयोग करने की पूर्ण मनाही थी। वे जूता नहीं पहन सकते थे एवं सिर पर बाल भी नहीं रख सकते थे। उन्हें ब्रह्मचर्य धारण करना, वृद्धों के प्रति आदर और श्रद्धा का भाव रखना तथा नैतिक उत्थान बनाए रखना पड़ता था।

वैदिककालीन भारतीय शिक्षा व्यवस्था में नैतिक गुणों के विकास हेतु सत्य बोलने और धर्म का आचरण करने पर बल दिया जाता था। शिक्षा को समाजीकरण का आधार समझा जाता था।

वैदिक ऋषियों की मान्यता थी कि देवता मनुष्यों के चरित्र का निरीक्षण करते हैं, और दुश्चरित्रों को दण्ड देते हैं। ऋग्वेद में बहुधा वरूण आदि देवों से अपवित्र जीवन बिताने वाले, यज्ञ से घृणा करने वाले तथा झूठ बोलने वाले प्राणियों को दण्डित करने का अनुरोध किया गया है।[14]

विद्यार्थियों को आश्रम में वेद और वेदेत्तर विषयों की मौखिक शिक्षा के साथ-साथ सामाजिक, वैयक्तिक अनुशासन, सत्यनिष्ठ, सच्चरित्रता और अपने कर्तव्यों में सतत् जागरूक रहने की शिक्षा दी जाती थी।[15]

सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय में यज्ञादि अनुष्ठानों के माध्यम से नित्य-नैमित्तिक कर्मों का विधान किया गया है। ये कर्म ही हमारी आध्यात्मिक भावना के स्रोत व नैतिक उत्थान की सीढ़ी हैं।[16]

ऋग्वेदीय मन्त्र द्वारा महर्षि ने सोम देवता को सत्य की रक्षा और असत्य का नाश करने वाला होने के कारण सत्य मार्ग की प्राप्ति हेतु उसकी अर्चना का निर्देश दिया है। उनके मतानुसार- पाप कर्म करने में जो प्रसिद्ध हैं, जो पापमय जीवन जीने वाले हैं, जो ज्ञान से द्वेष करने वाले हैं, जो कच्चा मांस खाने वाले हैं, जिनका रूप भयंकर है, जो बहुत खाऊ हैं, ये सभी राक्षस हैं, इनका नाश अवश्य करना चाहिए :

इन्द्रासोमा समघशंसभ्य घं तपुर्यस्तु चरूरग्निवाँ इव।
ब्रह्मद्विषे काव्यादे घोरचक्षसे द्वेषो धत्तमनवायं किमीदिने॥[17]

एक मंत्र में पाप को सम्बोधित करते हुए ऋषि अङ्गिरा कहते हैं- ''ऐ मेरे मन के पाप दूर जाओ। क्यों गन्दी अनुशंसाएँ करते हो, चलो दूर जाओ। तुम्हें मैं नहीं चाहता जाओ, जंगलों में पेड़ों पर चले जाओ। तुझमें दिल लगाने से बेहतर है कि मैं अपने घर में अपने पशुओं में दिल लगाऊँ।''[18]

पाप या दुश्चरित्रता से डर यह द्योतित करता है कि उस युग में समाज की मानसिकता अपवित्रता और चरित्रहीनता को स्वीकार नहीं करती थी।

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि मानवीय गुणों के विकास हेतु महर्षियों द्वारा प्रतिपादित आचार-संहिता के अनुसार परहित चिन्तन, अतिथि-सत्कार, दया पूर्ण व्यवहार व आर्त्त-व्यक्ति की सेवा आदि नैतिक मूल्य शिक्षा के महत्वपूर्ण अङ्ग हैं, इनके बिना मानव-जीवन अपूर्ण है। इनके अनुरूप आचरण करने से ही मानवीय सामाजिक संगठन सु-दृढ़ता को प्राप्त कर सकता है। इसके विपरीत झूठ, कपट, व्यभिचार, अत्याचार आदि अनेक समाज विरूद्ध आचरण को पाप-कर्म की संज्ञा प्रदान करते हुए उन्हें अनैतिक बताया गया है और वैदिक महर्षियों द्वारा उनकी निन्दा की गई है। पाप-कर्म से आवृत्त व्यक्ति को समाज भी हीन भावना से देखता है तथा उसे सर्वत्र अपमान का भाजन बनना पड़ता है। मानव जीवन की उत्कृष्टता हेतु नैतिक मूल्यों का महत्वपूर्ण योग है। आज के समय में 'स्वधर्मो निधनं श्रेयः' की संस्कृति को आत्मसात् करने की आवश्यकता है। यदि हमारे शिक्षक 'शिष्य प्रज्ञैव बोधस्य कारणं गुरुवाक्यतः' की आदर्श भारतीय परम्परा को ध्यान में रखें तो निश्चित ही विद्यार्थियों में नैतिक मूल्य स्वतः विकसित होंगे।

नैतिक शिक्षा के सम्बन्ध में विद्वानों के विचार :-

- 'हमें वह शिक्षा चाहिए जिससे व्यक्ति चरित्रवान बनता है और उसकी प्रतिभा व मन की शक्ति का विस्तार होता है।'

  - स्वामी विवेकानन्द

- 'नैतिकता सद्गुणों का समन्वय मात्र ही नहीं वरन् यह एक व्यापक गुण है तथा इसका प्रभाव मनुष्य के समस्त क्रिया कलापों पर होता है और साथ में व्यक्ति का व्यक्तित्व भी प्रभावित होता है।'

  -डॉ0 राधाकृष्णन

- ‘नैतिकता मनुष्य की उन्नति का आधार है। नैतिकता से रहित व्यक्ति पशुओं से भी निकृष्ट है। नैतिकता के अभाव में कोई भी व्यक्ति, समाज या देश अवश्य ही पतनोन्मुख हो जायेगा।’

  - महामना पं0 मदनमोहन मालवीय

- ‘हृदय की शिक्षा प्रदान करना ही शिक्षा का प्रधान कार्य है और इसी में शिक्षा की सार्थकता निहित है। यदि हम व्यक्ति का चरित्र उन्नत करने में सफल हो जाते हैं तो हमारा समाज स्वतः ही सुधर जायेगा और उन्नति की ओर अठासर होगा।’

  -महात्मा गाँधी

- ‘विद्यार्थियों का चरित्र निर्माण नैतिक शिक्षा से ही संभव है और उसी के आधार पर राष्ट्र का विकास हो सकता है।’

  -चक्रवर्ती राजगोपालाचारी

- ‘नैतिकता की परिभाषा यह हो सकती है कि परहित की भावना से की गई सभी क्रियाएँ एवं कार्य नैतिक तथा स्वार्थ की संकुचित सीमा में जकड़ी हुई समस्त क्रियाएँ और कार्य अनैतिक कहे जा सकते हैं।’

  -प्रो0 बैजनाथ शर्मा

- ‘शिक्षा में उस बात का कोई ध्यान और स्थान ही नहीं दिया जाना चाहिए जो बालकों को सद्गुणों की ओर प्रेरित न करें।’

  -प्लेटो

- ’अच्छे नैतिक चरित्र का विकास ही शिक्षा है।’

  -हरबर्ट

सन्दर्भ सूची-

1. नैतिक मूल्य शिक्षा : डॉ0 राजेन्द्र शर्मा, गुरु जी बुक कम्पनी, जयपुर (राजस्थान) प्रथम संस्करण, 1998, पृ0 40
2. वृहत् शिक्षाशास्त्र : डॉ0 सीताराम जायसवाल, नंदकिशोर एंड ब्रदर्स, बांसफाटक, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1969, पृ0 734
3. नैतिक मूल्य शिक्षा : डॉ0 राजेन्द्र शर्मा, गुरु जी बुक कम्पनी, जयपुर (राजस्थान) प्रथम संस्करण, 1998, पृ0 16, 17
4. वही, पृ0 16
5. वही, पृ0 41, 42
6. वैदिक शिक्षा मीमांसा : डॉ0 भास्कर मिश्र, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1993 ई0, पृ0 162
7. वही, पृ0 163
8. अथर्ववेद, 7.16.1
9. वेदकालीन समाज : डॉ0 शिवदत्त ज्ञानी, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 1967, पृ0 149
10. प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति : ए0एस0 अल्तेकर, प्रयाग, सं0 2004, पृ0 7
11. वही, पृ0 7
12. अथर्ववेद, 5.30.70
13. ऋग्वेद, 10/34/13
14. वैदिक शिक्षा पद्धति और आधुनिक शिक्षा पद्धति : डॉ0 नागेन्द्र झा, वेंकटेश प्रकाशन, नई दिल्ली, संवत् 2054, पृ0 9
15. वही, पृ0 10
16. वैदिक शिक्षा मीमांसा : डॉ0 भास्कर मिश्र, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1993 ई0, पृ0 162
17. ऋग्वेद, 7/104/2
18. अथर्ववेद, VI, 45.1

●

समकालीन का नया आयाम-अंजली इला मेनन

अर्चना सिंह एवं प्रो॰ सरोज रानी***

कला क्या है सुनने में तो प्रश्न बहुत सरल लगता है लेकिन कला शब्द अनेक तरह के मानव कार्य व्यापारों के लिये, बिना किसी विवेक के प्रयुक्त किया जाता रहा है। जब तक हम कला शब्द को उसके स्वाभाविक क्षेत्र तक ही सीमित रखे 'यानी संगीत, साहित्य, नाटक, चित्रकला, मूर्तिकला, वास्तुकला तब तक कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिलता। कला तथा सौन्दर्यशास्त्र के लेखक इस प्रश्न का कोई निश्चयात्मक उत्तर पाने में असमर्थ रहे है।

''कला में प्रचलित विभिन्न शैलियों तथा प्रवृत्तियों के सन्दर्भ में समकालीनता और आधुनिकता समानार्थी शब्द है। समकालीनता अथवा आधुनिकता की अवधारणा न तो भौगोलिक है, न इसका अर्थ मशीनीकरण है, न यह फैशन है और न तो यह भौतिकवाद है न ही यह सामाजिक पुर्ननिर्माण का सिद्धान्त है।''[1] आधुनिक का वास्तविक अर्थ वास्तव में चेतना की एक विशेषता है। यह तनाव या एकाठाता की विशिष्ट स्थिति है जो मानवीय इच्छा और प्रयास के रूप में तब प्रकट होती है जब यह परिवर्तित रूपाकार के साथ उलझती है। जब यह नये को समझाने के लिये समर्थ या प्रयत्न करती है यह वह स्थिति है जो किसी युग के मानवीय कार्य कलाप को भावपूर्ण व ओजस्वी दिशा प्रदान करती है।

आधुनिक भारतीय कला में महिलाओं की भागीदारी अत्यन्त प्रभावशाली रूप से बढ़ी है। प्रारम्भ में कुछ महिला कलाकारों के ही नाम लिये जाते थे। 'जिनमें पारों, स्वर्ण-कुमारी एवं मंगला बाई तम्पूरनी (1866-1959) का मुख्य रूप से उल्लेख मिलता है। जिन्होंने कला के क्षेत्र में अपनी महत्वपूर्ण उपस्थिति दर्शायी। ब्रिटिश इस्ट इण्डिया कम्पनी के श्री सिगोर कान्सटाब्टिनों आगस्तों ने सन् 1922 में बम्बई में स्कूल आर्ट फार लेडीज के नाम से ब्रिटिश महिलाओं के लिये एक स्कूल आरम्भ किया। इस स्कूल में भारतीय महिलाओं के लिए दरवाजे बन्द थे। ब्रिटिश काल में ही कोलकाता में 1879 में युवा महिला कलाकारों की एक प्रदर्शनी का आयोजन किया गया। जिनमें रवीन्द्रनाथ टैगोर की भतीजी ग्रहणी सुनयनी देवी को अकृत्रिम कला के लिये सेलेब्रेटी स्टेटस दिया गया। उस समय की अन्य कलाकारों में सुकुमारी देवी, प्रतिमा टैगोर, सुशीला, लीला मेहता, तथा सविता टैगोर का उल्लेख मिलता है।'[2]

भारत में आर्ट स्कूलों की स्थापना ने भारतीय महिलाओं के लिए सुअवसर प्रदान किये। मद्रास, कलकत्ता, बम्बई तथा लाहौर (अब पाकिस्तान में) कला विद्यालय 19वीं शदी में स्थापित किये गये। इन कला महाविद्यालयों में 1950 के बाद महिला कलाकारों का एक बड़ा वर्ग विकसित हुआ, इन महिलाओं ने लन्दन के रायल अकादमी की भाँति कला का अध्ययन किया तथा कला जगत में उल्लेखनीय भूमिका निभाई। जिनमें अमृता शेरगिल, नलिनी मलानी, जया अप्पास्वामी, मीरा मुखर्जी, पीलू पोचखानवाला, नैना दलाल, नसरीन मुहम्मदी, अंजली इला मेनन, माधवी पारेख, अनुपम सूद, अर्पिता सिंह, अर्पणा कौर, मृणालिनी मुखर्जी, सरोजपाल गोगी, रेखा रोडवित्या, वसुन्धरा तिवारी, नीलिया शेख आदि अनेक समसामयिक व आधुनिक महिला चित्रकारों के नाम लिये जा सकते हैं। जिन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर अपनी पहचान बनायी। इन महिला चित्रकारों में प्रमुख अंजली इला मेनन के जीवन के कुछ पहलुओं एवं चित्रों पर कुछ प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है।

अंजली इला मेनन समकालीन भारतीय कला में एक मूधर्न्य कलाकार के रूप में समादृत है। उनकी महत्ता सिर्फ इस कारण सिद्ध रही है। ''उनके रंग हो या रूपाकर, कृतियों के विषय हो या आकृतियों की प्रयोगधर्मी पद्यतियाँ अंजली इला मेनन ने कला को नये आयामों, भावसत्वों से जोड़ा है। उसे भारतीय सन्दर्भों में विन्यस्त कर उसे अधिक सार्थकता और व्यंजकता भी दी है। इनकी कला में फैन्टेसी की दुनिया भी है, तो अतियथार्थ से प्रेरित जीवन की छवियाँ भी, यही कारण है कि जब हम इनकी कृतियों के सामने आते हैं या होते हैं तो वर्तमान के साथ-साथ भविष्य के आदर्श की कल्पना में डूबते अपनी अनुभूतियों में उतरने लगते हैं।''[3] इला मेनन की कला अपने रचाव में भी सम्मोहन की कला है। घरेलू उपयोग की वस्तुओं से लेकर इनकी कला में जीवन जगत के प्रायः सभी विषय होते हैं। घरेलू वस्तुओं में कपबोर्ड देखे या खाली कुर्सी, झरोखा, आर्म चेयर देखे तो आप पायेंगे कि मेनन ने इन दैनिक उपयोग की वस्तुओं का एक नया सन्दर्भ प्रस्तुत किया।

अपने द्वारा जलरंगों में बनायी गयी कृतियों के रोमांचक अनुभव के बारे में वे कहती हैं - 'जब मैं अपने मित्र के साथ फ्रांस आ रही थी, उसी दौरान मैंने जलरंगों में कृतियाँ बनायी थी। जलरंग मेरा माध्यम कभी नहीं रहा।'[4] पर उनकी कृतियों का निश्चय ही बड़ा महत्व है, एक कलाकार के रूप में अंजलि ने भारत और विदेशों में बेहतर कला शिक्षा पाई, अच्छा कला परिवेश भी प्राप्त किया और अपनी एक अलग प्रविधि विकसित की। एक साक्षात्कार के दौरान ये स्वयं कहती हैं कि - पढ़ाई के दौरान फ्लोरेन्स के महान इतावली पुर्नजागरण चित्रकारों के काम को देखने सुअवसर प्राप्त हुआ।'[5] अपने बचपन के ही मित्र को पति के रूप में स्वीकार कर 1962 ई॰ में अंजली

* शोध छात्रा, चित्रकला विभाग, दृश्यकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

** प्रोफेसर, चित्रकला विभाग, दृश्यकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

ने जीवन और कला दोनों क्षेत्रों की चुनौतियाँ स्वीकार की तथा कला में निरन्तर विकास करते हुए परिवार के दायित्वों का भी बखूबी निर्वाह किया। आज के समकालीन भारतीय कला परिदृश्य में एक प्रसिद्ध महिला चित्रकार के रूप में अंजली इला मेनन का कला संसार विविधताओं का संसार है। वे अपनी कला में अपने प्रेक्षकों से सम्बोधित होती हैं और उनसे संवाद भी करती हैं। अपने समय से गहराई से जुड़ी हुई इस महिला चित्रकार को आप आज के बाजारवाद और कथा कथित अपसंस्कृति के विरोध में पायेंगे तो स्त्रियों के हक में संघर्ष करते हुए भी अंजली जिन विषयों को उठाती हैं वे सभी विषय कहीं न कहीं सामाजिक यथार्थ की खिड़कियाँ खोलते हुये प्रतीत होते है। यह दिलचस्प तथ्य है कि खिड़कियों भी उनकी कृतियों का प्रबल प्रतीक है जो घर के अन्तरंग को दिखाती ही है इसके साथ-साथ रहस्यात्मक भू-दृश्यों को भी सामने लाती है।

'इला मेनन की कृतियाँ बहुत परिपक्व गहरी दुःख व यथार्थ का बोध कराती है इस महिला चित्रकार ने अनेक कलाकारों से भिन्न पहचान स्थापित किया परन्तु आकारों को नहीं छोड़ा। उनके चित्रों के रंग गहरे बाइजेन्टाईन तथा मानव कृतियाँ ''रसियन आइकन्स'' की याद दिलाते है। उन्होंने अपने चित्रों में अपने आपको एक आत्मकथा की भाँति चित्रफलक पर अंकित किया। मुख्य रूप से हार्डबोर्ड तथा मैसोनाइट बोर्ड उनके प्रमुख चित्रतल हैं। उनकी मानवकृतियाँ पूर्वी आइकन्स की तरह गहरी विषाद की मुद्रा में है।'[6] तो उनके अन्तर्मन में छुपी हुई अनेक अवसाद से सम्बन्धित घटनायें बड़ी सादगी से बाहर आ जाती है। मानवाकृतियों के आखों के अन्दर का घना अन्धकार समस्त अदृश्य भावनाएँ व्यक्त कर देता है। इसलिये कहा जा सकता है कि उनके चित्रों में रहस्य सदैव विद्यमान ही रहता है।

अंजली इला मेनन का जन्म 1940 ई॰ में भारत में हुआ। ये बंगाली-अमेरिकन अभिभावकों की सन्तान है। आरम्भिक स्कूली शिक्षा तमिलनाडु से करने के पश्चात् जे॰जे॰ स्कूल आफ आर्ट बाम्बे में अध्ययन की। तदन्तर दिल्ली विश्वविद्यालय में अंठोजी साहित्य में डिग्री प्राप्त की। 1950 के दशक के अन्त में दिल्ली व बाम्बे में एकल प्रदर्शनी करने के बाद 1961-62 ई॰ में फ्रांस सरकार की स्कॉलरशिप से पेरिस में कार्य किया, वहाँ से भारत लौटने से पूर्व इला ने यूरोप व पश्चिमी एशिया में रोमनस्क व बाइजेन्टाइन कला का अध्ययन किया। तत्पश्चात् अंजली ने भारत, इंग्लैण्ड, अमेरिका, जर्मनी और रूस में निवास करते हुए कार्य किया और तब उन्होंने देश विदेश में अनेक एकल प्रदर्शनी किया। इसके साथ ही साथ उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शिनयों में भाग लिया। मेनन के चित्र भारत व विदेशी के संग्रहालयों में संग्रहित हैं। मेनन भारत की महत्वपूर्ण महिला चित्रकार होने के साथ ही साथ म्यूरल कलाकार भी है। अंजली ने एल्जीयर्स साओ पाउलो विनाले ब्राजील तथा 3वीं त्रिनाले में नयी दिल्ली में भारत का प्रतिनिधित्व किया। जैसा कि उनका कहना है उनकी शबीहें यथार्थ नहीं है। एक अच्छी शबीह के लिये जरूरी है कि यह ''सिटर'' के बाहरी रूप रंग के पार देख सके। उनकी शबीहे ''सिटर'' से समानता दिखाने के बजाय भविष्यमूलक अधिक लगती हैं। जहाँ तक उनकी हाल ही की चित्र के बारे में उनका कहना है कि यह उनकी बिम्ब को लेकर निर्मित है, जो पहले देखा जा चुका है। इसमें वही स्त्री है जो पाँच बार अलग-अलग तरीकों से परिवर्तित होती है। एकदम स्थिर आकृति से शीर्षहीन आकृति में बदल जाती है। हालाँकि शीर्ष का आयाम वहीं है, म्यूटेशन के बारे में मुख्य बात यह है कि इसमें कुछ रेखिक आख्यान के रूप में नहीं है। वह इस सभी अवस्थाओं में विद्यमान है।

अंजलि की चित्रकृतियों को चार चरणों में विभाजित किया जा सकता है - (1) 1960 ई॰ से 1970 ई॰ तक, (2) 1970 ई॰ से 1980 ई॰ तक, (3) 1980 ई॰ से 1990 ई॰ तक, (4) 1990 ई॰ से अब तक। इन चारों चरणों में अंजलि के काम अलग-अलग भाव क्षेत्रों को चित्रों में लाते है परन्तु उनका केन्द्रीय विषय एक है। 'मनुष्य को प्रकृति और अन्य जीवों के साथ विन्यस्त करते हुए उनकी दुरभिसन्धियों तथा जटिलताओं की अभिव्यक्ति,[7] यह एक केन्द्रीय वस्तु है जिनके सहारे कलाकार के सभी चरणों की कृतियों का सम्प्रेषण सम्भव है और उनके भावों का अर्थ ग्रहण भी। इनके कृतियों का एक निश्चित विमर्शात्मक आधार है। वे उन कलाकारों में नहीं है जिनकी कला पर जीवन जगत का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जब वे पेरिस में थी, आन्द्रे बेत्तों और प्रूस्त के लेखन का प्रभाव भी उन पर पड़ा और उन्होंने यर्थाथवादी पद्धति से कृतियाँ निर्मित की जिनमें स्वयं की खोज का प्रयास था। डच चित्रकार हिरोनॉमस वाँस को वे इसका श्रेय देती है कि उन्होंने यात्रा इतिहास में सम्भव की और वे कैनवस पर स्वप्न और यर्थाथ को कलात्मकता के साथ संयुक्त कर सकी। इसी कड़ी के नाटकों की चर्चा करती है जिन्हें वे क्रियेटिव जीनियस मानती है। अंजलि इसी आधार पर अपनी कृतियों को जीवन्त रूप प्रदान करती है।

'अंजलि अपने समय के समाज से जुड़े गहरे विचारों को आत्मसात करते हुये दुनियाँ भर में अपने अनुभवों को अपने विचारों की निर्मिति का आधार बनाती है,[8] और उसे अपनी पद्धति में अभिव्यक्ति करती है। अपने समय की गहराई से जुड़ी हुई अंजलि को आप आज के बाजारवाद और कथाकथित अपसंस्कृति के विरोध में पायेंगे तो स्त्रियों के हक में संघर्ष करते हुए भी। आकृतिमूलता के बावजूद कलाकार की अर्थपूर्ण रंगयुक्तियाँ प्रेक्षक की सोच में घुलती चली जाती है। अंजलि की कृतियाँ उस अर्थ में आख्यापरक नहीं है जिस अर्थ में उनके समकालीनों की कृतियाँ है। उनकी कृतियाँ रूपकों और प्रतीकों के मध्य युक्तियों में खुलती है। जहाँ स्त्री, पुरूष, पादरी, कौवे, पतंग जैसे प्रतीक नये अर्थ और आयामों के वाहक होते है। अधिकतर कला समीक्षकों ने भी इनकी कृतियों को चार चरणों में विभाजित कर रखा है परन्तु अधिकांश की यही धारणा है कि अंजलि अपने प्रेक्षकों को जिस संसार में ले जाती है वह संसार रहस्यमयता के साथ-साथ जीवन के गहरे क्षणों से साक्षात्कार कराता है। अपनी पद्धति में नितान्त वैयक्तिक होते हुये भी अंजलि जिन विषयों को उठाती है वे विषय कहीं न कहीं सामाजिक यर्थाथ की खिड़कियाँ खोलते है। यह दिलचस्प तथ्य है कि 'खिड़कियाँ' भी उनकी कृतियों का एक प्रबल प्रतीक है जो घर के अन्तरंग को दिखाती ही है उसके साथ-साथ रहस्यात्मक भूदृश्यों को सामने लाती है।

कलाकार के प्रथम चरण 1960-1970 के दशक में उनके कार्यों में पारम्परिक चित्र पद्धति की स्पष्टता देखी जा सकती है जिनमें वे आकृतियों को बिना तोड़े गहरे तुलिका घातों से रंगों में अपने भावों को विन्यस्त करती है। इस दौर की कृतियाँ भी गुणवत्ता की दृष्टि से बेहतर है और इनमें एक लय उभरती ध्वनित होती है। यह दशक वाँन गाँग और मोदिग्लियानी के

प्रभाव का दौर है जिनमें शेरगिल तथा जामिनी राय के चित्र का भी असर है। इन कृतियों में मार्था, आर्चीन, द वायर, रिफ्यूजी, मुराद, फिशर वुमन, आयशा, मैडोना, पोट्रेट ऑफ निशा, मजिद इत्यादि कृतियाँ शामिल है। इन कृतियों में फान्सिसी प्रभावाद की झलक भी देखी जा सकती है, पर कुछ कृतियों में अंजलि भारतीय शैली की छाप देने में भी सफल हुई है, खासकर यामिनी राय जैसी रेखायें स्पष्टतया उभरकर सामने आती है।

द्वितीय चरण में 1970-1980 के दशक में अंजलि की कृतियाँ अधिक पुष्ट होकर सामने आती है जिनमें कलाकार की अपनी छाप उभरती है। इस दशक की कृतियों में - कैप्टिव, हारा, मौंक, कार्तिक, भास्कर, सतपाल, मैरी प्रोफेट, ड्रीम गर्ल विद ए मंकी, भूलेश्वर, मालावार, न्यूड विद पियर्स, होमलैण्ड, रीमेम्बर्ड, न्यूड विद द डॉग, गर्ल विद कैट्स, रीमेम्बर द टाउन आदि शामिल है। जिनमें अंजलि एक कलाकार के रूप में जहाँ नई जमीन खोदती है, वही अपनी कृतियों को गहरे विमर्श में उतारती है। इस दौर की कृतियों में कही अंजलि रूपाकारों को तोड़ती है तो कही उसे विचारमग्न छवियों में विन्यस्त करती है। रंगों में कहीं धूसर रंग प्रयुक्त है तो कहीं गहरे चटक रंगों की बाहुल्य है। कैनवास के पार्श्व में भूदृश्य ही दिखती है जिनमें यथार्थ का वेग तो है ही साथ में रहस्य की झीनी बुनावट भी है। इसी दशक में वे कैनवास पर फ्रेम चित्रित करती है जिसके भीतर आकृति गढ़कर उसे एक नये शिल्प में पिरोकर नवीन प्रयोग करती है। यह एक खोज का सन्दर्भ भी हो सकता है। अंजलि की स्त्रियाँ प्रकृति को सहचर मानकर उसके साथ उपस्थित होती है जिनमें कौवें, कुत्ते, बन्दर आदि जानवर भी दिखायी देते है। यहाँ महिला आकृतियाँ खामोश है। जानवर एक दूसरे से सम्वाद करते प्रतीत होते है मानों वे महिला-रूपाकृतियों के साथ देने के लिए प्रस्तुत हो, अंजलि उसे खानों में बांटकर विस्तारित रूप देती है जिससे कृतियों का प्रभाव दोहरा हो जाता है। कौवों को उन्होंने अर्थपूर्ण प्रतीक रूप में चित्रित किया है। वे यहाँ चीखते नहीं है बल्कि वे गम्भीर मुद्रा में बैठै है या कुछ चुगते हुये दिखाई देते है। एक साक्षात्कार के दौरान अंजलि स्वयं कहती है कि - 'जब मैं इटली में थी तो मुरानों का काम देखा पहली बार मैंने इन दिनों पुरानी खिड़कियों, आलमारी और अन्य काष्ठ (लकड़ी) की वस्तुओं पर रंगों का प्रयोग किया है। यह प्रयोग चित्रकला होते हुये भी अलग तरह की कला है।[9] अंजलि की कृतियों में स्त्रियाँ जीवन-यथार्थ के अभिप्रेत को तो व्यक्त करती ही है, पर उनके किसी एजेण्डे की सूत्रधार नहीं है। वे स्त्रियों की यातना, उनके पिछड़ेपन और उनके प्रति भेदभाव को मुद्दा बनाकर नहीं प्रस्तुत करती है।

1980-1990 के तीसरे दशक में अंजलि के कार्यों को देखे तो फ्रेम के खानों में पतंग सायकिल, कुत्ता आदि के माध्यम से एक विलक्षण प्रयोग है। उनकी कृति 'कल्पना' एक स्त्री के आत्मनिर्भर भाव को व्यक्त करती कृति है। क्राउज ऐट डस्क, कैण्डोलिम रीमिग ऑफ इन इण्डियन समर, द रूम, गर्ल विद जूनो, गंगा, येत्रिनाद, शक्ति विसर्जन, जादू, फेस्टिवल जैसी कृतियाँ एक ऐसी कलाकार (अंजलि) को सामने लाते है जिसने अपने होने के अर्थ की खोज कर ली है।

1990-2000 के दशक से पहले की कृतियों का विश्वास इस दशक में बदल जाता है। वे इन कृतियों के विषय का विश्लेषण करने में भी प्रवृत्त होती है और बहुधा हम पाते है कि वे एक पर्यवेक्षक के तौर पर भी उभरती है। इस दशक की कृतियों में वे धार्मिक प्रतीकों को तोड़कर उसे नया सन्दर्भ देती है। अंजलि इस दशक में सचमुच एक ऐसा कला संसार रचती है जो प्रश्नाकूल है, अनुभूतिजन्य है, तथा संवेदनातन्त्र को झनझनाता है, परन्तु कला की मौलिकता बरकरार रहती है जिससे कलाकार अपने अर्थ की प्रतीति में भी स्वतन्त्र होता है।

अंग्रेजी साहित्य ऑनर्स और दुनियाँ भर में चल रहे सांस्कृतिक विमर्शों पर तीक्ष्ण दृष्टि रखने वाली इला मेनन उन कलाकारों में है जिनकी जीवन-जगत के प्रति एक निश्चित सोच और दृष्टि है। यह अकारण नहीं है कि वे आरम्भ में अतियथार्थवादी स्वप्नों की पैरोकार रही और बाद में 'सौन्दर्य' की चित्रकार के रूप में अलग व्याख्या प्रस्तुत कर सकी। ''उनका चित्रकार कृति छविचित्रों में विन्यस्त कर उसे सुधड़ दृश्यता तो देता है, साथ-साथ उसे रूपकों के जरिये अर्थगर्भी भी बनाता है, उसका उदाहरण समकालीन कला में विरल है। यही कारण है कि उनके चित्रों में स्त्रियाँ जितनी भाव-प्रवण, सुन्दर, दर्शनीय संवेदनशील है उतनी नाजुक छवि प्रस्तुत नहीं करती। इनके चित्र पुरूषवादी समाज के प्रति तीखा प्रतिकार है। उनकी रूपाकृतियाँ चित्रों में एक नई दुनियाँ बनाती है जिसकी नियन्त्रणकर्ता वे स्वयं बनती है तथा साथ में उसके सहचर प्रकृति और पशु-पक्षियों तथा वातावरण बनते है पुरूष नहीं।[10] यह भी गौरतलब है कि अंजलि के यहाँ ऐसी कृतियाँ भी बहुत है जिसमें बचपन की स्मृतियों और गुजरे हुये जीवन की गहरी यादों को चित्रित किया गया है। कुर्सी, चारपाई, विस्तृत नीला आकाश, गुब्बारे तथा पतंगों के माध्यम से अंजलि अपने अतीत को खोजती है और तब उन्हें गिरती दीवारें, टूटे हुए खिलौने हाथ लगते है, जो गुजरे हुये अतीत की यादों को एक दुःख में बदल देते है। अंजलि ने परम्पराओं को तोड़ने तथा सीरीज में कार्य करने को लेकर एक साक्षात्कार के दौरान कहा कि - ''रचनात्मक नयापन, सदैव कुछ नया करने की तलाश यह सभी रचनात्मक कलाकार के साथ होता है, जो कि बेहद अच्छी बात हैं। एक जैसी चीज लगातार करने से ऊब होती है। मैंने कई बार अलग-अलग सीरीज में काम किया है। रही बात धारा या परम्परा को तोड़ने की तो प्रत्येक कलाकार ऐसा करता है। कला माध्यम में प्रयोग चुनौतीपूर्ण होने के साथ-साथ सुखद होता है।[11] अंजलि इला मेनन की कलाकृतियों को हार्ड-बोर्ड पर चित्रित स्वप्नों की रहस्यमयी प्रतिलिपियाँ कहा जा सकता है।

अंजलि इला मेनन की कृतियों का समीक्षात्मक मूल्यांकन

फिशरवुमन

मैसोनाइट बोर्ड पर तैल रंग, 36 X 24 इंच, सन् 1956

1956 ई॰ में निर्मित फिशर वुमन नामक चित्र नीले वर्ण की आभा लिये हुये चित्रित है। इस चित्र में तीन महिलाओं को बैठे तथा खड़े होने की मुद्रा में दर्शाया गया है। इन महिलाओं के समीप कुछ घड़ों को चित्रित किया गया है। इस चित्र की पृष्ठभूमि रंगों के सहयोग से पोतयुक्त दर्शायी गयी है। चित्र में नीला, लाल, श्वेत तथा पीले रंगों का प्रयोग किया गया है। धरातल की सतह में सौन्दर्ययुक्त वर्ण योजना के द्वारा पानी के प्रभाव को दर्शाया गया है।

फैमिली

मैसोनाइट बोर्ड पर तैल रंग, 36 X 80 इंच, 1967[12]

यह चित्र इला मेनन ने साठ के दशक में चित्रित किया है। इस चित्र को लाल व श्याम वर्ण से युक्त दर्शाया गया है। चित्र में एक महिला बैठी हुई मुद्रा में चित्रित है। महिला की गोद में एक शिशु बैठे हुए दर्शाया गया है। चित्र में आकृतियाँ अस्पष्ट है। यह चित्र परिवार में माँ तथा उसके बच्चे के सम्बन्धों को दर्शाता है। चित्रआकृतियों में रंगों को अस्पष्ट तकनीकी से लगाया गया है, जिसमें कारण अमूर्तता का भाव प्रकट होता है।

गर्ल विद ए मंकी

मैसोनाइट बोर्ड पर तैल रंग, 36 X 24 इंच, 1972[13]

इस चित्र में एक महिला को एक चश्म मुद्रा में चित्रित किया गया है। इस महिला के सम्मुख एक बन्दर को बैठने की मुद्रा में दर्शाया गया है। पृष्ठभूमि में पेड़ पौधे, फूल इत्यादि चित्रित है। इसमें मानव, पशु तथा प्रकृति के अर्न्तसम्बन्धों का समन्वय अत्यन्त सुन्दर ढ़ंग से दर्शित है। इस चित्र के सन्दर्भ में एक साक्षात्कार के दौरान अंजलि कहती है कि - मेरे चित्रों में प्रकृति और जीवन अलग-अलग नहीं है। यही मेरी पेंटिंग के स्रोत है, माध्यम है।[14] अपने चित्रों के माध्यम से अंजलि ने मनुष्य पशु तथा प्रकृति के बीच सामंजस्य स्थापित किया है।

मरियम, मैसोनाइट बोर्ड पर तैल रंग, 36 × 24 इंच, 1983[15]

मरियम नामक चित्र मैसोनाइट बोर्ड पर तैल रंग द्वारा चित्रित एक व्यक्ति चित्र है। यह ईसा मसीह की माता मरियम है। मरियम के गर्दन में एक लॉकेट है जिसमें ईसा मसीह का व्यक्ति चित्र है। इस व्यक्ति के माध्यम से अंजलि दया, ममता, सौहार्द का भाव उभारने का प्रयास करती है। इस महिला आकृति की छाती को नग्न दर्शाया गया है। इस सन्दर्भ में एक साक्षात्कार के दौरान उन्होंने स्वयं कहा है कि - 'नारी आकृतियों के सीने खुले रखने का अर्थ उनके सीने में तेजस्वी ममता, प्रेम, दया की ओर संकेत करता है।[16]

विसर्जन

मैसोनाइट बोर्ड पर तैल रंग, 58 X 42 इंच, 1990

अंजलि के विसर्जन नामक कृति में एक वृद्ध पुरूष तथा एक बालक पानी में खड़े है। बालक के हाथ में एक गणेश भगवान की मूर्ति तथा वृद्ध पुरूष के हाथ में फूलों की माला है। श्वेते धोती पहने हुये वृद्ध पुरूष के ललाट तथा भुजाओं पर चंदन की तीन लाइन चित्रित है। इस चित्र के सन्दर्भ में एक साक्षात्कार के दौरान अंजलि कहती है कि - 'मेरी विसर्जन नामक पेंटिंग कुम्भ मेला द्वारा प्रेरित है। यहाँ लोग स्वयं पानी में खड़े होकर मूर्ति, प्रतिमाओं आदि का विसर्जन कार्य करते थे। यह धर्म से जुड़ा एक विस्तृत कार्य था।[17]

अंजली इला मेनन ने कम्प्यूटर की छवियों पर भी काम किया है। संस्थापन भी बनाये है। अप्रितम चित्र भी खीचे हैं। कोलाज भी निर्मित किये हैं तो हर जगह उनकी अपनी कला की छाप दिखायी देती है। वे केवल कैनवस पर ही काम नहीं करती बल्कि अनेक भिन्न-भिन्न माध्यम भी उनकी कला की अभिव्यक्ति के साधन बनते हैं। एक चित्रकार के रूप में ऐसी प्रायोगिक विविधता दूसरे कलाकारों में नहीं मिलती है। वे हर चीज को भौंडा विकृत और बिक्रीयोग्य बना देने की प्रवृत्ति पर कटाक्ष करते हुए कहती हैं कि - ''मैं इसे लेकर दुःखी हूँ। इससे कला का कोई लेना देना नहीं है। दस धनाड्य व्यक्तियों ने मिलकर ट्रस्ट बना लिया है। वह एक करोड़ की पेन्टिंग खरीदते हैं। कहीं भी प्रदर्शित नहीं करते। लोग उसे देख नहीं पाते। वह तो स्टॉक मार्केट हुआ। यह बहुत ही गलत और दुर्भाग्यपूर्ण है।''[18] वे कला को उसकी मूल चेतना सुरक्षित रखने की जरूरत पर जोर देती हुई स्वयं भी जिस सर्जन परम्परा को विकसित कर रही है, वह हर तरह से अनुकरणीय है।

कला को उसकी चेतना सहित उसको सुरक्षित रखने पर जोर देती हुई वे स्वयं जिस सर्जन परम्परा को विकसित कर रही है वह प्रत्येक तरह से आधुनिक समाज के लिये महत्वपूर्ण है।

वे भारत और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अनेक एकल प्रदर्शनियाँ कर चुकी हैं एवं अनेक राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शनियों में हिस्सेदार रही हैं। अंजलि इला मेनन को बहुत से राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय सम्मान भी मिले हैं। ''सन् 2000 में उन्हें पद्मश्री सम्मान से नवाजा गया।''[19] इसके साथ-साथ 2013 में दिल्ली के Kamani Auditorium मण्डी हाउस में दिल्ली की मुख्यमंत्री श्रीमती शीला दीक्षित द्वारा भारत सरकार की तरफ से लाइफ टाइम अचीवमेंट अवार्ड प्रदान किया गया।''[20] समकालीन भारतीय कला में एक मूर्धन्य कलाकार के रूप में स्वयं को स्थापित कर अंजलि ने समकालीनता को नया अर्थ दिया है तथा भारतीय स्त्रियों को भी एक वैचारिक भूमि दी है। अंजलि इला मेनन एक प्रसिद्ध म्यूरलिस्ट भी हैं। इन्होंने कई सार्वजनिक स्थलों जैसे ''दिल्ली के इन्दिरा गांधी अन्तर्राष्ट्रीय हवाई अड्डा तथा कई पाँच सितारा होटलों में म्यूरल कार्य भी किया है।''[21] ''उनके जीवन और काम के आधार पर एक किताब Engoli Ela Menon, Painting in Private Collections प्रकाशित की गयी। उनके जीवन तथा काम पर आधारित कई फिल्में तथा सी॰एन॰ए॰ द्वारा दूरदर्शन पर प्रसारित किया गया।''[22]

''वह ब्रिटिश काउन्सिल अमेरिकी विदेश विभाग और फ्रांस के संस्कृति मन्त्रालय द्वारा सलाहकार समिति के रूप में आमन्त्रित की गयी और उन्होंने 1996 ई॰ में फ्रांस समकालीन कला की एक प्रदर्शनी के लिए हेनरी क्लाउड के साथ नेशनल गैलरी ऑफ माडर्न आर्ट की तरफ से सह क्यूरेटर बनकर भारत का प्रतिनिधित्व भी की।''[23]

अंजलि इला मेनन की प्रदर्शनी भारत के साथ विदेशों में भी आयोजित होती रही है। अपने जीवन के इस चरण तक उन्होंने असंख्य प्रदर्शनियाँ भारत के विभिन्न कला दीर्घाओं में प्रदर्शित की। इसके साथ ही साथ उन्होंने विभिन्न कला संस्थाओं में अपनी सहभागिता दर्ज करायी। उनकी कलाकृतियों का संग्रह ललित कला अकादमी, नई दिल्ली, माडर्न आर्ट गैलरी नई दिल्ली तथा अनेक कला दीर्घाओं में संग्रहित है। ''इसके साथ-साथ Benjamin Gray Museum, Peabody Essex Museum, Asian Art Museum, San Franciso museum SJeb Fukuoka Museum Japan तथा अनेक देशों में संग्रहित है।''[24] इसके साथ ही साथ भारत के हर महत्वपूर्ण कॉरपोरेट संठाह टाटा, बिरला, Larsen and Toubro, TIFR Shah House, Shell Reliance, ITC, Times House, Hindustan Times आदि में इनकी कलाकृतियों का संठाह देखा जा सकता है। अंजलि Ves Aligiers Binnale, Sao Paulo Binnale भारत के त्रिनाले में भारत का प्रतिनिधित्व किया। इसके अतिरिक्त भारत तथा विदेशों में कई समूह शो में हिस्सेदार रहीं है। अपनी कला साधना के इस समय तक उन्हें देश तथा विदेशों में अनेक पुरस्कार तथा सम्मान प्राप्त हुये।

समकालीन भारतीय कला के एक मूर्धन्य कलाकार के रूप में स्वयं को स्थापित कर अंजलि ने भारतीय कला में समकालीनता को नया आयाम दिया है तथा भारतीय स्त्रियों को भी एक वैचारिक भूमि दी है। अंजलि की कला की अद्वितीयता उनके इसी अवदान में है जिसकी चर्चा के बिना समकालीन भारतीय कला की मूल्यांकन अधूरा है।

सन्दर्भ सूची-

1. मांगो, प्राणनाथ, भारत की समकालीन कला (एक परिप्रेक्ष्य) नेशनल बुक ट्रस्ट इण्डिया, नई दिल्ली, 2006, पृ॰सं॰ 7.
2. जोशी, अर्चना, विश्व इतिहास में महिला चित्रकार, राज पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, 2007, पृ॰सं॰ 100.
3. समकालीन कला, सम्पा॰ ज्योतिष जोशी, समकालीनता का नया अर्थ-संसार, अंक-28 (नवम्बर 2005-फरवरी 2006) ललित कला अकादमी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰सं॰ 34.
4. वही, पृ॰सं॰ 35
5. www.indianartcircile.com/Anjalieelamenon/Pipc interview.htm Date: 04.09.2013
6. जोशी, अर्चना, विश्व इतिहास में महिला चित्रकार, राज पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, 2007.
7. समकालीन कला, सम्पा॰ ज्योतिष जोशी, 'समकालीनता का नया अर्थ संसार, अंक 28 (नवम्बर 200- फरवरी 2006) ललित कला अकादमी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 35
8. वही पृ॰ 35
9. वही, पृ॰ 35
10. वही, पृ॰ 38
11. वही, पृ॰ 41
12. Dayal Indira, Anjali Ela Menon (Painting in Private Collection) New Delhi, 1995
13. वही
14. समकालीन कला, सम्पा॰ ज्योतिष जोशी, 'समकालीनता का नया अर्थ संसार' अंक 28 (नवम्बर 200- फरवरी 2006) ललित कला अकादमी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 41
15. Dayal Indira, Anjali Ela Menon (Painting in Private Collection) New Delhi, 1995
16. Monsoon Canvas.com/Mordern-india.women-artist.php? Page 3, Date - 08.09.2013
17. www.hindustantimes.com/Entertainment/Art my New Yark-might be a little controversial Anjali Ela Menon/Article. Date - 10.09.2013
18. समकालीन कला, सम्पा॰ ज्योतिष जोशी, समकालीनता का नया अर्थ-संसार, अंक-28 (नवम्बर 2005-फरवरी 2006) ललित कला अकादमी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰सं॰ 42.
19. en.wikipedia.org/wiki/Padma Shri-Awards (2000-2009) Date: 04.09.2013
20. www.delhivents.com/20013/08 government of Net of India-confers.html Date: 04.09.2013
21. www.hindustantimes.com/com/Entertaint/Art/Anjali-Ela Menon Showcases.recent-work.in.London Date: 04.09.2013
22. वही, दिनांक 04.09.2013
23. www.hindustantimes.com/Entertainment/Art/Anjali-Ela Menon-showcases,recent.work.in.London Date : 04.09.2013
24. वही, दिनांक 04.09.2013

●

भारतीय चित्रकला में अष्टनायिका

अलका गिरि[*] एवं प्रो0 लयलीना भट[**]

भारतीय चित्रकला के इतिहास का मध्ययुग (800-1900 ई0) वस्तुतः ग्रन्थ-चित्रण या लघु-चित्रण का समय रहा है, हिन्दी साहित्य का 'रीतिकाल' (1643-1800 ई.) मध्ययुग का ऐसा समय था जबकि विभिन्न राज्याश्रयों में कलाकारों को विशेष आदर एवं सम्मान प्राप्त हुआ। इस समय रीतिकालीन साहित्य का विकास चरमोत्कर्ष पर था जिसमें श्रृंगारिकता का प्राधान्य था। श्रृंगार की यह धारा संस्कृत साहित्य से प्रवाहित हुई और भक्तिकाल की भूमि को सरस बनाती हुई, रीतिकालीन काव्यों में उत्ताल तरंगों के साथ हिलोरे लेने लगी।

विभिन्न कला स्वरूपों में श्रृंगार की अभिव्यक्ति के प्रति सहज आकर्षण परिलक्षित होता है। नवरसों के अन्तर्गत श्रृंगार को 'रसराज' का बिरुद प्राप्त है और इस कारण साहित्य एवं कलाओं में इसका व्यापक प्रयोग देखने व सुनने को मिलता है। चित्रकला में भी श्रृंगार के दोनों पक्षों संयोग एवं विप्रलम्भ का अंकन प्रचुर मात्रा में एवं बखूबी हुआ है। राजस्थानी तथा पहाड़ी शैली के चित्रों में श्रृंगार तथा वियोग दोनों ही अवस्थाओं में नारी का अंकन अत्यंत ही कलात्मक ढंग से हुआ है। रीतिकालीन कवियों ने शब्दों द्वारा नायिकाओं के जो रूप-चित्र उकेरे हैं, उन्हें कुशल चित्रकारों ने बड़े ही आकर्षक रूप से चित्रित कर साकार कर दिया है। इस समय चित्रकला एवं साहित्य परस्पर जितने निकट आये उतने शायद वे कभी नहीं थे। वस्तुतः अधिकांश मध्यकालीन चित्र तत्कालीन साहित्य की मार्मिक व्याख्या है।[1]

नायक-नायिका भेद चित्रण

रीतिकाल प्रवृत्ति की दृष्टि से श्रृंगारिक युग था और नायक-नायिका भेद का परिविस्तार श्रृंगारिक प्रवृत्ति की दृष्टि से किया गया। यद्यपि नायक-नायिका भेद का विवेचन श्रृंगार रस के आलम्बन विभाव के अन्तर्गत ही किया गया है, किन्तु नायक-नायिका के भेद को रस निरूपक ग्रन्थों का वर्गीकरण करते समय अलग रखा गया, क्योंकि नायक-नायिका भेद को अलग से विस्तार देने का कार्य अनेक कवियों ने किया। नायक-नायिका भेद विषयक साहित्य, संस्कृत-काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों का ही अनुगत रहा है। फिर भी हिन्दी आचार्यों की प्रगाढ़ रागात्मकता एवं इसके गहराई में जाकर सूक्ष्म से सूक्ष्म कल्पना प्रवण चित्रों की अवतारणा विषय को विस्तार देने में अधिक सहायक हुआ। यदि एक ओर हिन्दी के श्रेष्ठ कवि अकुंठ भाव से नायक-नायिका भेद का शास्त्रीय आधार ठाहण करके राधा-कृष्ण के श्रृंगार का उन्मुक्त वर्णन कर रहे थे, तो दूसरी ओर कुशल चित्रकार कवियों द्वारा अंकित संयोग और वियोग के रमणीय चित्रों को अपनी तूलिका के जादू से जीवन्त बना रहे थे। साथ ही, कभी-कभी श्रेष्ठ कलाकारों के चित्रों को लक्ष्य करके काव्य-रचना भी की गयी । काव्य-कला और चित्रकला का यह सहज अन्योन्य संबंध श्रृंगार रस की विभिन्न स्थितियों (संयोग एवं विप्रलम्भ) को व्यापकता से रूपायित करता हुआ द्विशताधिक वर्षों तक अजस्र रूप से चलता रहा।[2]

नायिका भेद सम्बन्धी सबसे प्राचीन चित्र अजन्ता के भित्ति-चित्रों में दिखायी पड़ता है। 'नन्द की दीक्षा' नामक दृश्यावली के अंतर्गत विरहिणी सुन्दरी नामक नायिका का चित्र प्राप्त होता है। 'मरणासन्न रानी' के नाम से विख्यात् इस चित्र में विरह की दशमदशा को दक्ष चित्रकार ने बड़ी कुशलता से रूपायित किया है। इसी प्रकार संचारी भाव के अन्तर्गत अनगिनत उदाहरण अजन्ता एवं बाघ के चित्रों में प्राप्त होते हैं।

नायिका भेद के उत्कृष्ट उदाहरण राजस्थानी शैली के अन्तर्गत प्राप्त होने लगते हैं। प्रारम्भिक राजस्थानी शैली में चित्रित 'चौर-पंचाशिका', 'गीतगोविन्द' और 'बसन्तविलास' में नायक-नायिका का सुन्दर चित्रण प्राप्त होता है। संस्कृत के प्रसिद्ध कवि 'विल्हण' कृत 'चौरपंचाशिका' में नायिका के संयोग एवं वियोग भाव का उत्कृष्ट अंकन प्राप्त होता है।

जयदेव कृत 'गीतगोविन्द' प्रेम काव्य के रूप में अप्रतिम कृति है, जो संसार में अनेक भाषाओं में अनूदित हो चुकी है। मध्यकालीन चित्रकारों ने इन शब्द-चित्रों को अपनी प्रखर कल्पना और परम श्रद्धा से कागज पर अनेक बार रूपायित किया है। 'गीतगोविन्द' के अनेक पदों को चितेरों ने अपनी तूलिका एवं रंग के सहारे साकार किया है। इस प्रकार के सचित्र एवं ललित लिपियुक्त संस्करण तैयार करने की परम्परा लगभग पन्द्रहवीं शताब्दी से ही प्रारम्भ हो जाती है और राजस्थानी एवं पहाड़ी शैली में इसके चित्रण को विस्तार मिला। यह ग्रन्थ विशिष्ट रूप से नायक-नायिका भेद सम्बन्धी दृश्यों से पूरित है। जिसके नायक हैं श्रीकृष्ण एवं नायिका हैं उनकी चिरसंगिनी राधा । पहाड़ी शैली के बसोहली एवं काँगड़ा में इनका उत्कृष्ट अंकन प्राप्त होता है। उक्त ग्रन्थ कृष्ण चरित्र से सम्बन्धित है जिनकी श्रृंगार-क्रीड़ाओं की सुदीर्घ पौराणिक एवं साहित्यिक परम्परा है।

राजस्थानी तथा पहाड़ी चित्रकला में 'रसिकप्रिया', 'बिहारी सतसई' तथा 'रसराज' को आधार बनाकर विभिन्न नायिकाओं का चित्रांकन हुआ है। सौन्दर्य की खोज में रत इन कलाकारों ने प्रकृति और मानव से ऐक्य स्थापित कर सर्वत्र सौन्दर्य-ही-सौन्दर्य देखा । यही कारण है कि पहाड़ी शैली के नायिका भेदवाले चित्रों में अपरिमित सौन्दर्य, प्रेम की आन्तरिक अनुभूति तथा

* शोध छात्रा, नृत्य विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

** प्रोफेसर, नृत्य विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

लौकिक चेतना के दर्शन होते हैं। वस्तुतः प्रकृति एवं चेतना के बीच का आवरण रसिक व्यक्ति के लिए अत्यन्त हल्का होता है और इस प्रकार रसिक जो भी ठाहण करता है वह हर्षातिरेक है जो 'गूँगे के गुड़' के समान वाणी द्वारा वर्णन से परे होता है।[3] प्रेम का प्रवाह नेत्रों में उमड़ता है और बहुत कुछ दृश्यात्मक होता है। यही कारण है कि इस अपरिमित सौन्दर्य के चित्रण में कवि से कहीं आगे चित्रकार पहुँच जाता है।[4] बहुआयामी सृजनशीलता एवं बहुमुखी प्रतिभा से चित्रित कर हमें ऐसे दिव्य लोक में पहुँचा दिया है जहाँ अपरमित सौन्दर्य के आलोक में रस का सागर हिलोरे लेता है।

शृंगार के आलम्बन नायक और नायिका हैं जिनके युगल रूप के अन्तर्गत शृंगार के मूल तत्व 'रति' की स्थिति रहती है इसलिए इस काल में नायक-नायिका भेद के अनेक रूपों का विस्तार हुआ। नायिका के जाति, कर्म, वय, अंग-रचना, अवस्था आदि के आधार पर बहुसंख्यक एवं विविध-रूपिणी नायिकाओं के लक्षण और उदाहरणों को प्रस्तुत किया गया। इन्हीं नायक-नायिकाओं के संयोग और वियोग को ध्यान में रखकर शृंगार के अनेक रूपों की कल्पना की गयी। इस समय चित्रकला एवं साहित्य में जिस विषय पर समन्वयात्मक रूप से कार्य हुआ है वह है नायक-नायिका भेद का चित्रण । इस तरह के चित्र राजस्थानी तथा पहाड़ी शैली में बहुतायत से बनाये गये हैं।

चित्रों में नायिका भेद

नायिका वह है जो नायक की प्रेयसी है, जो नायक को वशीभूत करती है, उसे शृंगार का मार्ग दिखाती है। मध्ययुगीन कामशास्त्र, नाट्यशास्त्र तथा साहित्य के आचार्यों ने अपने-अपने ग्रन्थों में नायिकाओं के अनेक वर्गों की कल्पना की है। कामशास्त्र की नायिकाओं के वर्गीकरण का मूलाधार सम्भोग-शृंगार रहा है तो नाट्यशास्त्र का आधार अभिनेयता से प्रेरित है। साहित्य के आचार्यों ने नायिकाओं का वर्गीकरण तथा विश्लेषण उनके द्वारा शृंगार विकास के उद्देश्य से किया।[5] शृंगार रस को रस-राजत्व प्राप्त होने के बाद शृंगार रस के आलम्बन के रूप में नायिका भेद को विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ ।

आलम्बन के अन्तर्गत आचार्यों ने नायिकाओं को विभिन्न आधारों पर वर्गीकृत किया है जो इस प्रकार है-

1- जाति (प्राकृतिक वर्ग) - पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी, हस्तिनी

2- कर्म (धर्म या लोक रीति) - स्वकीया, परकीया, सामान्या

3- वय - मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा

4- पति का प्रेम - ज्येष्ठा, कनिष्ठा

5- मान - धीरा, अधीरा, धीराधीरा

6- दशा - गर्विता, अन्य सुरत-दुःखिता, मानवती

7- अवस्था (काल) - स्वाधीनपतिका, उत्कण्ठिता, वासकसज्जा, कलहान्तरिता, खण्डिता, प्रोषितपतिका, विप्रलब्धा, अभिसारिका।

8- प्रकृति या गुण - उत्तमा, मध्यमा तथा अधमा इत्यादि।

हिन्दी रीतिकालीन साहित्य में जिस प्रकार नायिकाओं का विभिन्न आधारों पर विविध रूप से वर्णन किया गया है, उसी प्रकार मध्यकालीन चतुर चितेरों ने उन्हें अपने रंग और रेखाओं के द्वारा अभिनव हृदयठााही चित्रों में साकार किया है। कवि को काव्य-धर्म के निर्वाह में लगभग सभी नायिकाओं के रूप-गुण का वर्णन अनिवार्य-सा हो गया था। परन्तु तत्कालीन चित्रकारों के लिए ऐसा बन्धन नहीं था। उन्होंने श्रेष्ठ, सुन्दर तथा मनमोहिनी नायिकाओं का ही चित्रण अधिकतर किया है। इन चित्रकारों की रुचि, हस्तिनी, सामान्या (गणिका), अधमा आदि नायिकाओं के चित्रण में बिल्कुल नहीं थी।

नायिकाओं के भेदों-उपभेदों का कोई अन्त नहीं है और जिस प्रकार कवियों ने उनकी विशेषताओं का विशद् वर्णन किया है, उसी प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थ-चित्रण में चित्रकार ने उनको रूपायित करने का भरपूर प्रयास किया है लेकिन उसका मन पद्मिनी नायिका के रूप लावण्य को उनके प्रमाणानुसार चित्रित करने में अधिक रमा है।[6] नायक कृष्ण और नायिका राधा का रूप, गुण और माधुर्य उसे विशेष रूप से सम्मोहित करता रहा और उसी में जहाँ तक हो सका विविध नायिकाओं को समाहित करता रहा। नायिका भेद के चित्रों में अवस्थानुसार अष्ट नायिकाओं का चित्रण चित्रकार की पहली पसन्द थी अतएव उसने उनका चित्रण अपूर्व कुशलता के साथ किया है।

स्वाधीनपतिका नायिका

यदि नायक पूर्णतः नायिका के अधीन है तो सर्वथा सुखी और सन्तुष्टमन नायिका स्वाधीनपतिका कहलाती है। नायक उसके प्रेम में इस प्रकार अनुरक्त रहता है कि उसे लोक-लाज की कोई चिन्ता नहीं रहती है। एक तरह से नायक उससे प्रेम करने के लिए बाध्य होता है।

राजस्थानी एवं पहाड़ी चित्र शैलियों में स्वाधीनपतिका नायिका का चित्रण विविध रूपों में किया गया है किन्तु प्रत्येक चित्रों की नायिका 'राधा' के मुखमण्डल की दिव्य कान्ति, जो आत्माभिमान से परिपूर्ण है देखने योग्य है। इन चित्रों में कुंज में बैठे कृष्ण, राधा की चोटी गूँथ रहे हैं, टीका-बिन्दी लगा रहे हैं, अथवा हार या बूँदा पहना रहे हैं।

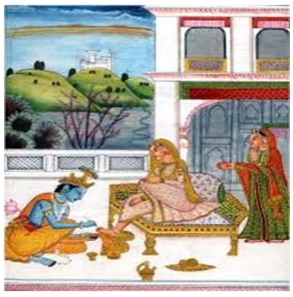

स्वाधीनपतिका नायिका

उत्कण्ठिता नायिका

यह वह नायिका है जिसके प्रेमी ने निमंत्रण के निश्चित समय पर न आकर अपने विश्वास को खोया है। आशा और निराशा के मध्य दोलायमान यह नायिका उत्कण्ठिता नायिका कहलाती है। उत्कण्ठिता नायिका का चित्रण राजस्थानी एवं पहाड़ी चित्र-शैलियों में बड़ा मार्मिक एवं उत्कृष्ट है। बहुधा ऐसी नायिका को नदी किनारे, वृक्ष के नीचे कुंजों के पत्रासन अथवा चमेली पुष्पों से बिछी सेज पर चिन्तित मुद्रा में खड़ी या बैठी अंकित किया गया है। पक्षियों को जोड़े में दिखकर नायिका के मन की बेचैनी का आभास कराया गया। अँधेरी रात में बादलों की घुमड़ और बीच-बीच में चपला की चमक से आलोकित नायिका को उत्कण्ठा से प्रतीक्षा करते हुए दिखाया गया है। किसी

चित्र में मृग को नदी में पानी पीते हुए दिखाकर नायिका के मनोभावों को प्रतीक रूप में किया गया है।

उत्कण्ठिता नायिका

वासकसज्जा नायिका

जो नायिका प्रिय समागम का निश्चय जानकर शृंगार-प्रसाधन करती है एवं अपने प्रिय की शय्या को सुसज्जित करती हुई अनेक प्रकार के मनोरथों से प्रसन्न होती है, वह वासकसज्जा नायिका कहलाती है।

वासकसज्जा नायिका को राजस्थानी एवं पहाड़ी शैली के चित्रों में विविध प्रकार से चित्रित किया गया है। एक चित्र में नायिका को केलि-स्थल सुसज्जित कर अपने प्रियतम का इन्तजार करते हुए दिखाया गया है। लता कुंज, पुष्पित वृक्ष, पशु-पक्षी, पत्र-शय्या, फूल-माला आदि का चित्रण बड़े मनोयोग से किया गया है। कुंज-कुटी में बैठी नायिका को प्रिय की शय्या सुसज्जित कर उस पर बैठी अथवा शयन कक्ष के द्वार पर प्रियतम के आगमन की प्रतीक्षा में खड़ी हुई दर्शाया गया है। नायिका के चेहरे पर उत्सुकता, प्रफुल्लता एवं स्फूर्ति के दर्शन सभी चित्रों में होते हैं।

वासकसज्जा नायिका

कलहांतरिता नायिका

अभिसंधिता या कलहांतरिता वह नायिका है जो अपने प्रियतम के प्रेम पर विश्वास नहीं करती परन्तु विरह या अनुपस्थिति में दुखी रहती है।

राजस्थानी एवं पहाड़ी चित्र-शैली में कलहांतरिता नायिका का बड़ा मनोरम चित्रण हुआ है जिसमें प्रिय के रूठकर चले जाने पर नायिका को दुखी एवं पश्चाताप करते हुए दिखाया गया है। चित्र देखने से स्पष्ट होता है कि दोनों में किसी बात के लिए लड़ाई हुई है तथा नायक की मुख-मुद्रा से यह स्पष्ट होता है कि उसने पहले नायिका को मनाया होगा। फिर दुखी मन से वापस जा रहा है। इधर नायिका भी आवेश में कहे अपने शब्दों पर दुखी है। कहीं-कहीं नायिका को अपने मन के इस दुख को अपनी प्रिय सखी से कहते हुए दिखाया गया है।

कलहांतरिता नायिका

खण्डिता नायिका

जो नायक द्वारा अन्यत्र रमण करके आने पर उसके शरीर पर रति-चिह्नों को देखकर व्यथित होती है, वही खण्डिता नायिका कहलाती है।

राजस्थानी एवं पहाड़ी शैली के अनेक चित्रों में नायिका नायक को प्रताड़ित करती हुई दिखाई गयी है। नायक दूसरे स्थान पर रात बिताकर सुबह-सुबह आता है इस पर नायिका गुस्से में उसे फटकारती है। धृष्ट ायक की आँखे नायिका के क्रोध को देखकर झुक जाती हैं। प्रातःकाल का चित्रण उषा की लालिमा तथा सुबह-सुबह उठकर स्त्रियों को झाड़ू लगाते या फूल चुनकर लाते हुए दिखाकर किया गया है। कपोत-कपोती को अलग-अलग चित्रित कर नायिका की मनोदशा का प्रतीकात्मक चित्रण किया गया है।

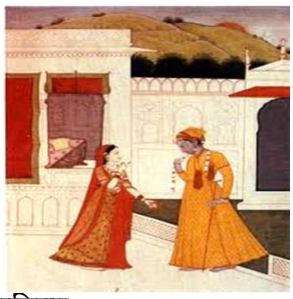

खण्डिता नायिका

प्रोषितपतिका नायिका

अनेक कार्यों में फँसकर जिसका पति परदेश चला गया है और उसकी अनुपस्थिति में काम वासना से उत्पीड़ित नायिका प्रोषितपतिका कहलाती है।

प्रिय के वियोगजन्य विह्वलता का समावेश राजस्थानी एवं पहाड़ी शैली के विभिन्न चित्रों की प्रोषितपतिका नायिकाओं में किया गया है। कई चित्रों में वर्षा ऋतु में प्रिय के अभाव में दुखी नायिका का चित्रण बड़ा ही हृदयस्पर्शी है। नायिका बारजे में बैठी या खड़ी चित्रित की गयी है उसके साथ उसकी सखी को उसे सँभालते या समझाते हुए चित्रित किया गया हैं एक चित्र में नायक के निश्चित समय पर न आने के कारण उसे मान करके बैठा हुआ दिखाया गया है तथा उसकी सखी उसे समझा रही है।

प्रोषितपतिका नायिका

विप्रलब्धा नायिका

जो नायिका प्रिय मिलन की आशा से संकेत-स्थल पर पहुँचती है परन्तु इस संकेत स्थल पर अपने प्रिय को न पाकर अपमानित महसूस करती है वह नायिका विप्रलब्धा कहलाती है।

विप्रलब्धा नायिका के अनेक चित्र राजस्थानी एवं पहाड़ी चित्र शैलियों में बनाये गये हैं नायिका साहस कर केलि-स्थल (कुंज) जाती है लेकिन वहाँ अपने प्रिय को न देखकर गुस्से से वह अपने आभूषणों को उतार-उतार का फेंकने लगती हैं उसकी देहलता दीपशिक्षा की भांति कम्पित होने लगती है। प्रकृति के विविध उपादान नायिका की मनःस्थिति का निरूपण करने में सक्षम होते हैं, जो प्रतीक रूप में चितित्र हुए हैं। भारतीय चित्रकला की विविध शैलियों में चित्रकार विप्रलब्धा नायिका के चित्रण में पूर्ण सफल हुआ है।

विप्रलब्धा नायिका

अभिसारिका नायिका

जो नायिका, नायक से मिलने के लिए संकेत-स्थल पर जाय ऐसी कामातुरा नायिका को अभिसारिका कहते हैं।

भारतीय चित्रकला की विभिन्न शैलियों में अभिसारिका का बहुलता से चित्रण हुआ है। इसमें अंधेरी रात में नायक से मिलने के लिए जाने वाली नायिका कृष्णाभिसारिका तथा चाँदनी रात में शुभ्र वस्त्र धारण कर जाने वाली नायिका चन्द्राभिसारिका अथवा शुक्लाभिसारिका कहलाती है। प्रियतम से मिलने की लालसा तथा कामावेग के सामने उसे काली अँधियारी रात में मेघों का गर्जन, चपला की चमक, पैरों में लिपटते सर्प अथवा भूत पिशाचों का भय उसके लिए कुछ नहीं है काली अँधियारी रातों में अपने को छुपाने के लिए वह श्याम तथा नीले रंग के परिधान धारण करती है। जबकि चांदनी रात में शुभ्र वस्त्रों को पहनती है।

अभिसारिका नायिका

नायिका भेद के चित्रों को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि की कल्पना को चित्रकार ने किस सूझ-बूझ एवं कुशलता से साकार किया है। कवि शब्दों द्वारा जो चित्र सहृदय पाठकों के मन में उभारने का प्रयास करता है, उस मानस छवि में उसकी कल्पना और सौन्दर्यानुभूति की विभिन्नता के कारण अन्तर अवश्य रहता है, लेकिन चित्रकार अपनी गहरी अनुभूति एवं प्रखर कल्पना से जो चित्र खींचता है वह सर्वसुलभ होता है उसमें कोई अन्तर नहीं होता। वह पाठक को कवि की अनुभूति तक ही नहीं ले जाता बल्कि उससे भी आगे ले जाने का प्रयास करता है। इस प्रकार चित्रकार काव्य को आधार बनाकर जो चित्र अंकित करता है उसमें भी उसकी गहरी अनुभूति होती है, इसलिए उसके चित्र इतने सरस एवं प्रभावी होते हैं।

रीतिकालीन कवियों ने नायिकाओं के सौन्दर्य का वर्णन तथा प्रेम सम्बन्धी स्थितियों का चित्रण अपने काव्य में किया है। उसी आधार पर तत्कालीन चित्रकारों ने उसे रंग-रेखाओं के माध्यम से सजीव किया। श्रृंगार के प्रति कला का आकर्षण हमेशा से रहा है इसलिए इस काल के चित्रों में भी श्रृंगार रस की सुन्दर अभिव्यक्ति अपने चरमोत्कर्ष पर दिखायी पड़ती है। रीतिकालीन कवियों ने शब्दों द्वारा सौन्दर्य के जो प्रतिमान स्थापित किये उन्हें कलाकारों ने मूर्तरूप दे दिया है।

सन्दर्भ सूची-

1. भारतीय चित्रकला और काव्य, डॉ0 श्यामबिहारी अग्रवाल।
2. भारतीय चित्रकला और काव्य, प्रावकथन डॉ0 राकेश गुप्ता।
3. भारतीय चित्रकला का इतिहास, भाग 2, पेज 178, डॉ0 श्यामबिहारी अग्रवाल।
4. भारतीय चित्रकला का इतिहास, भाग 1, पेज 104, डॉ0 श्यामबिहारी अग्रवाल।
5. कथक नृत्य शिक्षा, भाग-दो, डॉ0 पुरु दाधीच।
6. भारत की चित्रकला, रायकृष्णदास, लीडर प्रेस, इलाहाबाद।
7. भारतीय कला के विविध स्वरूप, प्रेमचन्द गोस्वामी, पंचशील प्रकाशन, जयपुर।
8. www.academia.edu
9. www.wikipedia.com
10. www.indiavideo.org
11. www.google.com

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में संगीत शिक्षा की संस्थागत शिक्षण प्रणाली

एकता मेहता एवं प्रोफेसर सरयू आर. सोन्नी***

संगीत शिक्षण पर चर्चा करने से पूर्व सर्वप्रथम हम शिक्षण (शिक्षा) शब्द पर दृष्टिपात करते है। शिक्षा का अंग्रेजी शब्द एजूकेशन (Education) लैटिन भाषा से लिया गया है। जिसका अर्थ होता है इ अर्थात् अन्दर (डुको) अर्थात अभिव्यक्ति करना। अतः दोनों शब्दों के अर्थ को जोड़ कर देखे तो अपने अन्दर निहित भावनाओं को व्यक्त करना ही शिक्षा है।[1] संगीत शब्द में सं उपसर्ग है और गीत 'गै' धातु में 'क्त' प्रत्यय लगकर बना है जिसका अर्थ है सुन्दर गाना अर्थात् लय एवं स्वर के माध्यम से भाव व्यक्त करना।[2]

किसी भी विषय पर चर्चा करने से पूर्व उसका इतिहास जानना नितान्त आवश्यक होता है। तभी हम उसका जन्म, क्रमिक विकास, एवं उसके ऐतिहासिक उतार-चढ़ाव का विश्लेषण करते हुए उसके वर्तमान स्वरुप तक पहुंच पाते है। यदि विषय के इतिहास से हम अनिभिज्ञ है, तो हमें उस विषय पर जो भी जानकारी मिलती है या हमारे पास है उसे सम्पूर्ण नहीं कहा जा सकता। विषय के इतिहास में ही उसका वर्तमान छुपा होता है। विषय को सारगर्भित रुप में प्रस्तुत करने हेतु बार-बार उसके इतिहास की तरफ देखना पड़ता है। कोई भी विषय अचानक ही उत्पन्न नहीं हो जाता बल्कि सबका अपना-अपना एक गौरवमयी इतिहास अवश्य होता है। हमारा विषय वर्तमान संगीत शिक्षण से सम्बन्धित है। वर्तमान शताब्दी में अंग्रेजों के आने के साथ ही सांस्कृतिक पुनर्जागरण शुरु हो गया। जिसके फलस्वरुप ऐतिहासिक विश्लेषण और संगीत के विभिन्न बिन्दुओं की तुलना के क्षेत्र सामने आये। प्राचीन ग्रंथों की खोज कर उनका अध्ययन मनन एवं चिंतन प्रारम्भ हो गया। जिसके फलस्वरुप विश्वविद्यालयों में संगीत के विभिन्न ऐतिहासिक पक्ष को जानने की तीव्र अभिलाषा एवं आवश्यकता विद्यार्थियों एवं शिक्षकों में स्वाभाविक रुप से दिखने लगी।[3]

भारत में अन्य विद्याओं एवं कलाओं की ही भांति संगीत की शिक्षण परम्परा भी गुरुकुल पद्धति से चली आ रही है। प्राचीन समय में संगीत का शिक्षण व्यक्तिगत रुप से होता था। जिसको गुरुकुल पद्धति नाम दिया गया। संगीत शिक्षण को सीना-बसीना विद्या भी कहा जाता है। संगीत वास्तव में गुरुमुख विद्या है। जिसे बिना गुरु के प्राप्त करना असम्भव होता है। वैसे देखा जाय तो जितनी भी कलायें एवं विद्यायें है सभी में गुरु की विशेष आवश्यकता होती है। कलाओं एवं विद्याओं के ज्ञान हेतु अध्ययन के साथ-साथ विशेष गुरु प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है। इस परम्परा में संगीत की प्रतिभा, योग्यता और लगन से युक्त तथा कलाकार बनने का लक्ष्य रखने वाले व्यक्ति संगीत की शिक्षा प्राप्त करते है। संगीत सीखने के लिए गुरु श्रद्धा, परिश्रम और साधना तीनों का होना नितान्त आवश्यक होता था, जो आज भी संगीत शिक्षण में महत्वपूर्ण है। इस पद्धति में दिन रात गुरु के निकट रहकर साधना करना एवं गुरु सेवा करना आवश्यक होता था। 24 घंटे गुरु के साथ रह कर एक विशेष सांगीतिक वातावरण मिलता था जो कि संगीत को एक संस्कार के रुप में शिष्य में समाहित कर देता था। वर्तमान की तरह इस पद्धति में पाठयक्रम, पुस्तक, परीक्षा, डिग्री एवं सरल सुविधाओं का अभाव था। शिष्य सिर्फ अपने गुरु को सुन सकता था तथा उन्हीं की विधा आत्मसात कर सकता था। किसी अन्य की विधा से दूर ही रहना पड़ता था। परन्तु वह शिष्य निश्चित ही एक कलाकार बन कर गुरुकुल से बाहर निकलता था।

प्राचीन गुरुकुल पद्धति से ही घराने का रुप विकसित हुआ। संगीत के क्षेत्र में घरानों का विशेष महत्व रहा है और आज भी है। संगीत शिक्षण की चर्चा करते समय हम यदि घरानो की चर्चा न करे तो यह चर्चा अधूरी ही रह जायेगी। घराना पद्धति गुरुकुल का विकसित रुप है।[4] घराने के विकास के कुछ मानक निर्धारित किये गये थे। प्रायः संगीत के सभी विधाओं के घरानो का निर्माण हुआ है चाहे वह गायकी के हो या वाद्य के। भातखण्डे डीम्ड विश्वविद्यालय के पूर्व प्राध्यापक एवं प्रसिद्ध शास्त्रज्ञ डा0 तेजसिंह टाक के अनुसार, ''घराने के निर्माण में तीन पीढ़ियों का मंच पर प्रदर्शन, लगभग 100 वर्ष का समय तथा अपनी कला का एक ऐसा प्रमुख बिन्दु जो इस नवीन परम्परा को अन्य परम्पराओं से भिन्न पहचान दिला सके तभी घराने का निमार्ण होता है।'' जैसे उदाहरण के लिए आगरा घराना, लय पर किराना घराना स्वर के लिए अलग पहचाना जाता है।[5]

सभी घरानो की शिक्षण प्रणाली में कोई खास अन्तर नहीं था। सभी के नियम कठोर थे। अपने घराने के अतिरिक्त अन्य घरानों को सुनने की आज्ञा नहीं थी। सर्वप्रथम गला तैयार करना, फिर अलंकार, उसके उपरान्त क्रमशः शिक्षा आगे बढ़ती थी। इसमें अनुशासन का विशेष महत्व होता था। यह सच है कि घरानों ने भारतीय शास्त्रीय संगीत को लम्बे समय से सुरक्षित रखा है परन्तु घराने में कुछ कमियां भी थी। कलाकार का सम्पूर्ण जीवन कला को ही समर्पित रहता था। फलस्वरुप उसका उचित सामाजिक विकास नही हो पाता था। गुरुओं का व्यक्तिगत रागाद्वेष, जन सामान्य की पहुंच से दूर, अत्यन्त कठोर नियम आदि। समाज में कला एवं कलाकार दोनों की ही स्थिति खराब होती जा रही थी। संगीत एवं संगीतज्ञ को सम्मान दिलाना एवं उनकी कमियों को दूर करना ही संस्थागत शिक्षण प्रणाली के जन्म का मूल कारण था।[6]

* शोध छात्रा, गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

** प्रोफेसर, गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

डा0 तेजसिंह टाक के अनुसार (15वीं शती) संगीत रत्नाकर के समय तक हमारा भारतीय संगीत विशुद्ध रुप में था। उत्तर एवं दक्षिण का कोई भेद न था परन्तु जब विदेशी आक्रमण होने लगे तो समस्त भारतीय विद्याओं की हानि हुई। गुरुकुल जला दिये गये हमारी कलाओं विद्याओं हमारी संस्कृति का मानमर्दन किया गया। हमारी भारतीय शास्त्रीय संगीत की धरोहर भी छिन्न-भिन्न हो गयी। मुसलमानों के आने से संगीत का दैवीय रुप विलुप्त हो गया और संगीत विलासिता का साधन बन गया। प्राचीन गुरुकुल पद्धति क्षीण होने लगी। संगीत राजदरबारों में प्रवेश किया यह राजाओं एवं राजकुमारियो को संगीत की व्यक्तिगत शिक्षा देने के उदाहरण हमें प्राप्त है। गुरुकुल का प्रभाव धीरे-धीरे घटता गया तथा राज दरबारों का बढ़ता गया।

अंग्रेजो के समय तक आते-आते संगीत कोठों तक जा पहुंचा यह समय संगीत के लिए सर्वाधिक कलंकित समय था। सभ्रान्त परिवार के लोग अपने घरों की स्त्रियों को संगीत से दूर रखते थे। उस समय संगीत की शिक्षा कोठो पर होती थी। (20वीं शताब्दी के आरम्भ में) संगीत के दो महान उदारक का जन्म हुआ जिन्हें विष्णु द्वै के नाम से जाना जाता है। पं0 विष्णु नारायण भातखण्डे एवं पं0 विष्णु दिगम्बर पलुस्कर के अथक प्रयास से संगीत कोठो एवं दरबारों से निकल कर सर्वजन सुलभ हो सका।

वर्तमान संगीत शिक्षण परम्परा में सर्वप्रथम 1886 में प्रसिद्ध संगीतज्ञ मौला वख्स द्वारा, लाहौर में पहला संगीत शिक्षण संस्थान बनाने का प्रयत्न किया गया। जो वर्तमान में Faculty fo Music Dance and Dramaties के रुप में है। लाहौर में 1901 में गान्धर्व महाविद्यालय, ग्वालियर में 1924 में माधव संगीत विद्यालय, 1926 में लखनऊ में मैरिस म्यूजिक कालेज बना। इसके उपरान्त अनेक संगीत शिक्षण संस्थान खोले गये तथा भातखण्डे जी ने पांच अखिल भारतीय संगीत सम्मेलन कराये जिसमें सम्पूर्ण भारतवर्ष से संगीत के विद्वानों की उपस्थिति में रागो के विभिन्न मतभेद दूर किये गये। साथ ही संगीत के भविष्य की रुप रेखा तैयार की गयी जो वर्तमान तक चल रही है। देश आजाद होने के बाद हमारी कलाओं के प्रति सरकार संवेदनशील हुई तथा अनेक प्रयास किये। इसके फलस्वरुप उच्च शिक्षा के क्षेत्र में सर्वप्रथम बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय (बी0एच0यू0) में सन् 1950 में पं0 ओंकार नाथ ठाकुर जी के प्रयास से संगीत विभाग खुला तथा 1955 में संगीत शास्त्र विभाग की अलग से स्थापना हुई। धीरे-धीरे अनेक विश्वविद्यालय एवं महाविद्यालयों में संगीत की कक्षायें प्रारम्भ हो गयी।[7]

वर्तमान समय में संगीत शिक्षण कार्य मूल रुप से दो प्रकार से चल रहा है। पहला एक ऐसे शिक्षण संस्थान जो सिर्फ संगीत का शिक्षण-प्रशिक्षण देते है। दूसरे ऐसे शिक्षण संस्थान जो संगीत का शिक्षण-प्रशिक्षण अन्य विषयों के साथ देते है। प्रथम के अन्तर्गत संगीत के विश्वविद्यालय, जैसे भातखण्डे संगीत सम विश्वविद्यालय लखनऊ, इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय खैरागढ़, छत्तीसगढ़। संगीत के महाविद्यालय जैसे गान्धर्व मण्डल नई दिल्ली, प्रयाग संगीत समिति इलाहाबाद, भातखण्डे विद्यापीठ लखनऊ, एवं अन्य। द्वितीय प्रकार के शिक्षण में सामान्य विश्वविद्यालय एवं महाविद्यालय में अन्य विषयों के साथ संगीत एक विषय के रुप में होता है। संगीत का अलग से संकाय तथा उस संकाय में संगीत के गायन, वादन एवं नृत्य विभाग आदि होते है। जबकि महाविद्यालयों में इसका रुप इतना वृहद नहीं होता है।[8]

वर्तमान समय में राष्ट्र एवं समाज के विकास के लिए शिक्षा को अत्यावश्यक माना गया है। शिक्षा से मनुष्य का बौद्धिक और मानसिक विकास होता है। बीसवीं शताब्दी में हिन्दुस्तानी संगीत में कई बदलाव आए है। प्राचीन काल से संगीत की शिक्षा गुरू शिष्य परम्परा से चली आ रही है।[9] संगीत ही एक ऐसा विषय है जिसकी शिक्षा बिना गुरू के नहीं ली जा सकती है। संगीत शिक्षण की घरानेदार परम्परा पीढ़ी दर पीढ़ी चली आ रही है। घराने में गुरू केवल अपने शिष्यों को अपने ही घराने की तालीम देते थे। उनका कोई निश्चित पाठ्यक्रम नहीं थी। और न ही परीक्षा या डिग्री, उपाधि की व्यवस्था थी।[10] घराने में गुरू अपने इच्छा अनुसार योग्य शिष्यों का चुनाव कर उन्हें संगीत शिक्षा प्रदान करते थे। इसके परिणाम स्वरूप अन्य व्यक्ति जो संगीत सीखना चाहते थे, वह इस विद्या से वंचित रह जाते थे। प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक संगीत का प्रचार प्रसार बहुत ही तीव्र गति से हुआ जिसके परिणाम स्वरूप संगीत शिक्षा संस्थागत शिक्षण प्रणाली तक आ गई है संगीत की बढ़ती हुई महत्ता को ध्यान में रखकर और उसके गुणों को पहचान कर ही शिक्षाविदों ने संगीत शिक्षा का महत्व समझा। संगीत के कई विद्वानों ने संगीत के क्रियात्मक पक्ष के साथ-साथ शास्त्रपक्ष को भी संगीत शिक्षा के माध्यम से जनसाधारण तक पहुँचाने हेतु संगीत संस्थाओं के द्वारा सामूहिक रूप से शिक्षा देना आरम्भ किया। संगीत को संस्था में लाने और पाठ्यक्रम में सम्मिलित कर शिक्षा अंग समझाने में दो प्रमुख विद्वान विष्णुनारायण भातखण्डे और विष्णु दिगम्बर पलुस्कर जी का विशेष योगदान रहा। विद्वानों के प्रयासों के अतिरिक्त स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत सरकार ने भी संगीत के विकास की ओर ध्यान दिया। संगीत संस्थाओं, सम्मेलनों, संगोष्ठियों के लिए अनुदान की व्यवस्था द्वारा दी गई।[11]

संस्थागत शिक्षण प्रणाली होने से संगीत शिक्षा धीरे-धीरे जनसाधारण हो गई। वर्तमान में संगीत आम विद्यार्थियों के लिए सम्मानित विषय बना गया है। संगीत की संस्थागत और सामूहिक शिक्षा के फलस्वरूप शिक्षण की मौखिक पद्धति के माध्यम से अनेकों पुस्तकों एवं ग्रंथों की रचना की गई। जिसमें गीतों की स्वरलिपि, संगीत का इतिहास, पुरानी बन्दिशें, रचनाएं जिनको पुस्तकों के माध्यम से जीवित रखकर तथा उनकी महत्ता को समझकर विद्यार्थियों को सिखाया जाता है। पुस्तकों के माध्यम से संगीत शिक्षण में शास्त्र पक्ष की स्थिति और महत्वपूर्ण हो गई तथा विद्यार्थियों को शिक्षा ठाहण करने में सुविधा होने लगी। संगीत की शिक्षा मौखिक होने के साथ उसका लिखित होना अति आवश्यक है क्योंकि विद्यार्थियों को गुरु के मौखिक ज्ञान प्रदान करने के बाद उसे स्मरण करने के लिए लिखित रखने से सुविधा होगी।

वर्तमान में संस्थागत संगीत शिक्षण प्रणाली की गति को तीव्रता प्रदान करने के लिए विद्यालयों, महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों में संगीत को ऐच्छिक विषय के रूप में रखा गया है। कहीं-कहीं संस्थाओं में संगीत को अनिवार्य विषय के रूप में भी रखा गया है, ताकि विद्यार्थी अन्य विषयों के साथ संगीत को भी सीख सके। जिन्हें संगीत में रूचि होती है वह विद्यार्थी मुख्य विषय के रूप में संगीत को लेकर अपनी शिक्षा जारी रखते हैं। संस्थाओं में अन्य विषयों के साथ संगीत की शिक्षा प्राप्त करने के लिये विद्यार्थियों को संगीत के लिये अलग से शुल्क प्रदान नहीं करना पड़ता है। ऐच्छिक विषय होने के कारण आज संगीत शिक्षा के नवीन उपक्रम, नूतन परीक्षा विधि निर्धारित

तकनीक के साधन सुलभ है।[12] संगीत शिक्षा संस्थागत होने के कारण इसका एक निश्चित पाठ्यक्रम होता है। जिसमें शास्त्रपक्ष व क्रियात्मक पक्ष दोनों होते हैं। संस्था के एक वर्ष के पाठ्यक्रम को नियमित व अनुशासित रूप से सिखाय जाता है। विद्यार्थियों की नियमित कक्षाएँ तथा उपस्थिति अनिवार्य होती है। वर्ष के अन्त में या वर्ष में दो बार परीक्षा होती है जिससे विद्यार्थियों को उनकी योग्यता के अनुसार उच्च कक्षा में जाने के लिए डिग्री प्रदान की जाती है तथा संस्थाओं से उपाधि भी प्रदान की जाती है। संगीत शिक्षण द्वारा स्मृति, कल्पना और रचना शक्ति का विकास होता है। कक्षा में गुरू जब संगीत शिक्षण प्रदान करते है तो विद्यार्थी उनका अनुकरण करते हैं, गुरू गीत या बन्दिशों की बारीकियों को तथा राग के चलन व उसमें उत्पन्न भाव को प्रत्येक शिष्य को बताते हैं। समूह में रहने के बाद भी कक्षा में प्रत्येक शिष्य के ऊपर गुरू का ध्यान होता है। संस्था में विद्यार्थी को कई गुरूओं की शिक्षा मिलती है। जिससे वह सभी घरानों की बारीकियों को तथा सभी घरानों की प्राचीन बन्दिशों को सीख पाते हैं। संस्था में कई गुरू से सीखने से विद्यार्थियों को स्वर लगाने के तरीके, अलाप, तान आदि के तरीके कई प्रकार से सीखने को मिलते है जिसके फलस्वरूप उन्हें शिक्षा ठाहण करने में सुविधा होती है। संगीत शिक्षण में विद्यार्थियों को विभिन्न भाषाओं सीखने व समझने को मिलता है। बन्दिशो व गीतों के बोल या शब्द भिन्न-भिन्न भाषाओं में होती हैं। जिससे गीत य बन्दिश सीखते समय विद्यार्थी अवधी, ब्रज, राजस्थानी आदि भाषाओं के बारे में जानकारी प्राप्त करते हैं। संगीत के संस्थागत शिक्षण प्रणाली के प्रचार में आने के समय से आज तक असंख्य विद्यार्थियों ने अपनी-अपनी रूचि एवं क्षमता के अनुसार ही संगीत शिक्षा प्राप्त कर इस विषय के प्रति समाज में एक जागरूकता एवं आदर उत्पन्न किया, आज पूरे देश में संगीत से सम्बन्धित विभिन्न क्षेत्रों जैसे शिक्षण, प्रदर्शन, लेखन, समालोचन, प्रशासन आदि सभी से संगीत संस्थाओं से शिक्षण प्राप्त अधिकांश विद्यार्थी ही उत्तरदायित्वों का सफलतापूर्वक निर्वाह कर रहे हैं। संगीत शिक्षण का एक निर्धारित क्रम अपनाने से इसमें व्याप्त अनियमितता पर अंकुश लगा।[13] संगीत शिक्षण की संस्थागत एक महत्वपूर्ण उपलब्धि यह भी है कि इसके अन्तर्गत संगीत शिक्षण की वैज्ञानिक पद्धतियों का भी विकास हुआ और क्रियात्मक के साथ-साथ शास्त्र पक्ष का सामंजस्य स्थापित हुआ। संगीत के संस्थागत शिक्षण में आपेक्षित शास्त्र पक्ष के महत्व को समझा गया तथा उसे पाठ्यक्रमों में एक निश्चित स्थान प्रदान किया गया। इसके परिणाम स्वरूप संगीत में शोध कार्य की प्रवृत्ति बढ़ी तथा इसके वैज्ञानिक पक्ष का भी अध्ययन किया जाने लगा। आज संगीत के क्षेत्र में जो भी जागरूकता देखी जा रही है वह संगीत के संस्थागत शिक्षण के प्रचार के ही परिणाम स्वरूप है।

वर्तमान संस्थागत शिक्षण व्यवस्था की सफलता मुख्य रुप से शिक्षक पर निर्भर करती है क्योंकि शिक्षक ही इस शिक्षा कार्यक्रम की मूल धूरी है। संगीत शिक्षण में अभी तक शिक्षक ही केन्द्र बिन्दु होते है, इसलिए उसका उत्तरदायित्व बढ़ जाता है। शिक्षकों के प्रशिक्षण की उचित व्यवस्था होनी चाहिए तथा समय-समय पर कार्यशाला एवं संगोष्ठी का भी आयोजन शिक्षा जगत द्वारा नितान्त आवश्यक है। वर्तमान संगीत शिक्षक को अत्यंत विषम परिस्थितियों में काम करना पड़ता है। जिससे वह अपने कार्य के साथ न्याय नहीं कर पाते परन्तु परिस्थितियों का सहारा लेकर कार्य विमुखता को ढकने का कार्य भी किया जाता है।[14]

संगीत शिक्षण के विषय में एक महत्वपूर्ण बिन्दु यह है कि आजादी के लगभग 63 साल होने के बाद भी अन्य विषयों की अपेक्षा इस पर कम ध्यान दिया गया। शायद उसके प्रचार-प्रसार में तो वृद्धि हुई परन्तु संगीत का शैक्षणिक विस्तार वैसा नहीं हो सका जैसा कि अन्य विषयों का हुआ है। आज भी संगीत शिक्षण की परम्परा सिर्फ बड़े शहरों में है। छोटे शहरों में भी संगीत की शिक्षण व्यवस्था उचित नही है। जबकि सुदूर कस्बों एवं गांवों में तो बिल्कुल नहीं है जिसका दुष्परिणाम यह होता है कि शहर से दूर की विलक्षण प्रतिभा वाले छात्र संगीत शिक्षण से वंचित ही रह जाते है या सिर्फ शहर वासियों को ही संगीत शिक्षण की सुविधा मिल पाती है। सुदूर इलाके में न तो संगीत की स्वतंत्र शिक्षण संस्थायें होती है और न ही सामान्य विषय के साथ ही इसका अध्ययन कराया जाता है। ऐसी स्थिति में प्रतिभाशाली छात्र जब उच्च शिक्षा हेतु शहर की तरफ आते है तो इन्हें संगीत शिक्षण का अवसर प्राप्त होता है और तब तक इनके सीखने की वाल्यावस्था एवं किशोरावस्था निकल चुकी होती है। फिर वो उचित मार्गदर्शन के अभाव में भटकते फिरते है।

वर्तमान में संस्थागत शिक्षण प्रणाली का सबसे बड़ा दोष यह है कि संगीत का शिक्षण समूह में देना पड़ता है जो संगीत की पारदर्शिता के लिए उचित नहीं है। समूह में प्रत्येक छात्र के स्वर स्पष्ट सुनाई नहीं देते जिससे उनकी गलतियों का पता नहीं चलता। प्रारम्भिक स्तर की कक्षाओं में संगीत शिक्षण की व्यवस्था का आज भी अभाव है जिसके लिए उचित पाठयक्रम एवं सरल राग रचना होना चाहिए। वर्तमान संस्थागत शिक्षण प्रणाली में निश्चित समय में निश्चित पाठ्यक्रम पूरा करना होता है। इसमें व्यक्तिगत रुचि, क्षमता एवं सृजन शक्ति की उपेक्षा हो जाती है अतः इस विषय पर सुधार की आवश्यकता है। शिक्षा सर्व जनसुलभ तो हो गयी परन्तु छात्र-शिक्षक का अनुपात मानक को पूरा नहीं किया जा सका है। संगीत के अनुसंधान के क्षेत्र में अभी तक बहुत कम कार्य हुआ है।[15]

डा0 तेजसिंह टाक के अनुसार जब किसी वस्तु का विस्तार बढ़ता है तो फलस्वरुप उसकी गहराई कम होती है। संगीत पर यही नियम बखूबी लागू होता है। इसके विस्तार के साथ इसके स्तर में गिरावट होती गयी जो आज भी जारी है। अतः इस क्षेत्र में पुनर्जागरण की आवश्यकता है। घरानो में हमारा संगीत आज भी सुरक्षित है ऐसा देखा गया है कि किसी संस्थान से कलाकार बहुत कम या नहीं निकले कलाकार आज भी घरानो से निकल रहे है। वहीं संगीत संस्थान एक संगीत समीक्षक, शास्त्रज्ञ, अध्यापक, का निर्माण कर रहे है। संस्थानों पर यह आरोप लग रहा है कि संस्थान कलाकार नही दे रहे। परन्तु दूसरे पहलु से देखे तो संस्थान से डिठी हासिल कर आज संगीतज्ञ रोजगार पाने में सफल हो रहे है संस्थान के प्राध्यापकों का कहना है कि छात्र संख्या कम हो तथा पाठ्यक्रम का बंधन न हो तो हम कलाकार तैयार कर सकते है। कुछ हद तक शिक्षको का भी कहना सही प्रतीत होता है।

यदि हम निष्कर्ष के रुप में देखे तो संगीत शिक्षा के क्षेत्र में विस्तार तो हुआ है परन्तु इसके प्राचीन परम्परा में गिरावट आ गयी है। वर्तमान काल

की परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुरुप अब एक ऐसे सुसंगठित पद्धति की आवश्यकता है जो गुरुकुल और घराने की विशेषताओं पर आधारित हो साथ ही संगीत के नये विकास एवं आवश्यकता को खुद में समेटती हो जिसमें नये प्रयोग भी किये जा सके और शास्त्रीय परम्परा की लुप्त विधाओं की पुर्नरचना को प्रोत्साहित करे।[16]

सन्दर्भ सूची-

1. डा0 आसित कुमार बनर्जी, हिन्दुस्तानी संगीत : परिवर्तनशीलता, शारदा पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1992, पृ0सं0 122
2. डा0 तेजसिंह टाक, नेट संगीत, बेकराँ आलमी फाउण्डेशन अलीगंज, लखनऊ, प्रथम संस्करण 2010, पृ0सं0 1
3. डा0 स्वतंत्र शर्मा, भारतीय संगीत एक ऐतिहासिक विश्लेषण, टी0एन0 भार्गव एण्ड सन्स, न्यू कटरा इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1995, पृ0सं0 IV
4. सुभद्रा चौधरी, संगीत संचयन, कृष्णा ब्रदर्स महात्मा गांधी मार्ग, अजमेर 305001, प्रथम संस्करण 1989, पृ0 सं0 16
5. डा0 तेजसिंह टाक, नेट संगीत, बेकराँ आलमी फाउण्डेशन अलीगंज, लखनऊ, प्रथम संस्करण 2010, पृ0सं0 88
6. सुभद्रा चौधरी, संगीत संचयन, कृष्णा ब्रदर्स महात्मा गांधी मार्ग, अजमेर 305001, प्रथम संस्करण 1989, पृ0 सं0 16
7. डा0 तेजसिंह टाक, नेट संगीत, बेकराँ आलमी फाउण्डेशन अलीगंज, लखनऊ, प्रथम संस्करण 2010, पृ0सं0 84
8. सुभद्रा चौधरी, संगीत संचयन, कृष्णा ब्रदर्स महात्मा गांधी मार्ग, अजमेर 305001, प्रथम संस्करण 1989, पृ0 सं0 16
9. डा0 सुरेश गोपाल श्रीखण्डे, हिन्दुस्तानी शास्त्रीय गायन की शिक्षा प्रणाली, अभिषेक पब्लिकेशन्स चण्ढीगढ़ 17, 1993, प्रथम संस्करण, पृ0 सं0 153
10. डा0 भावना रानी, शास्त्रीय संगीत की लोकप्रियता में सांगीतिक संस्थाओं का महत्व, संजय प्रकाशन दिल्ली-110002, प्रथम संस्करण 2008, पृ0स0 20
11. डा0 स्वतंत्र शर्मा, सौन्दय रस संगीत, प्रतिभा प्रकाशन शक्ति नगर दिल्ली-110007, प्रथम संस्करण 2005, पृ0सं0 320
12. डा0 भावना रानी, शास्त्रीय संगीत की लोकप्रियता में सांगीतिक संस्थाओं का महत्व, संजय प्रकाशन दिल्ली-110002, प्रथम संस्करण 2008, पृ0स0 36
13. डा0 भावना रानी, शास्त्रीय संगीत की लोकप्रियता में सांगीतिक संस्थाओं का महत्व, संजय प्रकाशन दिल्ली-110002, प्रथम संस्करण 2008, पृ0स0 112
14. सुभद्रा चौधरी, संगीत संचयन, कृष्णा ब्रदर्स महात्मा गांधी मार्ग, अजमेर 305001, प्रथम संस्करण 1989, पृ0 सं0 18
15. सुभद्रा चौधरी, संगीत संचयन, कृष्णा ब्रदर्स महात्मा गांधी मार्ग, अजमेर 305001, प्रथम संस्करण 1989, पृ0 सं0 19
16. सुभद्रा चौधरी, संगीत संचयन, कृष्णा ब्रदर्स महात्मा गांधी मार्ग, अजमेर 305001, प्रथम संस्करण 1989, पृ0 सं026

●

भारत के बहुप्रतिष्ठित वाग्गेयकार पं0 रामाश्रय झा ''रामरंग''

प्रिया पाण्डेय एवं डॉ0 के. ए. चंचल***

भारतीय चिन्तन के अनुसार हमारे भारत में चौसठ कलाएं मानी गई हैं। सभी कलाओं में ललित कला विशिष्ट स्थान रखती है सभी कलाएं ललित कला नहीं हो सकती है। ललित कलाओं में संगीत सर्वश्रेष्ठ माना गया है। संगीत स्वयं रसमय है तथा परमानुभूति रस की चरम सीमा है। संगीत के प्रति श्रद्धा एवं भक्तिपूर्ण साधना सिद्ध गुरू के आशीर्वाद द्वारा स्वप्रयास से ही धीरे-धीरे रसानुभूति परिपक्व होती है और अन्त में परमानुभूति की प्राप्ति होती है।

संगीत के दो मुख्य उद्देश्य होते है- पहला जनरूचि के आधार पर मनोरंजन करने वाला तथा दूसरा अदृश्य फल देने वाला। धर्म, अध्यात्म आत्मिक विकास वाला जन्म से ही समस्त प्राणियों में कुछ विशिष्ट प्रकार की मूल प्रवित्तियाँ होती है जिसके अधीन होकर वे अपना कार्य करते हैं। मनुष्य की इन मूल प्रवृत्तियों में परिर्वतन लाने में सहायक वस्तु शिक्षा ही है। ''शिक्षा ही मानव की सर्वांगीण उन्नति का एक ऐसा आधार है जो उसके व्यक्तिव के विकास का कारण बनती है, सामान्य शिक्षा मानसिक विकास की दृष्टि से तथा ललित कलाओं की शिक्षा मानसिक एवं आत्मिक शक्तियों के परिकार की दृष्टि से मत्त्वपूर्ण हैं, इन दोनों प्रकार की शिक्षाओं से ही मानव चिन्तन तर्क तथा समस्याओं के समाधान करने की कुशलता से सम्पन्न होने पर ही जीवन दृष्टि व जीवन मूल्यें के गहनतम आदर्शों से परिचित होकर अपने व समाज के लिए एक उपयोगी इकाई सिद्ध होता है।

भारतीय संगीत विश्व में अद्वितीय है और प्राचीन परम्परा का साक्षात् उदाहरण भी। कई शताब्दी से हमारी इस संगीत कला को महान् संगीतज्ञों ने अपनी प्रतिमा सृजनात्मक क्षमता, कठोर, संगीत साधना एवं निष्ठा से समृद्धशाली बनाया है शास्त्रीय संगीत के ऐसे ही गौरव पुरूषों में पं0 रामाश्रय झा ''रामरंग'' जी गणना की जाती है।

''हमारे यहाँ प्रायः देखा गया है कि जब तक एक महान हस्ती हमारे बीच रहती है, हम उसकी कद्र नहीं करते गालिब की महानता का अहसास उनके दुनिया से चले जाने के बाद ही हुआ और फिर इतना हुआ कि आज उर्दू शायरी के जगत् में गालिब छाये हुए है। इसी प्रकार एक अन्य वान गॉग की कृतियों का सही मूल्यांकन भी उनके मरणो परान्त ही हुआ।

इसी क्रम में हम पं0 रामाश्रय झा 'रामरंग' जी की चर्चा करेंगे।

हिन्दी में एक कहावत प्रचलित है ''पूत के पाँव पालने में ही दिखाई देते है।'' अर्थात बालक भविष्य में किस मार्ग को अपनायेगा यह उसके जीवन की प्रारम्भिक अवस्था से दिखाई पड़ने लगता है पं0 जी के साथ भी यही हुआ। पं0 जी तीक्ष्ण बुद्धि, शीघ्र ग्रहण करने की शक्ति एवं अत्यन्त प्रशंसनीयस्मरण शक्ति के कारण गुरू से मिले गुणों ने ही पं0 जी को भविष्य में संगीतकार और उसके उपरान्त विशिष्ट वाग्गेयकार के रूप में प्रतिष्ठि करने महत्वपूर्ण योगदान दिया।

वाग्गेयकार- ''वाक्-गेय-कार इन तीन रूपों के सामंजस्य से वाग्गेयकार दिग्दर्शित होता है। वाक्' का अर्थ वाणी, सरस्वती, बोलने की इन्द्रिय शब्द, वाक्य, कथन बोलना आदि अर्थों के संदर्भ में लिया जा सकता है, और गेय का अर्थ है हिन्दी सम्बन्धित शब्दकोषों में गेय के स्थान पर गीत अथवा गान के रूप में मिलता है अतएव गेय के अर्थ में गाये की क्रिया, गाने की चीज वह वाक्य पद या छंद जो गाया जाय,गाया जाने वाला काव्य ताल शब्द के नियमों के साथ शब्दोच्चार करना, मधुर ध्वनि का वर्णन करना, प्रशंसा करना आदि भाव लिए जा सकते हैं। अंत में कार शब्द कर्ता का अर्थ प्रकट करना है।''

इस सन्दर्भ में पं0 शारंगदेव ने स्ववर्णित ठांथ संगीत रत्नाकर में उल्लिखित क्रिया है

''स्वरदेह के शब्ददेह रचना की दोहरी क्षमता जिसमें हो उसे शास्त्रकारों ने वाग्गेयकार कहा है। यथाः

''वाचंगेय च कुरूते यः स वाग्गेयकारक'' अर्थात वाक् काव्य जो गायको में प्रसिद्ध है वह मातु कहलाता है तथा गाने योग्य जो गेय भाग रहता है वह धातु कहलाता है इन दोनों को जो क्रिया रूप देता है, वह वाग्गेयकार कहलाता है।

''अर्थात गीत के 'वाक्' अंश को 'मातु' और गये अंश को धातु कहते हैं। जो वाक् और गेय दोनों की रचना करता है वह वाग्गेयकार कहलाता है।

और उसे गुणी, कलावंत, गंधर्व एवं पंडित इन सभी से श्रेष्ठ माना गया है पार्श्वदेव कृत संगीत समयसार में वाग्गेयकार को राजा के सर्वाधिक निकट बैठने वाले कलविधों में शामिल किया है।

वाग्गेयकार कविता कार 'ये' नर्तकादयः

लक्ष्यलक्षणदक्षाश्च संगीताङगविचक्षण।

वामभागे महीपस्य स्यातेषा मुववेशनम।

''संगीत समयसार'' में वाग्गेयकार के गुणों के विषय मं विस्तृत चर्चा मिलती है।

---

* शोध छात्रा, गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

** असिस्टेन्ट प्रोफेसर, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

शब्दशास्त्रपरिज्ञानं छन्दोविचितिनैपुणम् ।
अभिधानेषु दक्षत्व कलास्वपित च कौशलम् ।
सप्तगीत प्रवीणत्वं चातुर्य्य रसभावयोः।।
अलंङ्कारेषु चातुर्य्य सुतालत्व सुरागता
सुस्वरत्वं सुगेयत्व देशिरागेष्त भिजता।।
देशभाषापरिख्तानं प्रभुचिन्त्रानुवर्तनम् ।
गृन्ते वाद्ये प्रवीणत्वं तथेवास्थनशूरता।
प्रतिभानं वचस्वित्वं सभ्यचिन्तानुञ्नम् ।
अनिबद्ध स्वरजांन चतुर्धातुषु पारवम् ।।
सर्वप्रबन्धबोधश्च मुक्तिकाले प्रदक्षता।
त्रिस्थानव्याप्ति सुभगः प्रयोगः को पर्वर्जनम् ।।
आदिष्टर्थास्य निर्वाहः साश्चर्य्यकविता तथा।
यथोचितपद्न्यासाः प्रागल्भयं वश्यवर्णता।।
सावधनत्व में काङ्गप्रौठिर्वकते प्रसन्नता।
एते बाग्वोकारस्य गुणांस्साद्धिरूदाहृताः।।

अर्थात शब्दशास्त्र का सम्यक् ज्ञान, छन्दों में निपुणता, कोषों में दक्षता,(अमरकोष और विभिन्न प्रकार के कोष), कलाओं में कुशलता (गीतवादा, नृत्य, साहित्य कविता तथा अन्य ललित कलाएं) सप्तगीतों में प्रवीणता (मद्रक, परान्तक, प्रकरी, अनिणक, उल्लेख बिन्दक तथा उत्तर) रसभावों में चातुर्थ (भाषा सम्बन्धी और स्वर सम्बन्धी), अलंकारों मे नेपुण्य और ताल पर पूर्ण अधिकार, सुस्वरत्व सुगेयत्व देशी रागों में अभिज्ञता, देशभाषाओं का परिज्ञान, के चरित्र का अनुवर्तन, अनिबद्ध ज्ञान के स्वरों का ज्ञान चारों धातुओं में पटुता (प्रबन्ध के धातु उदग्राह, ध्रुव, मेलापक, आभोग) समस्त प्रबन्धों का बोध (सूड, विप्रकीर्ण, आलिक्रम) न्यास के दक्षता, तीनों स्थानों की व्यप्ति में सुभग प्रयोग, (मन्द्र, मध्यमतथा तार), कोपहीनता आदिष्ट का निर्वाह, आश्चर्यजनक कविता, यथोचित पदविन्यास, प्रगल्भता वर्णों पर अधिकार स्थाई, आरोही, अवरोही, संचारी) सावधानता, एकांगप्रेढ़ि, मुख पर प्रसन्नता आदि।

पार्श्वदेव ने वाग्गेयकारों के तीन वर्गों का उल्लेख किया है तथा इन तीनों को तीन उपवर्गों में भी बाँटा है। जो प्रबन्ध प्रगल्भता पर आधारित है।

1- उत्तम- उत्तमोत्तम, उत्तम मध्यम, उत्तमाध्यम।

2- मध्यम-मध्यमोत्तम, मध्यमध्यम, मध्यमाधम।

3- जघन्य-जघन्योत्तम, जघन्यमध्यम, जघन्याधम।

इसके अतिरिक्त भी वाग्गेयकारों के तीन सामान्य वर्ग इस ग्रंथ में बताए गये है जो इस प्रकार है-

उत्तम वाग्गेवकार- जो स्वर रचना और पदरचना दोनों में दक्ष हो

मध्यम वाग्गेवकार- जो केवल स्वर रचना में सक्षम हो।

अधम वाग्गेयकार- जो केवल पद रचना का निर्वाह कर सके।

अतः उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि सामान्य संगीतज्ञ और वाग्गेयकार दोनों में योग्यता की दृष्टि से बहुत कम अन्तर होता है। और यह भी आवश्यक नहीं है कि एक अच्छा गायक संगीत रचनायें भी कर सके। संगीत रचनाएं करने के लिए जो मापदंड अथवा योग्यताएं उक्त ठांथ में बताए गये है इनके परिचायन से उच्च कोटि की संगीत रचनाएं सहज ही संगीत जगत को प्राप्त हो सकती है। संगीत रत्नाकर में वाग्गेयकार के तीन वर्गों का उल्लेख किया है 1- उत्तम वाग्गेयकार 2- वाग्गेयकार 3- अधम वाग्गेयकार।

उत्तम वाग्गेयकार के जो लक्षण आचार्य शारंगदेव ने निर्दिष्ट किये है। वे इस प्रकार है।

''शब्दानुशासन ज्ञान मभिधान प्रवीणत।
छन्दः प्रभेदवेदित्वमलंकारेषु कौशलम् ।।
रसभाव परिज्ञानं देशस्थिति चातुरी।
अवशेषभाषा विज्ञान कलाशास्त्रेषु कौशलम् ।।
तौर्यत्रितययातुर्य हृद्यशारीरशालिता।
लयतालकलाज्ञानं विवेकोऽनेरूकाकुषु
प्रभूतप्रतिभोद्भेदभाक्त्वं सुभगगेयता
देशीरागेष्वाभिज्ञानं वाक्पदुत्वं सभाजये
रोषद्वेषपरित्यागः सार्द्रत्वमुचितज्ञता
अनुच्छिष्टेक्ति निबन्धों नूत्र धातुविनिर्मितः
परिचित्तपरिज्ञानं प्रबन्धेषु प्रगल्भता
त्रिस्थानगमक प्रोढ़िर्विविधानप्तिनेपुणम् ।
अवधानंगुणैरेभिर्वरो वाग्गेकारकः
विदधानोअधिकं धातुं मातुमन्दस्तु मध्यमः।
धतुमातुविदप्रौढ़ः प्रबन्धष्वापि मध्यमः
रम्थमातुविनिर्माताप्यधमो मन्दधातुकृत
वरो वस्तुकविर्वर्णकविर्मध्यम उच्चयते
कुद्दिकारोडन्यधातौ तु मातुकारः प्रकीर्तितः।

उत्तम वाग्गेयकार के लिए बताए गये निम्नलिखित लगभग सभी गुण पं0 रामरंग में दृष्टिगोचर होते हैं अतः इनमें कुछ मुख्य गुणों में उदारता प्रस्तुत कर इन गुणों को सुस्पष्ट स्वरूप देने की कोशिश कर रही हूँ।

1- शब्दानुशासनज्ञानम- वाग्गेयकार शब्द में वाक् अर्थात शब्द रचना को सर्वप्रथम महत्व दिया गया है। अर्थात् व्याकरण हीन व्यक्ति सफल शब्दकार नही बन सकता उचित शब्द का उचित स्थान पर प्रयोग हो तथा सन्धि समास, आदि का ध्यान रखते हुए शब्द को कहाँ और कैसे प्रयोग करना है उसे व्याकरण का उचित ज्ञान रखने वाला व्यक्ति ही समझ सकता है। पं0 रामरंग जी द्वारा रचित एक रचना दृष्टिगोचर है- राग श्याम कल्याण- तीनताल अभिनव गीतांजलि भाग-1

स्थाई- खेलत आंगना नन्दलाल, चंचल चपल चरणा परे बेहाल हो ललना।

अन्तरा-यशुदानंद आनंद सिंधु,नित नित बिहरे हियरे 'रामरंग' निरखि नेहाल हो ललना।।

उपर्युक्त रचना में भगवान श्री कृष्ण के बाल रूप का वर्णन बहुत ही सुन्दर शब्दों का समायोजन कर बड़ी ही सुन्दरता के साथ राग के स्वरों व ताल मे निबद्ध किया गया है।

राग देवगिरि विलावल- त्रिपाल, (मध्यलय)

स्थाई- कौन तुम्हारे लागत कुंवर साँवरे गोरे

अन्तरा-सकुचि सुनाय सिय, देवर गोरे मोरे, रामरंग सैया साँवरे।।

देवगिरि बिलावल की इस रचना में सखियां सीता से राम और लक्ष्मण के बीच में प्रश्न करती है और माता सीता बहुत ही सुन्दर ढंग से उन्हें उत्तरित करती है शब्दों का समायोजन गाने अथवा सुनने वालों को अनाकृष्ट ही आकर्षित ही आकर्षित करता है।

2- अभिधान प्रवीणता- अमर कोशादि में प्रवीणता। अमरकोश एक वृहद् ठांथ है जिसमें सभी शब्दों के अर्थ और उनके पर्यायवाची शब्द दिये गये हैं। शब्द के अनेक पर्यायवाची शबद ज्ञान होने पर उनके अर्थ के अनुसार उनका यथास्थान प्रयोग किया जा सकता है। यथा संस्कृत साहित्य में आँख के लिए कई शब्द है यथा नयनम, नेत्रम् , चक्षु आदि इसी प्रकार प्रस्तुत रचना में पं0 जी का प्रयोग दृष्टव्य है

राग बिलासखानी तोड़ी-त्रिताल (मध्यलय)

स्थाई- जगदम्बिका अम्बिका, मर्दनी अम्ब शुम्भ निशुम्भ गले मुण्ड मालिका।

अन्तरा-दुर्गे भवानी दानी दयानी, सुर नर कीन्हें अभय 'रामरंग' तेरो ही नाम कालिका।

प्रस्तुत रचना में माँ दुर्गा को विभिन्न नामों से सम्बोधित करते हुए उनकी आराधना की गई है।

3- छन्दः प्रभेदवेदित्वम् एवं

4- अलंकारेषु कौशलभ -नमामि, गजानन, विघन हरण रिधि-सिधि **सुमिरत नाम पूरत काम, 'रामरंग' गन नायक दायक विद्या वाणी के॥**

गुर्जरी तोड़ी - डमरू बाजे डिमिक-डिमिक, निरतत हर उमगि उमागि,

गौरी संग राजे अन्तरा-सीस जरा जूट किये, मुन्डन माल दिये,

रामरंग त्रिलोचन त्रिलोक छवि बिराजे॥

राग पूरिया कल्याण की इस रचना में यमक, श्लेष तथा उषमा अलंकार का प्रयोग अत्यन्त सुन्दरता से दृष्टव्य होता है।

5- रस भावपरिज्ञानम्- रस (श्रृंगारहि) भाव का ज्ञान होना वाग्गेयकार के लिए अत्यन्त आवश्यक है साहित्य में नव रस माने गये हैं किन्तु संगीत में श्रृंगार, वीर, करूण, शान्त तथा अद्भुत पाँच रसों में ही नव रसों का समावेश माना गया है।

पं0 'रामरंग' जी द्वारा चरित अधिकांश रचनाएं 'भक्तिरस' में सराबोर हैं उदा0-

1- देवगिरि बिलावल-तीन ताल

स्थाई-देवन देव महादेव, त्रिशूल, खप्पर डमरू आदि।

बैल ललाट चंद्रमा,विभूति दिये॥[3]

2- बिलासखानी तोड़ी-

3- गुर्जरी तोड़ी-

स्थाई-हरि को नाम सुमिर मन मूरख बेड़ा लागे तेरा पार

नहिं जग में तिहारो 'रामरंग' जासो होवे निस्तार॥[4]

श्रृंगार रस-इस रस के संयोग व वियोग दोनों पक्षों में उन्हें महारत हासिल थी- मारू बिहाग-

संयोग-स्थाई-मंगलवा गावो गावो री सलोने साजन आज आये

अन्तरा-बन्दर वार बन्धावो रामरंग सजावों आंगन द्वारे

वियोग-स्थाई मन लै गयों रे सांवरा, सखी री मोरा लागे कैसे जियरा,

अन्तरा-दै गयो पीर धीर लै गया री नीर बहे नैना लागे दुख दैना, रामरंग जब सुध आवे हियरा।

राग गुर्जरी तोड़ी-

स्थाई-माने न मोरा, जिया उन बिन, कैसे समझाऊ समझत नाहीं

अन्तरा-बहुत दिन बीते नहिं आये, रामरंग, पिया घर, नैना नीर बरसाये।।

6- **देशस्थितिज्ञान-** पं0 रामश्रय झा जी ने भारत ही नही अपितु अनेक देशों की भूमि को अपने गायन से सराबोर किया उन्हें भिन्न-भिन्न देशों की संस्कृति को जानने में बहुत ही रूचि थी।

7- **अवशेष भाषा ज्ञान् -** पं0 जी विविध भाषाओं, हिन्दी, संस्कृत बृज, अवधी मैथिल तथा मराठी के ज्ञाता थे तथा इन सभी भाषाओं में रचना भी कीं।

8- **कलाशास्त्रकौशल-** पं0 जी वाग्गेयकार की उपाधि से इसी गुण के कारण विभूषित किये गये।

9- **तौर्य त्रियक चातुर्य-** गायन तथा वादन दोनो में ही उनकी चातुर्यता विद्यमान थी।

10- **हृदय शरीर शासिता-** वो रियाज़ तो स्वरों का करते थे किन्तु किसी भी राग की प्रस्तुति में दक्ष थे।

11- **लयताल कलाज्ञानम् -** अभिनव गीतांजलि के रूप में उनमें विराजित इन सभी कलाओं के दर्शन होते हैं।

12- **काकुओं का विवेक अर्थात उनके यथास्थान प्रयोग की क्षमता-** पं0 जी इस कार्य में अति दक्ष थे उनके गाने में इस कुशलता का परिचय भली प्रकार मिलता है।

13- **प्रभूत प्रति भोद्वेदभाक्तवं-** उनके गायन में नीरसता नहीं थी अपितु नित नये निर्माण व एक नया ढंग ही सुनाई देता।

14- **सुभगगेयता-** पं0 रामरंग जी मोहक व सुखदायक गायन में पारंगत थे।

15- **देशी रागज्ञान-**देशी रागों का ज्ञान भली प्रकार था।

16- **वाक्पटुता-** अपने इसी गुण के कारण वह इलाहाबाद विश्वविद्यालय के संगीत एवं ललित कला विभाग के अध्यक्ष पद् के कार्यभार का सफलता पूर्वक निर्वाह कर सके एवं एक सफल आयोजक भी थे। स्वयं की हार उन्हें मंजूर न थी।

17- **रागद्वेष परित्याग की भावना-** उन्हें रागों का विस्तृत ज्ञान था तथा रागों को द्वेष रहित गाना ही पसन्द था।

18- **सार्द्रत्व, अचितज्ञता-** उनके गायन में सरसला थी वह ज्ञान का भंडार थे।

19- **अनुच्दिरोक्ति निर्बन्ध-** उन्हें स्वतंत्र रचना करना अत्यधिक प्रिय था।

20- **नूतनधातु विनिर्मितिज्ञान एवं परिचिन्त परिज्ञान-**नवीन स्वर रचना करने में अति दक्ष थे तथा सामने वाला क्या सुनना चाहता है यह भांपना भी उन्हें भलि प्रकार आता था।

21- **प्रबन्ध प्रगन्भता-**प्रबन्धों का भलि प्रकार ज्ञान था।

22- **द्रुतगीत विनिर्माण-**शीघ्र गीत रचना करने मे प्रवीण थे।

23- भिन्न-भिन्न प्रकार के गीतों की छायाओं का अनुकरण करने की भी अद्भुत शक्ति थी।

24- तीनों स्थानों में गमक लेने में प्रवीण थे।

25- रागालप्ति और रूपकालप्ति इन दोनों प्रकार के गायन में दक्ष कलाकार थे।

26- **अवधान-** चित्त में एकाग्रचित व्यक्तित्व थे।

अतः ये सभी कुछ मुख्य गुण वाग्गेयकार के है जो सब पं0 जी में विराजमान थे अतः संगीत जगत में उच्च कोटि के वाग्गेयकारों में उनका आज भी नाम बड़े ही आदर के साथ लिया जाता है। वाग्गीकार के इन गुणों के कारण ही उन्हें राग ऋषि सम्मान से विभूषित किया गया।

सन्दर्भ सूची-

1. भैरवी, संगीत शोध पत्रिका अंक 7, 2013 पृष्ठ संख्या-55
2. उपरिवत्
3. श्रीमती नुपुर चाय चौधरी- बींसवी शताब्दी के महान संगीतरा पं0 दिलीपचन्द्रबेदी- कनिष्क पब्लिशर्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2002, पृ0 संख्या-5
4. शैलेन्द्र, कुमार गोस्वामी-हिन्दुस्तानी संगीत के महान रचनाकार सदारंग अदारंग, कानिष्क प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2001 पृष्ठ संख्या-46
5. पं0 शारंगदेव-संगीतरत्नाकर,पृष्ठ संख्या-98
6. पार्श्वदेव-संगीत समयसार, श्लोक संख्या 37 पृष्ठ संख्या 229
7. उपरिवत्, श्लोक संख्या- 44-50 पृ0 231, 232
8. पं0 शारंगदेव-संगीत रत्नाकर,प्रकीर्णाध्याय पृ0 150
9. पं0 रामाश्रय झा-अभिनव गीतांजली भाग-1 पृ0 सं0-16
10. उपखित्, पृ0सं0 80
11. उपरिवत्, पृ0सं0154
12. उपरिवत्, पृ0सं0172
13. उपरिवत्, पृ0सं0-79
14. उपरिवत्, पृ0सं0-165
15. उपरिवत्, पृ0सं0-188

●

भारतीय संगीत में दार्शनिक एवं आध्यात्मिक पक्ष

डॉ0 ज्ञानेश चन्द्र पाण्डेय एवं प्रमोद कुमार तिवारी***

''भारत में षट्दर्शनों के समान ही संगीतशास्त्र भी ब्रह्म-संबंधी चिंतन का विषय रहा है। संगीत के माध्यम से मानव जीवन को अध्यात्म के रंग में पूरी तरह रंगने का प्रयत्न किया गया है। भारत धर्म प्रधान देश है। भारतीय विचारधारा सदा से आदर्श की भावभूमि पर प्रवाहित होती रही है। भारतीय ऋषियों, मनीषियों ने सृष्टि की उत्पत्ति नाद-ब्रह्म से मानी है। नाद-ब्रह्म ओंकार वाचक है और इसी नाद ब्रह्म से संगीत की भी उत्पत्ति मानी गई है। ब्रह्माण्ड की प्रत्येक चराचर वस्तु में नाद व्याप्त है। अतः इस नाद को 'नाद-ब्रह्म' की संज्ञा दी गई है।''[1] ''अध्यात्म की पृष्ठभूमि बुद्धि और चिन्तन पर प्रतिष्ठित है इसलिए उसका दर्शन से घनिष्ठ संबंध है। दार्शनिक चिन्तन का भी अन्तिम लक्ष्य ''आत्मानम् विधिः'' अर्थात् आत्मा, ब्रह्म, जीव और जगत तथा जीवन का पुरुषार्थ क्या है? उसकी साधक पद्धतियाँ क्या हैं तथा अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति का अर्थ क्या है? ये सभी दर्शन के प्रमुख विषय हैं। इन विषयों की छान-बीन के लिए आत्मा की शुद्धि, आत्मदर्शन, आत्मानुभूति का अभ्यास, साधना, चिंतन, मनन आदि ही अध्यात्म के क्षेत्र हैं। अध्यात्म का क्षेत्र इतना विस्तृत है कि यदि यह कहा जाए कि आत्मा-परमात्मा से संबंधित जो कुछ भी ज्ञान का विषय है सभी अध्यात्म में समाविष्ट है तो असंगत न होगा। इस दृष्टि से वेद, उपनिषद, पुराण आदि सभी अध्यात्म की सीमा रेखा में आ जाते हैं। स्वतः उनमें किया गया नाद संबंधी विवेचन भी अध्यात्म का ही अंग बन जाता है। अध्यात्मवाद एक प्रकार के विश्वास के प्रति आस्था है जो आत्मा की पृथक् सत्ता स्वीकार करता है और जीवित मानव को अपने माध्यम से प्रभावित व संचालित करता है।''[2]

''ऐतिहासिक दृष्टि से, वैदिक तथा प्राग्वैदिककाल से, भारतीय संगीत (संगीत तथा निर्गीत) का मुख्य ध्येय ईश्वरोपासना रहा है। यह तथ्य वेदों, विशेष कर सामवेद, वेदों से सम्बन्धित ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक ग्रन्थ, सूत्रों, संहिताओं और उपनिषदों विशिष्ट रूप से 'छान्दोग्य उपनिषद्' से सिद्ध होता है। सामगान में ओंकार की महिमा को सर्वश्रेष्ठ मानकर उसे ही ब्रह्म माना जाता है। अतः नादयोग द्वारा आत्मदर्शन का संकेत मिलता है।

तत्पश्चात्, संगीत के लौकिक और गन्धर्व भेद माने जाने पर भी सब प्रकार के संगीत को गान्धर्व वेद कहा गया और मुख्य लक्ष्य अध्यात्म साधन रहा। इसका दिग्दर्शन सर्व प्रथम याज्ञवल्क्य ऋषि ने तत्त्वार्थ विचार से किया और नारदीय शिक्षा में भी इसको महत्त्व प्रदान किया गया।

आचार्य भरत ने संगीत का विस्तृत विवेचन कर, संगीत के विभिन्न प्रकारों को विविध अवसरों पर प्रदर्शन के उपयुक्त मानकर भी, उच्चकोटि के संगीत को ईश्वरोपासना के योग्य माना।

वाल्मीकि रामायण, भागवत पुराण, हरिवंश पुराण आदि ठांथ बौद्ध तथा जैन ग्रंथों के अनुसार भी उच्चतम संगीत ईश्वरोपासना का साधन ही रहा।

जयदेव, विद्यापति, नामदेव, चैतन्य महाप्रभु, तुलसीदास, कबीर, मीराबाई आदि अनेक शास्त्रीय संगीत के दक्ष भक्त वाग्येयकारों द्वारा कीर्तन और भजन का रूप लेकर भी, संगीत अध्यात्म साधना तथा आत्मदर्शन का मार्ग बनकर भारत के कोने-कोने में फूला-फला और फैला।

तत्पश्चात् शास्त्रीय संगीत, भगवत प्राप्ति का मुख्य ध्येय बनकर उच्चकोटि के संगीत शिरोमणि कृष्ण भक्त स्वामी हरिदास तथा सूरदास आदि अष्टछाप एवं अन्य भक्त वाग्येयकारों द्वारा वृन्दावन में पूर्णरूप हो गया।

दक्षिण भारत में पुरन्दर दास, त्यागराज आदि जैसे महान शास्त्रीय संगीतज्ञाता भक्त वाग्येयकारों के द्वारा संगीत आत्मदर्शन का महान साधन बना। अन्य वरिष्ठ संगीत वाग्गेयकारों के अतिरिक्त लखनऊ के निकट दरियाबाद के राजा रायराजेश्वर वर्ला तथा पं0 विष्णु दिगम्बर के सतत् प्रयासों द्वारा आज भी संगीत ईश्वरोपासना का साधन भी माना जाता है।

जर्मन दार्शनिक कान्ट के अनुसार ज्ञान दो प्रकार का होता है। स्वाभाविक तथा लौकिक संगीत का स्वाभाविक ज्ञान मनुष्य को नाद, बिन्दु शक्ति के अनुभव से हुआ। इसका लौकिक ज्ञान प्रकृति, पशु-पक्षियों की ध्वनि तथा आचरण एवं नवजात शिशु के रुदन में प्रयुक्त भाव प्रधान नाद श्रुति स्वर लय आदि ध्वनि प्रकारों से हुआ। ऐसा कहा जा सकता है।''[3]

''ध्वनि के नियमित लयबद्ध कम्पन से कम्पन के आन्दोलन के मापदण्ड से नाद से श्रुति के ज्ञान से योगी प्राणायाम, मन्त्रोच्चारण तथा अन्य यौगिक क्रियाओं के द्वारा शुद्ध ब्रह्म 'नाद ब्रह्म' की उपासना करता है। अतः अवश्य ही यह सम्भावना है कि आहत नाद से उत्पादित वाह्य संगीत के स्वर, लय, शुद्ध राग, आलाप आदि का प्रभाव मनुष्य के स्वयंशासित मज्जा ज्ञानतंतगतकाय व्यूह पर तथा आध्यात्मिक साधनाओं के दशाओं में रसानुभूति से होता है। इन अवस्थाओं में योगी द्वारा अलौकिक संगीत का सृजन भी वाह्य जगत में व्याप्त होता प्रतीत है। अतः नाद योगी, तथा अन्य योगी के लिए कल्पना शक्ति विचार शक्ति नादश्रुति जप लय शब्दमंत्रशक्ति आदि बिन्दु रूप से पूर्ण ब्रह्म है। देवी राम कृष्ण आदि उसी ब्रह्म के साकार स्वरूप हैं दृष्टि श्रवण तथा अनुभव से प्राप्त होकर।

---

* असिस्टेंट प्रोफेसर, गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

** शोध छात्र, गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

प्राकृतिक तथा अलौकिक विभूतियों से सम्पूर्ण जगत सृष्टि का नाम ब्रह्माण्ड हैं। ब्रह्माण्ड में व्याप्त शून्य रिक्त स्थान जो अलौकिक विभूतियों से परिपूर्ण हैं तथा लौकिक वातावरण को घेरे हैं वह आकाश है।

ध्वनि ब्रह्माण्ड तथा आकाश सब स्थानों पर व्याप्त है। वायु तथा लौकिक वातावरण केवल पृथ्वी की सीमा तक पाया जाता है। इसके अनुसार ध्वनि जो लौकिक दृष्टि से बिना वायु के संभव नहीं केवल पृथ्वी के वातावरण तक सीमित है। यदि ऐसा है तो प्राणियों की तरह ध्वनि से प्राप्त संगीत भी क्षणभंगुर है। अतः केवल गेय है, साधना के योग्य नहीं। यदि ऐसा नहीं है तो वायुमण्डल से परे भी ध्वनि है, जिसके कंपन के लिए वायुमंडल की आवश्यकता नहीं है। यही ध्वनि अनाहत नाद है। अनाहत नाद वायु मण्डल के अतिरिक्त ब्रह्माण्ड में, आकाश में, सम्पूर्ण लौकिक तथा अलौकिक जगत में व्याप्त है, एक गूँज ऊँ की तरह। यह अनाहत नाद अथवा ध्वनि शुद्ध शक्ति मनुष्य के शरीर रूपी घट के भीतर भी है। यह गूँज एकाग्रचित्त होने पर शरीर के चक्रों से कभी-कभी सुनाई दे जाती है। जो परमानन्द प्रदान करती है। ऐसी गूँज की उत्पत्ति न तो उत्पादक द्रव्य पर प्रहार और न ही किसी माध्यम की सहायता से प्राप्त होती है, अतः यह भौतिक ध्वनि नहीं है। श्रवणेन्द्रियाँ मनस् में ध्वनि पहुँचाती हैं। इसकी वे माध्यम हैं, साधारणतया श्रवणेन्द्रियाँ तथा नेत्रादि को सुनने और देखने की शक्तियों की सीमाएँ निर्धारित हैं वे कुछ ही स्थूल कम्पन को सुन और देख सकती हैं-इससे अधिक नहीं।

भक्त संगीतज्ञ का आहत नाद, अथवा सप्त स्वरों में गायन, वादन अनाहत नाद (ध्वनि) में परिवर्तित होकर अपनी सीमा (पृथ्वी के वायुमंडल) को पार करके ब्रह्माण्ड आकाश में व्याप्त हो जाता है और पारलौकिक सुख सौन्दर्य का सृजन करने लगता है। इस प्रकार वह आहत नाद को उत्कृष्ट कर अनाहत नाद से एकतानता पैदा करता है।

मन्त्र का ही विस्तृत रूप संगीत माना जा सकता है क्योंकि मन्त्र के विविध उच्चारण, विधि से उसमें प्रयोग किये हुए स्वर समूहों से विभिन्न रसों की प्राप्ति होती है। इसीलिए मन्त्र उच्चारण की शुद्धता से और गायन वादन में एक ही प्रकार के स्वर तथा शब्द प्रकार कुछ भिन्नता लिए हुए बार-बार प्रयुक्त होने से एक विशिष्ट आध्यात्मिक वातावरण रचने का प्रयत्न होता है।

ईश्वर (ब्रह्म) का रूप सत्-चित् आनन्द माना जाता है। उसमें आनन्द स्वरूप भाव प्रधान है जिसकी प्राप्ति भावना के माध्यम से होती है। ध्यानावस्था में मंत्रोच्चारण मूक क्षणों में ब्रह्मानुभूति से परमानन्द प्राप्त होता है। आध्यात्म साधना का यह मार्ग सर्वसाधारण मनुष्य के स्वाभानुकूल उतना नहीं है जितना संगीत का। संगीत भाव प्रधान साधना मार्ग का भावानुकूल माध्यम है। इसमें भक्ति और काव्य का भी मिश्रण है। इस माध्यम के द्वारा लौकिक से उत्कृष्ट अलौकिक आनन्दानुभूति प्राप्त करना सहज साध्य है।''[4]

''भक्त संगीतज्ञ अथवा वाग्गेयकार द्वारा संगीत के माध्यम से लौकिक संगीत, अलौकिक परमानन्ददायक संगीत में परिवर्तित हो जाता है। इसमें लौकिक नव या दश रस भी उत्कृष्टता को प्राप्त कर आनन्दानुभूति कराते हैं। अर्थात् आठों सिद्धि, नवो निधि के सुख की पराकाष्ठा पर ले जाते हैं। भक्ति संगीत ने इसे भलीभांति दर्शाया है।

भारतीय मनीषियों ने विश्व की समस्त प्रक्रियाओं में अध्यात्म को खोजने का प्रयास किया। यज्ञों के अन्तर्गत सामगान का उद्देश्य ज्ञानानुरंजन न होते हुए विश्व को संचालित करने वाली अव्यक्त शक्ति की आराधना ही थी। ऋग्वेद की ऋचाओं का उच्चारण तथा सामगान की संगीत परम्परा परमतत्त्व के अनुसंधान का लक्ष्य लेकर ही चली। सामवेद का गान केवल गान कौशल तक सीमित न था अपितु उदात्त भावनाओं को आन्दोलित करने वाला भी था। वैदिक संस्कृति में भक्ति और संगीत का घनिष्ठ संबंध रहा। सामवेद में गेय छन्द थे और इन छंदों को तीन स्वरों उदात्त, अनुदात्त व स्वरित में निहित स्वर विन्यास के साथ गाने की परंपरा थी। स्वर का ब्रह्म की उपासना के समान साध्य मानकर स्वरों के ऋषि, देवता आदि का भी निरूपण किया गया। स्वर के आधारभूत तत्त्व नाद को उपास्य तत्त्व व उपासना का साधन स्वीकार करके वेद, तन्त्र शास्त्र, उपनिषदों आदि में नाद की अपार महिमा गाई गई हैं जिसमें शब्द, वाक्, नाद प्रणव, ओंकार, साम तथा उद्गीथ आदि के माध्यम से संगीत के आध्यात्मिक व दार्शनिक पक्ष की विशद् व्याख्या तथा उसकी महत्ता का प्रतिपादन किया गया है। संगीत का आधारभूत तत्त्व नाद है जो सम्पूर्ण जगत में व्याप्त है व सृष्टि का कारण है इसलिए नाद को 'नाद ब्रह्म' कहकर उपास्य तत्त्व व उपासना का साधन स्वीकार किया गया है। शास्त्रों में कहा गया है-

''चैतन्यं सर्वभूतानां विकृतं जगदात्मना।
नादब्रह्म तदानन्दमद्वितीयमुपास्महे॥
नादोपासनया देवा ब्रह्माविष्णुमहेश्वराः।
भवन्त्युपासिता नूनं यस्मादेते तदात्मकाः॥''[5]

''अध्यात्मवादी ब्रह्म से परे सृष्टि की कल्पना तथा वैज्ञानिक भी नाद रहित सृष्टि की कल्पना असम्भव मानते हैं। इस प्रकार प्रकृति तथा चराचर जगत के प्रत्येक तत्त्व के आंतरिक अवयवों में संगीत की सूक्ष्मातिसूक्ष्म अक्षुण्ण व अखण्ड धारा निरन्तर प्रवाहित होती रही है। अतः सम्पूर्ण जगत ही अदृश्य रूप में संगीतमय है तथा अव्यक्त रूप में स्वरलहरियों की लयात्मक गत्यात्मकता से परिपूर्ण है। ''मुण्डकोपनिषद'' में प्रणवयोग अथवा नादानुसंधान का सारांश बताते हुए कहा गया है कि-''प्रणवो धुनः शरोह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।'' (2, 4, 1)। यहाँ स्पष्ट रूप से ब्रह्मरूपी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रणव को साधन बनाया गया है। ''योगशिखोपनिषद्'' में नादानुसंधान को सबसे बड़ी पूजा कहा गया है, यथा-

नास्ति नादात्परो मन्त्रो न देवः स्वात्मतः परः।
नादानुसंध परः पूजा नहि तृप्ति परं सुखम् ॥ (2, 20 21)।

अर्थात नाद से बड़ा कोई मन्त्र नहीं है, अपनी आत्मा से बड़ा कोई देवता नहीं है, नादानुसंधान से बड़ी कोई पूजा नहीं है और तृप्ति से बड़ा कोई सुख नही हैं। इस प्रकार यहाँ स्पष्ट हो जाता है कि मन तो भौतिक तुच्छ इच्छाओं से परांग मुखकर परब्रह्म के चिन्तन की ओर अग्रसर करना व उसी में मन को एकाकार करने में ''नाद'' सर्वोपरि है। प्राचीन काल में उपासना के प्रमुख दो प्रकार माने गये हैं-

1) वैदिक उपासना
2) तान्त्रिक उपासना।

वैदिक उपासना विशेष रूप से उच्च वर्ग के ब्राह्मणों तक ही सीमित थी। तान्त्रिक उपासना में शिव और शक्ति जैसी देवी-देवताओं की पूजा का विधि-विधान था जो साधारण जनता की रूचि व प्रवृत्ति के अनुकूल था। इन दोनों ही प्रकार की उपासनाओं में संगीत का विशिष्ट स्थान था। प्रथम को आदि ब्रह्म से निर्मित पाया गया व दूसरी आगम परम्परा कहलाई। संगीत के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र' में इन दोनों ही मतों का समावेश हुआ है। इस प्रकार वैदिक काल से ही संगीत को भावाभिव्यक्ति का श्रेष्ठ साधन स्वीकार किया है। सामवेद की रचना इसका स्पष्ट प्रमाण है। छान्दोग्य उपनिषद् से लेकर आधुनिक समय तक संगीत कला का दार्शनिक विवेचन किया गया है। जिसके अन्तर्गत स्वरों के मूल उद्गम संगीत कला जन्य अनुभव के अलौकिक स्तर पर संगीत कला जनित अनुभव के तात्त्विक स्वरूप तथा परब्रह्म के साक्षात्कार के लिए संगीत कला को दार्शनिकों व अध्यात्मवादियों ने दर्शन के अनेक प्रकारों में से योगदर्शन को सर्वोच्च माना है क्योंकि उसका प्राणवायु से सीधा सम्बन्ध है। प्राणवायु का विशिष्ट स्थान होने के कारण नादब्रह्म के रूप में संगीत को भी योग के समान स्थान देकर मोक्ष प्राप्ति का साधन स्वीकार कर लिया गया। संगीत एक ऐसी कला है जिसका आधार 'स्वर' तथा 'लय' है, यह स्वर विचारों को प्रकट करने के लिए प्रतीक स्वरूप नहीं होते किन्तु वह अन्तःकरण में ध्वनित होते हैं। यह विशिष्ट अर्थ बोध न कराकर भाव बोध कराने में समर्थ होते हैं। यही कारण है कि प्रत्येक जीव संगीत की ध्वन्यात्मकता से प्रभावित होता है।''[6]

'संगीत कला दर्शन' अथवा 'नादब्रह्मवाद' का विकास योगमत के व्यवहारिक रूप के प्रभाव से हुआ था। इसमें योगमत के उस शरीर विज्ञान को मान्य ठहराया गया जिसमें मानव के भौतिक शरीर में दस चक्रों को प्रतिपादित किया गया। योगदर्शन के अनुसार आत्मा में ध्वनि उत्पन्न करने की इच्छा होने पर वह मन को प्रेरित करती है, मन देह में स्थित अग्नि पर आघात करता है जो वायु को प्रेरित करती है तब ब्रह्म ग्रन्थि में स्थित वायु क्रम से ऊपर उठती है और नाभि, हृदय, कंठ, मूर्धा और मुख में ध्वनि का आविर्भाव करती है। यह ध्वनि अथवा नाद पाँच प्रकार का होता है। अतिसूक्ष्म, सूक्ष्म, अपुष्ट, पुष्ट और कृत्रिम जो क्रमशः पाँच स्थानों में स्थित होती है-अतिसूक्ष्म नाभि में, सूक्ष्म हृदय में, अपुष्ट तालु में, पुष्ट कंठ में तथा कृत्रिम मुख में। 'नाद' शब्द में 'नकार' प्राणवीज तथा 'दकार' अग्नि का द्योतक है अर्थात् नाद की उत्पत्ति नाभिस्थान में प्राणवायु एवं अग्नि के संयोग से उत्पन्न उत्तेजना विशेष द्वारा होती है। ध्वनि उत्पत्ति की इस प्रक्रिया में विद्वान्, मनीषियों ने शरीर में स्थित दस चक्रों को ही इसका आधार माना है जो इस प्रकार है-

(1) आधार चक्र, (2) स्वाधिष्ठान चक्र, (3) मणिपूरक चक्र, (4) अनाहत चक्र, (5) विशुद्ध चक्र, (6) आज्ञा चक्र, (7) ललना चक्र, (8) मनस् चक्र, (9) सोमचक्र, (10) सुधाकर चक्र। भारतीय संगीत कला के दृष्टि कोण से उपरोक्त दस चक्रों में से तीन चक्रों को विशेष महत्त्व दिया गया-(1)अनाहत चक्र, (2) विशुद्ध चक्र, (3) ललना चक्र, 'हठयोगप्रदीपिका' में नादोपासना की चार अवस्थायें भी योगशास्त्रियों द्वारा बताई गई है-

1) आरम्भ-इस अवस्था में ब्रह्मग्रन्थि में प्राणवायु के प्रभाव से आनन्ददायक ध्वनि का मानव अनुभव करता है। यह ध्वनि आघात से उत्पन्न नहीं होती अतः अनाहत है।

2) घटावस्था-इस अवस्था में प्राणवायु के कंठ में स्थित विष्णु ग्रन्थि में आने पर नाद एवं बिन्दु परस्पर मिल जाते हैं।

3) परिचय-इस अवस्था में मस्तक पर दोनों भौहों के बीच स्थित आज्ञा चक्र में प्राणवायु आ जाती है।

4) निष्पत्ति-इस अवस्था में प्राणवायु ब्रह्म रन्ध्र अर्थात् मस्तिष्क में पहुँचती है और ध्वनित होती है। इस अवस्था में आत्म प्रकाश ही सर्वोपरि हो जाता है। अतः नाद पर ध्यान केन्द्रित करना अति कठिन है जिसके लिए चित्त वृत्तियों को वश में करना या उनका निरोध करना आवश्यक है। इसी दृष्टि से योग दर्शन में अष्टांगयोग का निर्देश किया है। इन आठ अंगों के अभ्यास से ही चित्त को एकाग्र करने व इच्छाओं का दमन करने की शक्ति योगी में उत्पन्न होती है। यह आठ अंग इस प्रकार है-

(1) यम, (2) नियम, (3) आसन, (4) प्राणायाम, (5) प्रत्याहार, (6) धारणा, (7) ध्यान, (8) समाधि।

योगसूत्र के अनुसार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथाा अपरिहार का उल्लेख 'यम' के अन्तर्गत किया गया है।

योगदर्शन में ''शौचसंतोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्राणिधनानि नियमाः''[7]

अर्थात शौच, तप, संतोष, स्वाध्याय, ईश्वरप्राणिधान ये सब 'नियम' के अंतर्गत आते हैं। अतः यह निर्विवाद सत्य है कि भारतीय संगीत में दर्शन एवं अध्यात्म का तदात्म्य संबंध होते हुए ये एक दूसरे के पूरक हैं। ''क्योंकि समस्त विश्व का व्यवहार नाद पर आश्रित है। उपासना का विषय हो भाषा का हो या संगीत का हो सभी नाद पर ही निर्भर हैं।''[8]

संगीत के अतिरिक्त अन्य कलाओं तथा विविध मार्गों द्वारा ब्रह्मानुभव प्राप्त होता है, पर भारतीय संगीत का आध्यात्मिक एवं दार्शनिक पक्ष मनुष्य के अन्तः करण तथा ब्रह्माण्ड, आकाश में स्थित ध्वनि ज्योति शक्ति अथवा नादब्रह्म से स्वाभाविक रूप से साक्षात्कार कराने में समर्थ है। मनुष्य जीवनमुक्त हो जाता है।

सन्दर्भ सूची-

1. डॉ0 स्वतंत्र शर्मा, भारतीय संगीत एक ऐतिहासिक विश्लेषण, टी0एन0 भार्गव एण्ड सन्स, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण-1995, पृ0सं0 2।
2. वही, पृ0 सं0 3।
3. योगेन्द्रनाथ 'योगी' पद्मकान्त शर्मा, कलाकुंज भारती, लखनऊ, अंक-7, जुलाई-2014, पृ0 सं0 19।
4. वही, पृ0सं0 20।
5. डॉ0 मंगला कपूर, संगीत मांगल्य, कपूर प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण 2006, पृ0सं0 1।
6. डॉ0 मृत्युंजय शर्मा, संगीत मैनुअल, एच0जी0 पब्लिकेशन नई दिल्ली प्रथम संस्करण-2001, पृ0सं0 54।
7. वही, पृ0सं0 56।
8. डॉ0 तेज सिंह टाक, नेट संगीत, बेकराँ आलमी फाउण्डेशन, लखनऊ, प्रथम संस्करण-2010, पृ0सं0 2।

पूर्वी उत्तर प्रदेश की लोक संस्कृति एवं उनके गीत

*चन्द्रजीत वर्मा * एवं डॉ0 के0 ए0 चंचल***

भारतीय संस्कृति को देव संस्कृति कहा जाता है, इसमें मनुष्य को, आदर्शनिष्ठ बनाये रखने के लिये हर स्तर पर प्रखर दर्शन और विवेक संगत परम्पराओं का ऐसा क्रम बनाया गया है कि मनुष्य सहज रूप में ही प्रगति तथा सद्गति का अधिकारी बन सके। भारतीय संस्कृति का जन्म व्यक्ति तथा समाज को सुसंस्कृत बनाने के दृष्टि से हुआ है। उनके प्रत्येक सिद्धान्त आदर्श एवं विधि-विधान की रचना इसी दृष्टि से की गई है कि उनका प्रभाव जन मानस को ऊँचा उठाने एवं परिष्कृत बनाने के लिये उपयोगी सिद्ध हो।

सभी देशों तथा धर्मों में व्रत का महत्वपूर्ण स्थान है। इससे ज्ञानशक्ति, विचारशक्ति, बुद्धि, श्रद्धा, मेधा, भक्ति तथा पवित्रता की वृद्धि होता है, अकेला एक उपवास सैकड़ों रोगों का संहार करता है, नियमतः व्रत तथा उपवास के पालन से उत्तम स्वास्थ्य एवं लम्बे जीवन की सद्भावना, सहयोग एवं सज्जनता से परिपूर्ण करने वाली प्रेरणाओं से भर देना व्रत एवं त्यौहारों, पर्वों का मूल उद्देश्य है।

जिस प्रकार व्यक्तिगत जीवन की वैयक्तिक मनोभूमि निर्माण के लिये षोडश संस्कारों की रचना हुई है, उसी प्रकार सामूहिक जीवन को, सारे समाज को, सुसंस्कृत बनाने के लिये ऋषियों और मुनियों ने अनेक त्यौहारों की रचना की है। हिन्दू धर्म का प्रत्येक त्यौहार एक आदर्श सिद्धान्त एवं प्रेरणा का लिये हुए है। पर्वों की रचना इसी दृष्टि से हुई कि प्राचीन काल की महान घटनाओं एवं महान प्रेरणाओं का प्रकाश जनमानस में भावात्मक एवं सामूहिक वातावरण के साथ उत्पन्न किया जाये। आत्म ज्ञान या शाश्वत जीवन का बोध व्रताचरण से होता है। शास्त्रकार का कथन है कि-

व्रतेन प्राप्यते दीक्षा दक्षिणा दीक्षपाप्यते।

तया च पाप्यते श्रद्धा श्रद्धया सत्यमाप्यते॥

व्रत का आध्यात्मिक अर्थ उन आचरणों से है जो शुद्ध सरल और सात्विक हो, और उनका पालन विशेष मनोयोग द्वारा किया गया हो।

व्रत जीवन की श्रुतियों और भूलों का सुधार कर मनुष्य को शुद्ध बनाता है। व्रत पालन से आत्म विश्वास के साथ संयम की वृत्ति भी आती है। आत्म विश्वास शक्तियों का संचय बढ़ाता है और संयम से शक्तियों का अव्यय रूकता है। व्रतों से अनेक अंशों में प्राणी मात्र का और विशेष कर मनुष्यों का बड़ा भारी उपकार होता है। तत्वदर्शी महर्षियों ने इनमें विज्ञान के सैकड़ों अंश संयुक्त कर दिये है। ग्रामीण या देहाती मनुष्य तक इस बात को जानते हैं कि अरूचि, अजीर्ण, उदरशूल, मलावरोध, सिरदर्द और ज्वर जैसे स्वतः साधारण रोगों से लेकर कोढ़, उपदंश, जलोदर, क्षतक्षय जैसी असाध्य महाव्याधियाँ भी व्रतों के करने से समाप्त हो जाती है और आरोग्यता प्रदान करती है।

मनुष्य का हित मात्र जानकारियों से नहीं होता वह बार-बार भूलता है और याद रहते हुए भी अनेक बातें चरितार्थ नहीं कर पाता। इसके लिये सतत् याद रखने या नियमित रूप से अभ्यास करने के लिये व्यवस्था बनाई गई।

त्यौहार धार्मिक और साामजिक उत्सव तथा व्रत आदि का विधान वैसे संस्कार की सभी जातियों और देशों में पाया जाता है। विभिन्न क्षेत्रों में परम्पराओं के अनुरूप अनेक पर्व त्यौहार मनाये जाते हैं। हर धर्म सम्प्रदाय में अनेक समय, स्वरूप, इतिहास एवं आधार भिन्न-भिन्न है। इसलिये उन्हें सार्वभौम न मानकर क्षेत्रीय ही कहा जा सकता है।

त्यौहारों क स्थापना जनता को जागृति, सद्भावना, संगठन, बुद्धि तथा किसी विशेष अवसर पर बड़े यज्ञ के लिये, परोपकार के लिये एवं किसी विशेष ऋतु के परिवर्तन अथवा फसल के तैयार होने पर सामाजिक समारोह के रूप में या फिर सर्वसाधारण के मनोरंजन और हृदयोल्लास प्रकाश के लिये हुआ। किसी युग प्रवर्तक, महापुरुष, कर्मवीर, सूरवीर, दानवीर, प्राणवीर, विद्वान या किसी महान राष्टट्रुट्टिंय घटना की स्मृति मनाने के निमित्त हुई। मनुष्य जीवन में जहाँ-जहाँ महत्वपूर्ण मोड़ आते है। वहाँ मनीषीगणों द्वारा उन्हें प्रेरणाओं से भर दिया गया है।

भारत में व्रतों का सर्वव्यापी प्रचार है। व्रत तीन प्रकार के बताये जाते हैं। नित्य व्रत, नैमित्तिक व्रत तथा काम्य व्रत। नित्य व्रत वे हैं जिनका समय व माह में तिथि आदि निश्चित है, जैसे- एकादशी, प्रदोष व्रत। नैमित्तिक जो किसी प्रयोजन विशेष से किये जायें, जैसे-पाप, क्षय हेतु। काम्य व्रत वे हैं, जो किसी विशेष कामना इच्छापूति अभिष्ट की इच्छा से किया जाये।

विश्व वंद्य बापू ने व्रतों के दो भेद बताये हैं, काम्य और नित्य। काम्य व्रत को उन्होंने किसी विशेष कामना स्वार्थ को लेकर करना बताये है। नित्य व्रत उनके अनुसार जिनमें कोई कामना का समावेश नहीं होता, वरन् अन्तः प्रेरणावश किया जाता है। उत्सव मनाने की इच्छा स्वाभाविक है। सभी त्यौहारों में कुछ न कुछ पूजा पाठ का समावेश होता है। हमारी संस्कृति में व्रत, पर्व, त्यौहार का प्रचलन रहा है। यहाँ तक कि एक लोकोक्ति बन गई है-

''हिन्दुओं में सात बार, नौ त्यौहार है।''

पूरे वर्ष में एक दिन भी ऐसा नहीं है, जो पर्व न हो, कोई तिथि ऐसी

* शोध छात्र, गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

** असिस्टेंट प्रोफेसर, गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

नहीं है, जिसमें कहीं भी किसी के द्वारा पर्व आयोजन न मनाया जाता हो। मनुष्य लगातार एक जैसे कार्य करते रहने से मानसिक रूप से थक जाता है तब उसे नवीनता चाहता है जिसमें हर्षोल्लास जुड़ा हो। सामूहिकता का पूट रहे। ऐसे में अनेक प्रकार के घटनायें घटित होते दिखते हैं। नृत्य, गीत, देवपूजन, सहमिलन, सहभोज एवं उस अवसर के लिये विशेष उपक्रम कार्यान्वित होते है। ईद, इस्टर, होली आदि में बड़े समारोह होते है। छोटे-छोटे कम महत्व के पर्व, त्यौहार अपने-अपने घरों में अपने-अपने रीति-रिवाज के अनुसार मना लेते हैं।

भारत में बहुचर्चित पर्व-त्यौहारों में दीपावली, गीता जयन्ती, मकर संक्रान्ति, वसंत पंचम, शिवरात्रि, होली, रामनवमी, गंगा दशहरा, गुरु पूर्णिमा, श्रावणी, कृष्ण जन्माष्टमी, विजय दशमी आदि पर्व उत्तर भारत में मनाये जाते है। वैशाखी, छठ, गणेश चतुर्थी, अनन्त चतुर्दशी आदि का भी कहीं-कहीं बहुत अधिक महत्व है। दीपावली में धन को सही रीति से कमाने और सही प्रयोजन में खर्च करने की प्रेरणा है।

दीपावली के बाद बहिन भाई दूज आती है। बहिन बिराने घर की हो जाने पर भी उसका स्नेह सूत्र पितृगृह से टूटना नहीं चाहिए तथा गोवर्धन पूजा दीपावली के तीसरे दिन होती है। गोबर के गोप आदि बनाकर आँगन में स्थापित किये जाते और पूजे जाते हैं। इसकी प्रेरणा गो संरक्षण, गोसंवर्धन है। गोबर + धन का अर्थ है- गोबर बाहुल्य धन है। खाद के रूप में वह मैला सोना है। इसकी पूजा में भी बहने गोधन का गीत गाती है।

गोधन गीत-

गोधन बाबा चललेे अहेरिया,
अब खलीचा बहिना देली आशीष रे।
जियसु रे मोरे भईया,
अब भउजी के बाढ़सु सिरवा सेनुर रे॥
भईया के बाढ़ो सिर पगिया,
अब भउजी के बाढ़सु सिरवा सिरवा सेनुर रे॥

छठी माता गीत-

कार्तिक शुक्ल षष्ठी को छठी माता व्रत किया जाता है। वास्तव में यह सूर्य का व्रत है, परन्तु षष्ठी तिथि सम्पादित किये जाने के कारण ही इसे छठी माता का व्रत कहते हैं। इसे डाला छठ भी कहा जाता है। क्योंकि इस व्रत से सम्बन्धित सामग्री को एक बड़े डाल (बाँस की बनी टोकरी) में रखकर पूजा स्थान को ले जाया जाता है। इस व्रत का उद्देश्य पुत्र प्राप्ति और उसकी दीर्घायु की कामना है। इस व्रत को गंगा के किसी नदी के या किसी जलाशय के किनारे अथवा जल में खड़े होकर षष्ठी तिथि को शाम के समय पश्चिम के तरफ मुँह करके तथा सप्तमी के दिन सुबह पूर्व के तरफ मुँह करके भगवान सूर्य को जल अर्थात् अर्ध्य देते है। इस प्रकार यह व्रत दो दिन का होता है। लेकिन कहीं-कहीं यह व्रत तीन दिनों पंचमी तिथि को खरना के रूप में, षष्ठी तिथि को पहला सूर्य अर्ध्य तथा सप्तमी तिथि को दूसरा सूर्य अर्ध्य मानकर व्रत को किया जाता है। इसमें सूर्य देव के गीत, छठ मईया के गीतों के साथ-साथ सोहर खिलौने आदि गीत भी गाये जाते हैं -

रोई-रोई बोलेली छठीय मईया, सुनऽ ए सेवक लोगऽ।
मोरा घाटे दुबिया ऊपजिऽ गइले, मकड़ी बसेड़ऽलेई॥

अथवा

आरे छोटि मुकी मालिनी बिटिया की भूईयां लोटे हो केश।
आरे दुधवा लेअईह हो बिटिया अरिघया के हो बेरि॥

पिंडिया व्रत-

पिंडिया व्रत कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा से प्रारम्भ होकर अगहन शुक्ल प्रतिपदा तक पूरे एक मास चलता है। कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा के दिन गोधन के गोबर की जो प्रतिमा बनाकर पूजी जाती है, उसी गोबर का थोड़ा सा अंश लेकर कुँवारी लड़कियाँ पिंडिया लगाती है, और पूरे एक महीना पिंडिया गीत भी गाती हैं-

कवनऽ बहिना लावेली आसोगा के बीरवा
सुहाऽग वे बीरवा, सुहाऽग वे बीरवा
कवनऽ भईया लइले नवरंगिया एऽ राम॥
अन्जानऽ बहिना लावेली असोगा के बीरवा
सुहाऽग वे बीरवा, सुहाऽग वे बीरवा
अन्जानऽ भईया लइले नवरंगिया एऽ राम॥

होली-

होली सार्वजनिक सफाई का पर्व है। जो कि व्यक्ति जन समाज फाल्गुन महीना जब से चढ़ जाता है। होली गीतों को गा-गाकर हर व्यक्ति अपने काम को करता है। होली गीत के कई प्रकार भी मिलते है। जैसे-फाग, फगुआ, होली या होरी, जोगीरा, चहका, डफ आदि।

फगुआ-होली खेले रघुवीरा अवध में, होली खेले रघुवीरा

फाग- अंजनी सुत हरि मन भाये-2

जोगीरा-साराराराराराराा आ जोगीरा साराराा
सबका के भावे सजाव दही गूल्ला-2
भोला के भावे खाली भंगिया धतूरा, बोल हई रे हई रे हई हा।

होली वस्तुतः सामूहिक वार्षिक यज्ञ है, जो नई फसल के आगमन पर हर्ष एवं उदारता की अभिव्यक्ति के लिये सम्पन्न किया जाता है।

नवरात्र वर्ष में दो बार आता है। चैत्र शुक्ल 1 से 9 तक। चैत्र नवरात्रि जिस दिन आरम्भ होता है, उसी दिन विक्रमी संवत् का नया वर्ष प्रारम्भ होता है। विक्रमादित्य राजा होने के साथ ही जनहित लोकमंगल के लिये समर्पित साधक भी थे। उनकी आदर्शनिष्ठा की झलक सिंहासन बत्तीसी की किताबों में मिलती है। नवरात्रि में देवी गीत भी गाये जाते हैं, जिसे देवी पचरा कहते हैं। परम्परा से चली आ रही भोजपुरी पचरा गीतों में इस प्रकार के गीत होते हैं -

पचरा गीत-

निमिया की डाढ़ी मईया लावेली हिलोरावा की झूली-झूली ना
मईया गावेली गीतिया की झूली-झूली।

अथवा

गलियन गलियन घूमेली शीतल मईया केकरा घरावाना,

हमहु लेहुँ ना बसेरवा हो कि केकरा घारावा ना।।

चैत्र नवरात्रि का समापन दिवस भगवान श्रीराम का जन्मदिन रामनवमी होता है। इस चैत्र महीने में भगवान रामकृष्ण के लीलाओं आदि को लयों एवं धुनों में संजोकर लोग चैती और चैता नामक गीत को गाते हैं। जैसे-

चैती- **चईतऽ महिनवा होऽ, चईतऽ महनिवा**
रामऽजी के भइले जनमवा होऽ रामा चईतऽ महनिवा।।

चैता- **रामा राम के जनम सुनी भोला बाबा अइले ए रामा**
करे खातिर,
करे खातिर हरि दरशनावा ए रामा करे खातिर।।

अथवा-

राम चईतऽ अयोध्या, नवमी शुभ दिनवा ए रामा, घरे-घरे
बाजेला अनध बधईया ए रामा, घरे-घरे।।

गुरुपूर्णिमा व्यास पूजन,गुरुजनों के प्रति श्रद्धा, सद्भाव, कृतज्ञता, नम्रता रखने की शिक्षा देने वाला पर्व है। श्रावणी को हरीतिमा सम्वर्धन के रूप में मनाया जाता है। इसी प्रकार कृष्णजन्माष्टमी, पितृ अमावस्या, शरद पूर्णिमा, मकर संक्रान्ति, वैशाखी आदि के अपने धार्मिक महत्व है। गाँधी जयन्ती, तिलक जयन्ती, बुद्ध पूर्णिमा, महावीर जयन्ती आदि महामानवों के जन्मदिन मनाये जा सकते हैं।

अन्त में हम यह कह सकते हैं कि व्रत-त्यौहार एवं पर्व हिन्दू संस्कृति एवं धर्म के प्राण है। व्रतों पर वेद, धर्मशास्त्रों, पुराणों तथा वेदाङ्गों में बहुत कुछ कहा गया है। जिस प्रकार तपाने से सोने का मल निकल जाता है, उसी प्रकार तपस्या अग्नि के द्वारा शरीर-मन को तपाने पर उनकी अशुद्धि, पाप दूर होकर वे निष्पाप निर्मल बन जाते हैं।

सन्दर्भ सूची-

1. कर्मकाण्ड भास्कर ..... पं0 श्रीराम शर्मा आचार्य प्रकाशक- अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा।
2. व्रत परिचय..... पं0 हनुमान शर्मा, गीता प्रेस, गोरखपुर।
3. व्रत पर्वोत्सव अंक- कल्याण- गीता प्रेस, गोरखपुर
4. धर्मचक्र प्रवर्तन एवं लोकमानस का शिक्षण..... पं0 श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय। प्रकाशक- अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा।
5. व्रत परिचय- पं0 हनुमान प्रसाद शर्मा, गीता प्रेस, गोरखपुर
6. भारतीय संस्कृति के आधार तत्व- पं0 श्रीराम शर्मा आचार्य वाठमय। अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा
7. गीत ..... गाँवों की पारम्परिक गीतें।
8. भोजपुरी लोकगीतों का सांस्कृतिक अध्ययन- डॉ0 रविशंकर उपाध्याय
9. पारम्परिक
10. पारम्परिक
11. पारम्परिक
12. व्रत परिचय..... गीता प्रेस, गोरखपुर
13. पारम्परिक
14. पारम्परिक
15. पारम्परिक

●

हिन्दू षोडश संस्कार व उनके भोजपुरी लोकगीत

*डॉ0 कुमार अम्बरीष चंचल**

संस्कार संस्कृति की जननी है अथवा संस्कारों से ही संस्कृति का जन्म होता है। भारतीय संस्कार प्राचीन काल से ही सामाजिक व धार्मिक एकता के प्रभावकारी माध्यम रहे हैं। भारतीय चिन्तन में संस्कारों का महत्वपूर्ण स्थान है। संस्कार का अभिप्राय उन धार्मिक कृत्यों से है जो किसी व्यक्ति को अपने समुदाय का पूर्ण रूप से योग्य सदस्य बनाने के उद्देश्य से उसके शरीर, मन और मस्तिष्क को पवित्र करने के लिए किया जाता है। किन्तु हिन्दू संस्कारों का उद्देश्य व्यक्ति में अभिष्ट गुणों को जन्म देना भी है। हमारी प्राचीन महत्ता एवं गौरव-गरिमा को गगनचुम्बी बनाने में जिन अनेक सत्यवृत्तियों को श्रेय मिला था, उसमें एक बहुत बड़ा कारण यहाँ की संस्कार पद्धति को भी माना जा सकता है। यह पद्धति सूक्ष्म आध्यात्म विज्ञान की अतीव प्रेरणाप्रद प्रक्रिया पर अविलम्बित है। उसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव मनुष्य को सन्मार्गगामी होने के उपर्युक्त बनाता है। परिवार को संस्कारवान बनाने की, कौटुम्बिक जीवन को सुविकसित बनाने की एक मनोवैज्ञानिक एवं धर्मानुमोदित प्रक्रिया को संस्कार पद्धति कहा जाता है।

वेद, पुराणों तथा धर्मशास्त्रों में संस्कारों की आवश्यकता बतलाई गई है। जैसे खान से सोना, हीरा आदि निकलने पर उसमें चमक-प्रकाश तथा सौन्दर्य के लिये उसे तपाकर, तराशकर मल हटाना एवं चिकना करना आवश्यक होता है, उसी प्रकार मनुष्य में मानवीय शक्ति का आविर्भाव होने के लिए सुसंस्कृत होना आवश्यक है। संस्कारों में आत्मा-अन्तःकरण शुद्ध होता है। संस्कार मनुष्य को पाप और अज्ञान से दूर रखकर आचार-विचार और ज्ञान-विज्ञान से संयुक्त करते हैं। आर्य संस्कृति में संस्कारों की महत्ता सर्वोपरि है। यह न केवल कोरी कल्पना है और न ही मिथक, वरन् सत्य और यथार्थ की नींव पर खड़ा दिव्य भवन है, जहाँ से आदर्श तरंगित होता है। जो मानव शरीर में संठाहित होकर शील के रूप में परिणत होता है। तब यह सुसंस्कृत जीवन ''मधुमतीं वाचमुदेयम्'' (अथर्व- 16/2/2) अर्थात् 'सदा मधुर वचन बोलो' के रूप में आत्मानुशासन प्रदान करता है।

किसी भी देश की संस्कृति का मूल उत्स वहाँ के लोक जीवन में व्याप्त है। लोक शब्द संस्कृत भाषा के दर्शने धातु में 'धञ' प्रत्यय लगाने से हुआ है। लुक का अर्थ है- 'देखना' लट लकार अन्य पुरुष एक वचन में इसका रूप लोकते होता है, अतः लोक का अर्थ है देखने वाला।

डा0 वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार- ''लोक हमारे जीवन का महा समुद्र है, उसमें भूत, भविष्य, वर्तमान सभी कुछ संचित रहता है।

डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में- ''लोक शब्द का अर्थ जनपद अथवा ठााम नहीं है बल्कि नगरों और गाँवों में फैली हुई वह समूची जनता है, जिसके व्यवहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं है, ये लोग अकृतिम और सरल जीवन व्यतीत करते हैं।''

इसके पूर्व में उसके जो प्रयोग मिलते हैं, वे विविध सन्दर्भों के बीच विभिन्न अर्थों में किये गये है। लोक कला, लोक संगीत, लोक साहित्य और लोक संस्कृति जैसे शब्दों में लोक का प्रयोग आधुनिक अर्थ में नहीं किया जाता है। लोकतन्त्र एवं प्रजातन्त्र के प्रेरणा से 'लोक' शब्द अब हेय नहीं रह गया है, अपितु समान सूचक बन गया है। हिन्दी काव्य में लोक शब्द के प्रयोग पाये जाते हैं। सूर के पदों में जैसे-

''नँदनन्दन के नेह-मेह जिन लोक-लीक-लोपी।''

जन सामान्य के जीवन में व्यवहार तथा आचरण में निहित तत्वों से संस्कृति के पुष्प विकसित होता है तथा उसकी सुरभि सम्पूर्ण लोक को सुगन्धित करती है। 'लोक गीत' लोक तथा गीत दो शब्दों के संयोग से बना है, जिसका अर्थ है 'लोक के गीत'। अर्थात् हम कह सकते हैं कि जन मानस की सरल एवं सुलभ भावनाओं का गीतों के माध्यम से अभिव्यक्ति ही लोकगीत की विशिष्टता है। लोक गीत वह प्रवाहात्मक अभिव्यक्ति है, जो जनमानस के अतिरिक्त दिल से पहाड़ी झरने के समान फूट पड़ती है, इनमें शास्त्रीय संगीत की तरह कोई नियम और बन्धन नहीं होता। इनमें प्रयुक्त संगीत स्वरों व अधिकतम एक ही सप्तक में सिमट जाने वाली स्वरावलियाँ बहुत ही मनमोहक, सुमधुर व सरल होती है। इन लोकगीतों के गायन में स्वरों की पुनरावृत्ति होती है। लोक संगीत हमारी संस्कृति को पूर्ण रूपेण उजागर करती है। लोक गीत धरती के गीत है जो माटी की सुगन्ध को लेकर विकसित हुए है। अपने-अपने प्रदेश के माटी की सुगन्धित बोलियों के साथ जो गीत उभर कर आते हैं, वही लोकगीत है।

मानव जीवन से जुड़ी सभी घटनाक्रम, सभी प्रकार की अवस्थाओं का वर्णन स्वाभाविक हो जाता है। इन्हीं सभी अवस्थाओं को देखते हुए लोकगीतों को भोजपुरी साहित्य के प्रसिद्ध शास्त्री डॉ0 कृष्णदेव उपाध्याय ने निम्नलिखित छः भागों में वर्गीकृत किया है-

1. संस्कार सम्बन्धी गीत, 2. ऋतु सम्बन्धी गीत, 3. व्रत सम्बन्धी गीत, 4. देवता सम्बन्धी गीत, 5. जाति सम्बन्धी गीत, 6. श्रम सम्बन्धी गीत

जीवन में व्यवहारित होने वाले अनन्त लोकाचारों, संस्कारों एवं परम्परागत विचारों के विभिन्न भेदात्मक स्थितियों को मिलाकर भारतीय संस्कृति का संघटन हुआ है। भारतीय संस्कृति का आधार यहीं की लोक संस्कृति है। लोक गीतों पर वहाँ की भौगोलिक स्थिति तीज-त्यौहार एवं मौसम का तो

* असिस्टेंट प्रोफेसर, गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

प्रभाव पड़ता ही है, मानव जीवन में संस्कारों का अपना एक विशेष महत्व है। मनुष्य का सारा जीवन अनेक प्रकार के संस्कारों में बद्ध हुआ है। हिन्दू समाज में संस्कार का अर्थ उस क्रिया से लगाया जाता है, जिससे शुद्धता प्राप्त कर व्यक्ति उन्नति के पथ पर अठासर हो सकता है। महर्षि व्यास के द्वारा षोड्श संस्कार इस प्रकार बताये गये हैं-

''गर्भाधानं पुंसवनं सीमन्तो जात कर्म च॥
नाम क्रिया निष्क्रमणेऽन्नाशनं वपन क्रिया॥
कर्णवेधो व्रतादेशो वेदरम्भ क्रियाविधः॥
केशान्तः स्नानमुद्वाहो विवाहाग्निपरिग्रहः॥
त्रेताग्निसंग्रहश्चेति संस्कारा षोड्शस्मृताः॥''

अर्थात-

गर्भाधन, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्रासन, चुड़ाकर्म, कर्णवेध, उपनयन, वेदारम (विद्यारम्भ), समावर्तन, विवाह तथा अग्न्याधान। अग्न्याधान के अन्तर्गत तीन अग्नियाँ (गार्हपत्य, आहवनीय, अक्षिणाग्नि) स्थापित की जाती थीं। इन अग्नियों का व्यावहारिक उपयोग वानप्रस्थ, अन्त्येष्टि और मरणोत्तर संस्कारों में होने से संस्कारों की मान संख्या सोलह सिद्ध हो जाती है। इन नामों में कहीं-कहीं विभिन्नता भी दिखाई देती है। हिन्दू धर्म में इन संस्कारों के समय गीत, संगीत एवं नृत्य का भी विधान मिलता है, किन्तु मृत्यु अर्थात् अन्त्येष्टि संस्कार के समय प्रायः गीत नहीं गाये जाते, केवल शिवनारायणी सम्प्रदाय में मृत्यु के समय और शमशान जाते समय गाने-बजाने का प्रचलन है। उस समय केवल निर्गुण गाये जाते हैं।

इन सोलह संस्कारों को करते समय जिन गीतों को गाने की परम्परा है, उनमें सबसे महत्वपूर्ण भूमिका लोक गीतों की है। प्रत्येक संस्कार के लिए अलग-अलग लोकगीत गाये जाते हैं। जिन्हें हम संस्कार गीत के नाम से जानते हैं।

(1) गर्भाधान संस्कार- पूर्व मीमांसा में इस बात का उल्लेख है कि जिस कर्म के द्वारा पुरुष व स्त्री में अपना बीज स्थापित करता है, उसे गर्भाधान संस्कार कहते हैं। अतः यह संस्कार सन्तान प्राप्ति हेतु सम्पन्न किया जाता है। इनके गीत अब बहुत कम मिलते हैं-

कवन बने उपजेला केसर, कवन बने कुसुम हो।
ललना कवना बने उपजे गुलाब, चुनरिया हम रंगाईब हो।

(2) पुंसवन संस्कार- स्त्री द्वारा गर्भधारण के तीसरे, चौथे अथवा आठवें माह में पुत्र प्राप्ति की इच्छा हेतु यह संस्कार किया जाता है। क्योंकि हिन्दुओं में पुत्र प्राप्ति को श्रेष्ठ एवं पितृ-ऋण से उऋण होने के लिए अनिवार्य माना गया है। यह संस्कार धार्मिकता के साथ ही साथ प्रतीकात्मक एवं पेड़-पौधों और औषधियों से भी जुड़ा है, जैसे-

मोरे पिछुवरिया रे नीलवा के खेतिवा,
नीलवा नारायण सिर पाग।

(3) सीमन्तोन्नयन संस्कार- यह संस्कार गर्भवती स्त्री के रक्षा के लिये किया जाता है। गर्भाधान, पुंसवन और सीमन्तोन्नयन ये तीनों संस्कार शिशु जन्म से पूर्व किये जाते हैं। यह संस्कार- सन्तान को दुष्ट आत्माओं एवं दुष्ट प्रवृत्ति वाली शक्तियों से बचाने के लिए किया जाता है। इनके गीत हैं-

सुतल में रहनी खाटियावा, सपनवा एक देखिला हो।
सासू सपना के करऽ ना विचार, सपनवा बड़ा सुन्दर हो॥

(4) जातकर्म संस्कार- यह संस्कार शिशु के जन्म के उपरान्त होने वाला प्रथम संस्कार है। यह संस्कार बच्चे के जन्म के समय विशेष रूप से किया जाता है। इसका उद्दश्य बालक को अनिष्टकारी प्रभावों से बचाना और उसको दीर्घजीवी और स्वस्थ होने की कामना करना है। इस संस्कार में मुख्यतः सोहर गाया जाता है, जैसे-

गोदिया में लेई के भतिजवा, अँगनवा ननदी नाँचेली हो।
ए भउजी जबऽ देबू सोने के कँगनवा त कजरा लगाईब हो॥
मने-मने बिहसे बहुरिया बिरहऽ बोलिया बोलेली हो।
ननदो छोई लेबो आपनऽ होरिलवा,
कि कजरा लगाई लेबो हो॥

(5) नामकरण संस्कार- यह संस्कार नवजात शिशु के नाम रखने हेतु किया जाता है। आज के दिन अतिथियों एवं सगे-सम्बन्धियों, पंडितो-पुरोहितों आदि को भोजन कराया जाता है, और पंडित जी जनम कुण्डली बनाकर देते हैं। इसके गीत इस प्रकार से हैं-

आजूऽ के दिनवा सुहावन, शुभ घड़ी आवन हो।
बाबा जल्दी-जल्दी पतरा उघारी आ नामावा बिचारी नु हो॥
नमवा बिचरले बाबा पंडित जी, भगिया उचारेलेनु हो।
ए यजमिन तोहरे बालकवा के माथे मुकुटवा सुहावन हो॥

(6) निष्क्रमण संस्कार- यह संस्कार नवजात शिशु के घर से बाहर निकाले जाने पर किया जाता है। मनुस्मृति में इसके लिये बाहरवें दिन से चौथे मास तक का समय उपयुक्त बताया गया है।

सोने के दियरिया में घीउवा रे जरवनी।
कजरा के परनी सारी राति॥
उहे रे कजरवा ललनवा आँखि लईनी।
कि घूमे जाई ललना हमार हो॥

(7) अन्नप्राशन संस्कार- इस संस्कार के समय शिशु को ठोस अन्न खिलाया जाता है। सामान्य रूप से बच्चे को दही, घी एवं शहद के साथ अन्न दिया जाता है।

सोने की कटोरी में खीर खालै, बाबा के हथवा से खीर खालै।
हँसे किलकावै कबो आँखि मटकावै, होई के मगन मठ खीर चटकावै॥

(8) चूड़ाकर्म संस्कार- इस संस्कार को मुण्डन अथवा चौल संस्कार के नाम से भी जाना जाता है। इस संस्कारों का आयोजन का उद्देश्य यह है कि इससे हर्ष, सौभाग्य और उत्साह की वृद्धि होती है।

हीरा जइसन बाबुआ के लमहर-लमहर केस, दुख मुण्डन होला।
केकरा खोईछा सोहे लामी केस, देख मुण्डन होला॥
हीरा जइसन बाबुआ के लमहर-लमहर केस, देख मुण्डन होला।
फूआ खोईछा सोहे लामी केस, देख मुण्डन होला॥

(9) कर्णवेध संस्कार- यह संस्कार रोगादि से बचने और आभूषण धारण करने के उद्देश्य से होता है।

गाँव के बाहरवा सोनरवा एक भईया हो,
उनके बोलाई लेहुँ आज हो।
बाबु के करा दी कर्णवेध संस्कारवा हो,
कानवा छेदादि शुभ काज हो॥

(10) उपनयन संस्कार- इस संस्कार का मुख्य प्रयोजन था शिक्षा। बालक के शिक्षा ग्रहण करने योग्य हो जाने पर यह संस्कार किया जाता है। यह संस्कार शूद्रों के लिये वर्जित है। इस संस्कार के बाद व्यक्ति द्विज हो जाता है अर्थात् उसका दूसरा जन्म माना जाता है।

आरे केई जे गढ़ेला काठऽ के खड़ऊँवा,
कवन बाबा बेसहन जासु हो॥
आरे बढ़ई जे गढ़ेला काठऽ के खड़ऊँवा,
राजा दशरथ जी बेसहन जासु हो॥
उनुका ही घरवा हो बेटा के जनेऊवा,
उहे बाबा बेसहन जासु हो॥

(12) वेदारम्भ संस्कार- गरू के सानिध्य में पहुँचकर शिष्य का वेदाध्ययन प्रारम्भ करना भी एक संस्कार माना जाता है।

फूलवा जइसन बाबू कोमल अवरू सुकुमार हउवे हो।
स्वामी सूरुज के घाम ना सहाई पढ़न जइहें तिरहूत हो॥

(13) केशान्त या गौदान संस्कार- यह संस्कार बालक के वयस्क होने का सूचक है।

(14) समावर्तन संस्कार- यह संस्कार बालक के ब्रह्मचर्य आश्रम की समाप्ति का सूचक है, यह संस्कार अधिकांशतः 25 वर्ष की आयु में किया जाता है।

काशी-गया पढ़ी-लिखी अइले सुन्दर बरूआ।
जुड़ावे लगली ना, मईया अपनी नयनवा, जुड़ावे लगली ना॥

(15) विवाह संस्कार- यह संस्कार हिन्दू धर्म के अनुसार आठ भागों में विभाजित है। ब्रह्मविवाह, देवविवाह, आर्षविवाह, प्रजापत्य विवाह, असुर विवाह, गन्धर्व विवाह, राक्षस विवाह, पैशाच विवाह। विवाह समस्त संस्कारों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण और गौरवशाली माना जाता है। व्यक्ति का गृहस्थ आश्रम में प्रवेश विवाह संस्कार से ही होता है। इस संस्कार से मनुष्य सामाजिक हो जाता है और उसकी व्यक्तिक स्थिति समाप्त हो जाती है। भोजपुरी समाज में विवाह के सम्बन्ध में अनेक प्रथायें प्रचलित है। विवाह से सम्बन्धित हर रस्म के संस्कार गीत होते हैं, जैसे- 1. तिलक, 2. सुहाग गीत, 3, सगुन, 4. मानर पूजा, 5. मटिकोड़ा गीत, 6. माड़ोगीत, 7. हरदी गीत, 8. चुमावन गीत, 9. साँझा, 10. पराती, 11, इमली घोटावन, 12, परिछावन गीत, 13. धारगिरावन गीत, 14. लावा मिलाई, 15, विवाह, 16, कोहबर गीत आदि। विवाह में कन्यापक्ष के अलग और वरपक्ष के अलग संस्कार गीत होते हैं। जैसे-

वरपक्ष में तिलकगीत- आरे झारि जजीमावा बिछावऽ ए अनजानऽ बाबा, आवऽ तारे तिलकहरू सबऽ लोग।

चुमावन गीत- साठी के चाउर लहालही दूबि हे, चुमन बईठेली भउजी सुहागिन हे।

कन्यापक्ष द्वारपूजा- आपन खोरिया बहारऽ हो अन्जानऽ बाबा आवऽ तारे दुलहा दमाद हो।

इमली गीत- मामा हाली-हाली पनिया पियाव हो मामा, मामा हाली-हाली...

गुरहत्थी गीत- ओरी तर ओरी रे तऽरऽ, बइठे बर रे नेतिया।।

इस प्रकार विवाहोपरान्त कन्या की विदाई होती है। परन्तु विवाह संस्कार यहीं नहीं पूरा होता, इसके पश्चात् कंकन छुड़ाया जाता है। जिसे कहीं-कहीं फूल सेरउवा कहते हैं।

19. अन्त्येष्टि संस्कार- यह मनुष्य के जीवन का अन्तिम संस्कार है। जो व्यक्ति के निधन हो जाने के पश्चात् किया जाता है। इस संस्कार के समय प्रायः गीत नहीं गाये जाते, केवल शिवनारायणी सम्प्रदाय में मृत्यु के समय निर्गुण गाये जाते हैं।

सन्दर्भ सूची-

1. कल्याण संस्कार अंक- गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ0 331-332-333
2. षोडश संस्कार विवेचन- पं0 श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा।
3. कर्मकाण्ड- भास्कर, पं0 श्रीराम शर्मा आचार्य (शान्तिकुन्ज हरिद्वार)
4. भोजपुरी लोकगीतों का सांस्कृतिक अध्ययन- डॉ0 रविशंकर उपाध्याय।
5. भोजपुरी लोक साहित्य- डॉ0 कृष्णदेव उपाध्याय
6. कल्याण संस्कार अंक- गीता प्रेस, गोरखपुर
7. पारम्परिक
8. भोजपुरी संस्कार गीत- पाठक हरेराम।
9. संस्कार गीत- कमला श्रीवास्तव
10. पारम्परिक
11. हिन्दू संस्कार- राजबली पाण्डेय
12. पारम्परिक

स्वर एक-रूप अनेक

संदीप कुमार ओझा एवं डॉ0 शिवराम शर्मा ***

भारतीय संगीत का ही नहीं अपि तु समस्त वाङ्मय का मूल उपादान तत्त्व 'नाद' है, इसे ध्वनि भी कहते हैं, मतंगकृत बृहद्देशी में प्राप्त है कि-

''ध्वनिर्योनिः पराज्ञेया ध्वनिः सर्वस्य कारणम्।
आक्रान्तं ध्वनिना सर्वं जगत् स्थावरजङ्गमम्॥''[1]

अर्थात्- 'ध्वनि ही सृष्टि का परममूल तत्त्व है, ध्वनि ही सब वस्तुओं का कारण है, यह दृश्यमान चराचर जगत् ध्वनि के द्वारा आक्रान्त अर्थात् व्याप्त है।'

संगीत में यह ध्वनि सामान्य न होकर विशिष्ट हो जाती है कारण है कि यहाँ, संगीतोपयोगी नाद शब्दप्रधान नहीं बल्कि स्वरप्रधान है, अतः संगीत का मूल उपादान तत्त्व 'स्वर' ही है। ये स्वर श्रुतियों से मिलकर बनते हैं किन्तु व्यवहार में स्वरों का ही प्रयोग होता है न कि श्रुतियों का, क्योंकि श्रुतियाँ अत्यन्त सूक्ष्म होती हैं, जिन्हे हम अनुभव कर सकते हैं किन्तु इन्हें प्रत्यक्ष पृथक्-पृथक् इन्द्रियगोचर नहीं बनाया जा सकता है, संगीतसमयसार में प्राप्त है- **''श्रूयत इति श्रुतिः''**[2] अर्थात्-'सुनी जाती है इसलिए श्रुति कहलाती है' सम्भव है कि सुने जाने मात्र की योग्यता रखती है, इसलिए श्रुति कहलाती है। संगीतरत्नाकर में स्वर की परिभाषा इस प्रकार वर्णित है-

''श्रुत्यनन्तर भावी यः स्निग्धोऽनुरणनात्मकः।
स्वतो रञ्जयति श्रोतृचित्तं स स्वर उच्यते॥''[3]

अर्थात्- 'श्रुति के बाद बिना अन्तर के होने वाला जो स्निग्ध अनुरणनरूप नाद श्रोता के चित्त को स्वतः रंजित करता है, वह स्वर कहा जाता है।' महाभाष्य में स्वर शब्द की व्याख्या इस प्रकार है-**''स्व + र = स्वयं राजन्त इति स्वराः''**[4] जो बिना किसी अन्य वर्ण की सहायता से स्वयं प्रकाशमान हों, वे स्वर हैं। वस्तुस्तु यह व्युत्पत्ति व्याकरण शास्त्र के स्वरों के लिए अधिक समीचीन है। व्याकरण शास्त्र के महत्वपूर्ण ग्रन्थ लघुसिद्धान्त कौमुदी में कहा गया है-''अचः स्वराः''[5] ,अतः अ,इ,उ,ऋ,ऌ,ए,ओ,ऐ,औ कुल नौ स्वर है; लघु, दीर्घ तथा प्लुत भेद से पुनः इनके अनेक प्रकार हैं; अस्तु!

''बाईस श्रुतियों में कुल शुद्ध सात स्वर विद्यमान हैं, जिनके संस्कृत नाम क्रमशः षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद हैं, जिन्हे सुविधानुसार स,रि,ग,म,प,ध और नि संज्ञा से जानते हैं।''[6] वस्तुतः ये संज्ञाएँ संस्कृत नाम के प्रथम अक्षर से ग्रहण की गई है, किन्तु स और रि अपभ्रंश रूप में हैं।[7] ''यहाँ शंका उठती है कि ऋषभ को छोड़कर सभी स्वर नाम व्यंजन से आरम्भ हैं तो फिर भी इन्हे स्वर कहा जाता है! इस पर संगीतरत्नाकर के टीकाकार कल्लिनाथने शंका उठाकर यह समाधान किया है कि आचार्यो की परिभाषा यानी विशेष प्रयोग के अनुसार ये नाम ध्वनियों के संकेत मात्र हैं, इसलिए ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए।[8]

सातों स्वरों के वाचक पशु-पक्षियों को मानते हुए, नारदीय शिक्षा में उल्लिखित है-

''षड्जं वदति मयूरो गावो रम्भति चर्षभम्।
अजाविके तु गान्धारं क्रौञ्चो वदति मध्यमम्॥
पुष्पसाधारणे काले कोकिला वक्ति पञ्चमम्।
अश्वस्तु धैवतं वक्ति निषादं वक्ति कुञ्जरः॥''[9]

अतः सातों स्वरों के वाचक क्रमशः मोर, गाय, बकरी, क्रौञ्च, कोयल, घोड़ा और हाथी हैं; अन्य ग्रन्थकारों ने भिन्न मत से ऋषभ का वाचक 'गाय' को न मानते हुए 'चातक' तथा धैवत का वाचक 'घोड़ा' न मानते हुए 'मेढक' को माना है। सातों स्वर क्रमशः चार,तीन,दो,चार,चार,तीन और दो श्रुतियों से मिलकर बने हैं, अतः सातों स्वरों की स्थापना क्रमशः चौथी, साँतवीं, नौवीं, तेरहवीं, सत्रहवीं, बीसवीं और बाइसवीं श्रुति पर है। वस्तुतः ये षड्जग्रामिकी व्यवस्था है, कथन है-

''चतुष्चतुष्चतुष्चैव षड्जमध्यमपञ्चमाः।
द्वे-द्वे निषादगान्धारौ त्रिस्त्री ऋषभधैवतौ॥''[10]

मध्यम ग्राम में यही स्वर व्यवस्था क्रमशः चार, तीन, दो, चार, तीन, चार तथा दो है। अतः षड्जादि सातों स्वर क्रमशः चौथी, सातवीं, नौवीं, तेरहवीं, सोलहवीं, बीसवीं तथा बाईसवीं श्रुति पर व्यवस्थित होते हैं, मूल अन्तर यह है कि यहाँ पञ्चम की एक श्रुति धैवत को प्राप्त हो रही है, अतः पञ्चम त्रिश्रुतिक तथा धैवत चतुश्रुतिक हो जाता है, उक्ति है- **''त्रिश्रुतिर्धैवस्तु स्याच्चतुःश्रुतिक एव च''**[11], एक विशिष्ट बात यह है कि मध्यमग्राम, मध्यम (म) स्वर से आरम्भ होता है। और हाँ! बाईस श्रुतियाँ कुल पाँच जातियों- दीप्ता, आयता, करुणा, मृदु और मध्या में विभक्त है-**''दीप्ताऽऽयता च करुणा मृदुर्मध्येति जातयः। श्रुतीनां पञ्च....,''**[12]।

प्रमुख रूप से स्वरों को तीन स्थानों में प्रयोग करते हैं, हृदय से उत्पन्न नाद 'मन्द्र', कण्ठ से उत्पन्न नाद 'मध्य' तथा मूर्धा से उत्पन्न नाद 'तार', संज्ञा से ज्ञेय हैं, ये उत्तरोत्तर दुगुने होते हैं, अतः मन्द्र से दुगुना मध्य तथा मध्य से दुगुना तार की अवस्था होती है।[13] एक भिन्न मतानुसार, आचार्य पार्श्वदेव कृत संगीतसमयसार में मन्द्र, मध्य तथा तार की पृथक्-पृथक् बाईस श्रुतियों का नाम दिया गया है, अतः वहाँ कुल छियाछठ (छाछठ) श्रुतियाँ उल्लिखित है। बाईस श्रुतियों की सिद्धि को सारणा-चतुष्टयी की क्रिया द्वारा समझा जाता है, जिसमें प्रयुक्त एक वीणा चल तथा दूसरी अचल संज्ञा से ज्ञेय है, अचलवीणा को ध्रुव वीणा भी कहते हैं।[14] यह प्रक्रिया कण्ठ के द्वारा नहीं समझायी जा

* शोधच्छात्र, संगीतशास्त्र विभाग, संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

** वरिष्ठ सहायक आचार्य, संगीतशास्त्र विभाग, संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

सकती है, क्योंकि कण्ठ की एक सीमा है, जब कि वीणा पर, यह (स्वरों का उत्कर्ष अथवा अपकर्ष) सहजता पूर्वक सम्भव है।

स्वरों का ऐसा समूह जो मूर्च्छना आदि का आश्रय हो, उसे 'ग्राम' कहते हैं-''**ग्रामः स्वरसमूहः स्यान्मूर्च्छनादेः समाश्रयः।**''[15] षड्ज, मध्यम तथा गांधार ऐसे तो तीन ग्राम हैं; गान्धार ठााम गान्धर्व लोक में प्रयुक्त है जब कि षड्ज और मध्यम भूलोक पर, किन्तु षड्ज ग्राम प्रधान और प्रयोज्य है।[16] जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट है कि जो स्वर समूह मूर्च्छना आदि का आश्रय हो, वह ग्राम है, यहाँ 'आदि' के अन्तर्गत तान, राग, जाति आदि सब कुछ समाहित है। सातों स्वरों का क्रमागत आरोह (स्वरों के बढ़ते हुए क्रम को आरोह कहते हैं, यथा-सा रे ग म.....) और अवरोह (स्वरों के घटते हुए क्रम को अवरोह कहते हैं, यथा- सां नि ध प....) मूर्च्छना कहलाती है-''**क्रमात्स्वराणां सप्तानामारोहश्चावरोहणम् मूर्च्छनेत्युच्यते, ग्रामद्वये ताः सप्त सप्त च॥**''[17] इस प्रकार तीन ग्रामों में कुल इक्कीस मूर्च्छना प्राप्त होती है। मूर्च्छनाओं का एक प्रमुख प्रयोजन विभिन्न प्रकार की स्वरावलियाँ प्राप्त करना है। श्रोता के चित्त को सुख प्रदान करने वाले स्वर का कम्पन गमक कहलाता है-''**स्वरस्य कम्पो गमकः श्रोतृचित्तसुखावहः।**''[18] भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में गमकों की संख्या भिन्न-भिन्न है, फिर भी संगीत रत्नाकर में कुल पन्द्रह गमक वर्णित है।

मूल स्वरों को शुद्ध तथा अपने स्थान से च्युत होने पर अथवा गुण-धर्म परिवर्तन होने पर स्वरों को विकृत कहते हैं, विभिन्न ग्रन्थकारों ने विकृत स्वरों को पृथक्-पृथक् संख्या में बताया है, संगीतरत्नाकर में कुल बारह विकृत स्वर हैं-''**त एव विकृतावस्था द्वादश प्रतिपादिताः।**''[19] अधुना शास्त्रीय संगीत में उत्तर भारतीय तथा दक्षिण भारतीय पद्धति में विकृत स्वरों की संख्या एवं संज्ञा भिन्न-भिन्न है, उत्तर भारतीय संगीत में कुल पाँच विकृत स्वर है, जिसमें रे, ग, ध, नि-कोमल तथा म-तीव्र होता है, वहीं दक्षिण भारतीय संगीत में कुल विकृत स्वरों की संख्या सात है, कहीं-कहीं एक ही स्थान पर दो स्वर मान्य है; एक शुद्ध, अन्य विकृत। विशेषता यह है कि दोनों ही पद्धतियों में 'सा' और 'प' अचल संज्ञा से तथा शेष स्वर चल संज्ञा से जाने जाते हैं।[20]

जिन दो स्वरों के मध्य नौ या तेरह श्रुतियों का अन्तर हो वे परस्पर वादी-संवादी होते हैं किन्तु दोनों स्वरों में निहित श्रुति संख्या समान होनी चाहिए, इस नियम को 'समश्रुतिकता-नियम' कहते हैं, यथा-षड्जग्राम में सा-म, सा-प संवाद आदि तथा मध्यम ग्राम में सा-म, रे-प संवाद आदि। वादी-संवादी का प्रयोग राग के सौन्दर्य से भी जुड़ा हुआ है, वादी स्वर का प्रयोग राग गायन में बार-बार (अधिक) होता है, यह राग का सर्व महत्वपूर्ण स्वर होता है। वादी स्वर का जिससे संवाद स्थापित हो, उसे संवादी स्वर कहते हैं, अर्थात् राग का द्वितीय महत्त्वपूर्ण स्वर 'संवादी' होता है। राग विशेष गायन-वादन में जिस स्वर का प्रयोग वर्जित हों, उसे 'विवादीं' स्वर कहते हैं, विवादी स्वर में परस्पर दो श्रुतियों का अन्तर होता है। कभी-कभी कुशल गायक चातुर्य पूर्वक विवादी स्वर का भी प्रयोग करते हैं, शेष स्वरों को 'अनुवादी' स्वर कहते हैं-'**शेषाणामनुवादित्वम्**'[21] संगीतरत्नाकर में वादी-संवादी-विवादी तथा अनुवादी को क्रमशः राजा, मन्त्री, शत्रु तथा सेवक की उपमा से बताया गया है।[22]

राग और स्वर में कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित है। बृहद्देशी में राग की परिभाषा इस प्रकार है-

''**योऽसौ ध्वनिविशेषस्तु स्वरवर्णविभूषितः।**
रञ्जको जनचित्तानां स च राग उदाहृतः।''[23]

अर्थात्-'स्वर एवं वर्ण से विभूषित विशिष्ट ध्वनि जो लोगों के चित्त का रंजन करती है, उसे राग कहा गया है।' गान क्रिया वर्ण कही जाती है। यह चार प्रकार से निरूपित है-स्थायी, अरोही, अवरोही तथा संचारी, यथा-''**गानक्रियोच्यते वर्णः स चतुर्धा निरूपितः। स्थाय्यारोह्यवरोही च संचारीत्यथ लक्षणम्॥**''[24] स्वरों को विविध क्रमों में परिवर्तित कर नियोजित करने को अलंकार कहते है-''**विशिष्टं वर्णसंदर्भमलङ्कारं प्रचक्षते।**''[25]

स्वर शब्द संख्या 'सात' का वाचक है, स्वर शब्द का प्रयोग इस अर्थ में पिंगल के छन्दश्शास्त्र में मिलता है-''**स्वरा अर्धं चार्यार्धम्**''[26] अर्थात्-'जहाँ स्वर अर्थात् सात गण होते हैं और आधा (अर्थात् साढ़े सात) वह आर्या छन्द का आधा भाग होता है। एक स्वर में गान को आर्चिक, दो में गाथिक, तीन में सामिक, चार में स्वरान्तर, पाँच में औडुव, छः में षाडव तथा सात स्वरों के गायन को सम्पूर्ण कहते हैं। सामिक शब्द का सम्बन्ध सामवेद से है। इस शब्द से स्पष्ट है कि साम-गायन के लिए कम से कम तीन स्वरों का प्रयोग आवश्यक था। तीन स्वरों से लेकर सात स्वरों तक का विकास साम-संगीत के साथ हुआ-''**आर्चिकं गाथिकं चैव सामिकं च स्वरान्तरम्।**''[27] अधुना राग गायन में औडुव, षाडव और सम्पूर्ण के मिश्रण से राग के जाति का निर्धारण होता है। अतः कुल नौ जातियाँ प्रयोग में हैं। इन जातियों का सम्बन्ध प्राचीन जाति गायन से नही समझना चाहिए। सात स्वरों के एक नाम-क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मन्द्र तथा अतिस्वार्य है-''**प्रथमश्च द्वितीयश्च तृतीयोऽथ चतुर्थकः। मन्द्रः क्रुष्टो ह्यतिस्वार एतान् कुर्वन्ति सामगाः।**''[28] स्वरों की सामूहिक संज्ञा 'यम' भी है, जिनका क्रम अवरोही होता था-''**क्रुष्टादय एव यमा उच्यन्ते, ते च उत्तरोत्तर नीचाः भवन्ति।**''[29]

उदात्त, अनुदात्त, स्वरित भी वैदिक स्वर हैं, वस्तुतस्तु ये स्थान (तारता की दृष्टि से) के बोधक थे। उच्च के लिए उदात्त, नीचे के लिए अनुदात्त तथा मध्य के लिए स्वरित का प्रयोग होता था-''**उच्चैरुदात्तः, नीचैरनुदात्तः, समाहारः स्वरितः**''[30] उदात्त, अनुदात्त, तथा स्वरित को मन्द्र, मध्य तथा तार से भी ग्रहण करना उचित है। एक मत में सप्तस्वरों को उदात्तादि से सम्बद्ध करते हैं; निषाद और गान्धार को उदात्त, ऋषभ और धैवत को अनुदात्त तथा षड्ज, मध्यम और पञ्चम को स्वरित की संज्ञा से मानते हैं-

''**उदात्ते निषादगान्धारावनुदात्ते ऋषभधैवतौ।**
स्वरितप्रभवा ह्येते षड्जमध्यमपञ्चमाः॥''[31]

भिन्न मत में चतुःश्रुतिक स्वरों को उदात्त, त्रिश्रुतिक स्वरों को स्वरित तथा द्विश्रुतिक स्वरों को अनुदात्त की संज्ञा दी गयी है-

''**उदात्ताः समपाः प्रोक्ताः स्वरितौ च रिधौ स्वरौ।**
अनुदात्तौ गनी तस्माज्जगतोऽप्यस्य हेतुता॥''[32]

प्राचीन काल में मध्यम स्वर का अतिमहत्त्व था, इसलिए इसे अविनाशी अथवा 'अविलोपी' संज्ञा से जानते थे। चतुःश्रुतिक, त्रिश्रुतिक, द्विश्रुतिक तथा अन्तर स्वरों को क्रमशः-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र नाम से अभिहित किया गया है- ''**.....ब्राह्माणाः समपञ्चमाः। रिधौ तु क्षत्रियौ ज्ञेयौ वैश्यजाती निगौमतौ॥ शूद्रावन्तरकाकल्यौ स्वरौ,.....।**''[33]

'अन्तर-स्वर' का तात्पर्य 'अन्तर-गान्धार' तथा 'काकली-निषाद' से है, जो भरतकाल से ही प्रयुक्त होती रही है, आज भी दक्षिण भारतीय स्वरों में इनका नाम विद्यमान है। षड्ज, गान्धार और मध्यम देवकुल से; पंचम पितृकुल से; ऋषभ और धैवत ऋषिकुल से तथा निषाद असुरकुल से उत्पन्न हुआ है-

''गीर्वाणकुलसम्भूताः षड्जगान्धारमध्यमाः।
पञ्चमः पितृवंशोत्थो रिधावृषिकुलोद्भवौ॥
निषादोऽसुरवंशोत्थो.....।''[34]

षड्ज, गान्धार और मध्यम; ग्राम इसलिए हैं क्योंकि ये देव कुल से उत्पन्न हुए हैं। सातो स्वरों के रंग क्रमशः-पद्म की आभा वाला (लालकमल), शुक वर्ण (हल्म पीला), सुवर्ण (सोने जैसा), चमेली, कृष्णवर्णी (काला), पीतवर्णी (पीला) तथा मिश्रितवर्ण के समान या चितकबरा समझना चाहिए-

''.....वर्णास्त्विमे क्रमात्।
पद्माभः पिञ्जरः स्वर्णवर्णः कुन्दप्रभोस्ति॥
पीतः कर्बुर इति, ...।''[35]

सातों स्वरों के द्रष्टा क्रमशः-अग्नि, ब्रह्मा, चन्द्रमा, विष्णु, नारद, और तुम्बुरू[36] हैं। अग्नि, ब्रह्मा, सरस्वती, शंकर, विष्णु तथा सूर्य; ये क्रम से षड्जादि सातों स्वरों के देवता कहें गये हैं।[37] जम्बू, शाक, कुश, क्रौञ्च, शाल्मली और श्वेत नामक और पुष्कर नामक द्वीपों में क्रम से षड्जादि सातों स्वर उत्पन्न हुए हैं।[38] अनुष्टुप्, गायत्री, त्रिष्टुप्, बृहती, पंक्ति, उष्णिक्, और जगती; ये षड्जादि सातों स्वरों में छन्द कहे गये हैं।[39] वस्तुतः ये समस्त विचार संगीत के स्वरों की विशिष्टता को दर्शाते हैं; निश्चित रूप से इन सबका महत्त्व विदित है, आगम तन्त्र आदि का प्रभाव भी दृष्टिगोचर है। सातों स्वरों का रसविनियोग करते हुए कहा गया है कि-

''सरी वीरेऽद्भुते रौद्रे धो बीभत्से भयानके।
कार्यौ गनी तु करुणे हास्यशृङ्गारीरयोर्मपौ॥''[40]

अर्थात्- 'वीर, अदभुत और रौद्र रसों में षड्ज और ऋषभ; बीभत्स और भयानक में धैवत; करुण में गान्धार और निषाद तथा हास्य और शृंगार में मध्यम और पञ्चम का विनियोग करना चाहिए' वस्तुस्त ये स्वर पृथक्-पृथक्, रस निष्पत्ति में समर्थ हैं या नहीं! किन्तु किसी स्वरसमूह अर्थात् जातिगायन अथवा रागगायन में तत्तत् स्वरों की प्रधानता के कारण तत्तत् रसों की निष्पत्ति सम्भव है। प्राचीन काल में प्रचलित जाति गायन के 10 दस लक्षण, जो राग-गायन में भी मान्य है, स्वरों से ही अपेक्षित है-

''ग्रहांशौ तारमन्द्रौ च न्यासोऽपन्यास एव च।
अल्पत्वञ्च बहुत्वञ्च षाडवौडविते तथा॥''[41]

जाति के दस लक्षण- (1) ग्रह (2) अंश (3) तार (4) मन्द्र (5) न्यास (6) अपन्यास (7) अल्पत्व (8) बहुत्व (9) षाडव (10) औडव। जिस स्वर से जाति गान का आरम्भ किया जाता है, वह 'ग्रह' स्वर कहलाता है, ग्रह अर्थात् पकड़ना। जातिगान में जिस स्वर का प्रयोग बहुलता से किया जाये, उसे अंश स्वर कहते हैं, जिसे रागगायन में 'वादी' कहते हैं-**''तत्र यो यदांशः स तदा वादी।''**[42] ग्रह और अंश दोनों, एक स्वर भी हो सकते हैं। तार गति का अर्थ है कण्ठ्य अंश स्वर का तार स्थान में जाना इस विधान में अंश स्वर को चौथे, पाँचवें स्वर या सातवें स्वर तक तार स्थान में जाना, चाहिए, इससे ऊँचा जाति प्रयोग में जाना इष्ट नही है।[43] मन्द्र स्थान में स्वरों की गति तीन प्रकार से होती है। अंश तक, न्यास तक तथा अपन्यास तक।[44] जिस स्वर पर अंग की समाप्ति होती है वह 'न्यास' स्वर कहलाता है, इसी प्रकार अंग मध्य की समाप्ति जिस पर होती है, उसे 'अपन्यास' स्वर कहते हैं। स्वरों का अल्पत्व दो प्रकार से होता है-[45] लंघन से तथा अनभ्यास से। स्वर विशेष की अनावृत्ति (एक से अधिक बार न लगाना) अनभ्यास है।[46] इसके विपरीत बहुत्व स्वर का प्रयोग बार-बार होता है। रागगायन-वादन में जिस स्वर का प्रयोग अल्प मात्रा में प्रयुक्त हो, उसे अल्पत्व तथा जिस स्वर का प्रयोग अधिक मात्रा में हो, उसे बहुत्व समझना चाहिए अर्थात् राग विशेष में उस स्वर का अल्पत्व अथवा बहुत्व होता है। छः स्वरों के प्रयोग को षाडव तथा पाँच स्वरों के प्रयोग को औडुव कहते हैं। संगीतरत्नाकर में जातियों के तेरह लक्षण बताये गये हैं, उपर्युक्त दस के अतिरिक्त- सन्यास, विन्यास तथा अन्तर-मार्ग का समन्वय है।

जाति के दो भेद-शुद्धा और विकृता, स्वरों से ही अपेक्षित है; सात शुद्ध स्वरों से शुद्धा जातियाँ उद्भूत हैं। जिसमे ग्रह, अंश, न्यास का निर्धारण जाति नाम से किया जाता है; अतः ग्रह, अंश, न्यास तीनों वही स्वर होते हैं; जिनके नाम से 'जाति' है; ग्रह, अंश, न्यास आदि के परिवर्तन से विकृता जातियाँ उत्पन्न होती हैं। शुद्धा सात तथा विकृता ग्यारह, ऐसे कुल अट्ठारह जातियाँ हैं।[47]

'पूर्व' स्थिति का जहाँ पूर्णतया अन्त न हो और 'पर' स्थिति को भी जहाँ अनागत न कहा जा सके, वह स्थिति 'साधारण' है, जो स्वर न तो पूर्व स्थिति को पूर्णतया छोड़ चुका हो और न ही पर स्थिति को पूर्णतया ग्रहण किए हो, जो दोनों का आधार लिए हो, वह 'स्वर-साधारण' है। संगीत में 'साधारण' दो प्रकार के है- 'स्वर-साधारण' और 'जाति-साधारण।' स्वर साधारण पुनः चार रूपों में है- अन्तर-साधारण के अन्तर्गत 'काकली-साधारण तथा 'अन्तर-साधारण'; कैशिक-साधारण के अन्तर्गत 'षड्ज-साधारण' तथा 'मध्यम-साधारण' समाहित है।

पं0 अहोबलकृत संगीतपारिजात सहित अनेक ग्रन्थों में वीणा के तार पर स्वरों की स्थापना की गयी है, जिसे बाद में पं0 भातखण्डे ने गणितीय रूप में प्रतिपादित किया, अनेक मतभेद होते हुए भी, सामान्य रूप से षड्जादि सातों स्वर क्रमशः 36'', 32'', 30'', 27'', 24'', 20'', तथा 18''[48] पर अवस्थित हैं (चिन्ह '' अर्थात् इन्च)। पाश्चात्य संगीत के मतानुसार प्रत्येक स्वर की एक निश्चित आवृत्ति होती हैं, इसी आवृत्ति के कारण तीव्रता, तारता आदि अनेक गुणों का विकास होता है तथा स्वर परस्पर सम्बद्ध भी होते हैं। मध्य सप्तक में षड्जादि सातों स्वरों की आवृत्ति क्रमशः 240,270,300, 320, 360, 400, तथा 450 हर्ट्ज है।[49] पुनः इस स्वर आवृत्ति के सन्दर्भ में अनेक तर्क प्रस्तुत किए जाते हैं, इसमें भी मतभिन्नता है।

अन्ततः यही सिद्ध किया जाता है कि यह नादमयी विद्या, सामवेद से उद्भूत है। 'साम' शब्द के कई अर्थ हैं। एक प्रसंग में साम का अर्थ है, 'गान अथवा स्वर', दृष्टव्य है-**''स्वरः सामशब्देन लोकेऽभिधीयते। सुसामा देवदत्तः सुस्वरो देवदत्त इति।''**[50] अर्थात्-प्रयोग में 'स्वर' का पर्याय 'साम' शब्द है। यदि हम कहें कि देवदत्त सुसाम है, तो इसका अर्थ है कि वह सुस्वर

है। अतः प्रमाणित है कि 'स्वर' एक है किन्तु विविध प्रयोग में यह अनेक रूपों में दृष्टिगोचर है, वस्तुतः प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सम्पूर्ण संगीत में 'स्वर' तत्त्व 'प्राण' रूप में विद्यमान है।

सन्दर्भ सूची-

1. क्षीरसागर, डी0बी0 (अनुवादक); मतंगमुनिकृत बृहद्देशी; श्लोक सं0 12
2. बृहस्पति आचार्य (सम्पादन-अनुवाद); आचार्य पार्श्वदेवकृत संगीतसमयसार, पृ0सं0 60
3. चौधरी, सुभद्रा (व्याख्या और अनुवादकर्त्री); शार्ङ्गदेवकृत संगीतरत्नाकर, प्रथम खण्ड; 1/3/24-25
4. सिंह, ठाकुर जयेदव; भारतीय संगीत का इतिहास; पृ0सं0 16
5. आचार्य वरदराज; लघु सिद्धान्त कौमुदी; पृ0सं0 17
6. चौधरी, सुभद्रा (व्याख्या और अनुवादकर्त्री); शार्ङ्गदेवकृत संगीतरत्नाकर, प्रथम खण्ड; पृ0सं0 69
7. वही, पृ0सं0 71
8. वही, पृ0सं0 72
9. नारदीय शिक्षा, श्लोक सं0 1/5/3-4
10. पं0 कलिन्द जी (भाष्यकार); श्री अहोबलपण्डित कृत संगीतपारिजात, पृ0सं0 19
11. नाट्यशास्त्र; श्लोक सं0 28/27
12. चौधरी, सुभद्रा (व्याख्या एवं अनुवादकर्त्री); शार्ङ्गदेवकृत संगीतरत्नाकर; श्लोक सं0 1/3/27
13. वही, पृ0सं0 59
14. वही, पृ0सं0 65
15. वही, श्लोक सं0 1/4/1
16. वही, पृ0सं0 93
17. वही, श्लोक सं0 1/4/9
18. चौधरी, सुभद्रा (व्याख्या और अनुवादकर्त्री); शार्ङ्गदेवकृत संगीतरत्नाकर, द्वितीय खण्ड; 3/87
19. चौधरी, सुभद्रा (व्याख्या और अनुवादकर्त्री); शार्ङ्गदेवकृत संगीतरत्नाकर, प्रथम खण्ड; 1/3/39
20. परांजपे, शरच्चन्द्र श्रीधर; संगीतबोध, पृ0सं0 6
21. चौधरी, सुभद्रा (व्याख्या और अनुवादकर्त्री); शाङ्गदेवकृत संगीतरत्नाकर, प्रथम खण्ड; पृ0सं0 86
22. वही, पृ0सं0 88
23. क्षीरसागर डी0 बी0 (अनुवादक), मतंगकृत बृहद्देशी पृ0सं0 144
24. चौधरी, सुभद्रा (व्याख्या और अनुवादकर्त्री); शार्ङ्गदेवकृत संगीतरत्नाकर, श्लोक सं0 1/6/1
25. वही, श्लोक सं0 1/6/3
26. सिंह, ठाकुर जयदेव; भारतीय संगीत का इतिहास; पृ0सं0 17
27. परांजपे, शरच्चन्द्र श्रीधर; संगीत बोध; पृ0सं0 46
28. सिंह, ठाकुर जयदेव; भारतीय संगीत का इतिहास; पृ0सं0 46
29. वही, पृ0सं0 47
30. आचार्य वरदराज; लघु सिद्धान्त कौमुदी; पृ0सं0 15
31. सिंह, ठाकुर जयदेव; भारतीय संगीत का इतिहास; पृ0सं0 112
32. शर्मा, प्रेमलता (सम्पादिका); कुम्भकुर्ण प्रणीत संगीतराज; श्लोक सं0 1/1/2/19
33. चौधरी, सुभद्रा (व्याख्या और अनुवादकर्त्री); शार्ङ्गदेवकृत संगीतरत्नाकर, श्लोक सं0 1/3/53-54
34. वही, श्लोक सं0 1/3/52-53
35. वही, श्लोक सं0 1/3/54-55
36. वही, पृ0सं0 90
37. वही, पृ0सं0 90
38. वही, पृ0सं0 89
39. वही, पृ0सं0 90
40. वही, श्लोक सं0 1/3/59
41. नाट्यशास्त्र, श्लोक सं0 28/74
42. चौधरी, सुभद्रा (व्याख्या और अनुवादकर्त्री); शार्ङ्गदेवकृत संगीतरत्नाकर, पृ0 सं0 84
43. शास्त्री, श्री बाबूलाल शुक्ल (संपादक एवं व्याख्याकार); नाट्यशास्त्र, चतुर्थ भाग, पृ0 सं0 39
44. वही, पृ0 सं0 39
45. वही, पृ0 सं0 40
46. वही, पृ0 सं0 41
47. चौधरी, सुभद्रा (व्याख्या और अनुवादकर्त्री); शार्ङ्गदेवकृत संगीतरत्नाकर, प्रथम खण्ड, पृ0 सं0 141
48. परांजपे, शरच्चन्द्र श्रीधर; संगीत बोध; पृ0 सं0 36
49. वही,पृ0 सं0 42
50. सिंह, ठाकुर जयदेव; भारतीय संगीत का इतिहास; पृ0 सं0 14

सन्दर्भित-ग्रन्थसूची-

1. आचार्य वरदराज; लघुसिद्धान्त कौमुदी; गीताप्रेस गोरखपुर; संवत् 2069।
2. कौडिन्यायनः शिवराज आचार्यः (व्याख्याकार); नारदीय शिक्षा; चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी; सन् 2008 (प्रथम)।
3. चौधरी, सुभद्रा (व्याख्या और अनुवादकर्त्री); शार्ङ्गदेवकृत संगीतरत्नाकर (प्रथम खण्ड); राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली; सन् 2000 (प्रथम)।
4. चौधरी, सुभद्रा (व्याख्या और अनुवादकर्त्री); शार्ङ्गदेवकृत संगीतरत्नाकर (द्वितीय खण्ड); राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली; सन् 2008।
5. परांजपे, शरच्चन्द्र श्रीधर; संगीत बोध; मध्य-प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल; सन् 2004 (पंचम)।
6. बृहस्पति, कैलाशचन्द्रदेव (सम्पादन-अनुवाद); आचार्य पार्श्वदेवकृत संगीत समयसार; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; सन् 2009 (द्वितीय)।
7. शर्मा, प्रेमलता (सम्पादिका); नृपतिकुम्भकर्णप्रणीतः संगीतराजः (प्रथम खण्ड); काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी; सन् 1963।
8. शास्त्री, बाबूलाल शुक्ल (व्याख्याकार); भरतमुनि प्रणीत नाट्यशास्त्र भाग-4; चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी; विक्रमी संवत् 2065।
9. संगीत कला कोविद् पं0 'कलिन्द जी' (भाष्यकार); श्री अहोबल पण्डित कृत संगीतपारिजात; संगीत कार्यालय हाथरस, सन् 1956।
10. सिंह, ठाकुर जयदेव; भारतीय संगीत का इतिहास; विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी; सन् 2010 द्वितीय।
11. क्षीरसागर, डी0बी0 (अनुवादक), श्री मतंगमुनिकृत बृहद्देशी; पब्लिकेशन स्कीम, जयपुर, भारत; सन् 1998।

●

व्यक्तित्व के विकास में संगीत की भूमिका

सुनील कुमार गुप्ता एवं डॉ0 ज्ञानेश चन्द्र पाण्डेय***

व्यक्तित्व के विकास में संगीत की भूमिका एक ऐसा विषय है जिसपर दृष्टिपात करने से पूर्व आवश्यक है जीवन में संगीत की स्थिति को समझना और उसे व्यक्तित्व से जोड़कर देखना। जैसा कि संगीत शब्द से ही स्पष्ट है कि संगीत मानव जीवन में सम् का बोधक है। मानव जीवन में जीवन की रचना में पंचभूतों का सम् है-पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश। इन पाँच तत्त्वों की पाँच-पाँच प्रकृतियों से शरीर का साम्य स्थापित होता है। इन पाँच तत्त्वों में संगीत वायु तत्त्व से संबंधित है। तत्त्व के पाँच प्रकृतियाँ हैं बोलना, चलना, मोड़ना, फेंकना और फैलाना। संगीत में भी स्वर, स्वरों की गति, स्वरों का लोच, स्वर विस्तार आदि का संयोग है। शास्त्रसम्मत विचार है कि मनुष्य गर्भावस्था में ही अपने माँ की हृदय की धड़कन के रूप में संगीत को आत्मसात करता है। इसीलिए बच्चा जब जन्म लेता है तो रोता है और जब माँ उसे सीने से लगाती है तो बच्चा चुप हो जाता है। वही शिशु जब किसी दूसरी स्त्री के गोद में जाता है तो रोने लगता है। इसीलिए कि नवजात शिशु अभी तक अपनी माँ की हृदय गति को सुन पाया है। संगीत में वाणी का तप भी निहित है। कोमल, प्रिय, सुमधुर एवं हितकर वाणी का प्रकाश संगीत के माध्यम से उत्तम माना गया है। यही कारण है कि एक निश्चित मात्रा और गति में गायन करने से उसके ध्वनि का प्रभाव शब्दगत भावों के अनुकूल मानव सहित पशु-पक्षी का प्रभाव शब्दगत भावों के अनुकूल मानव सहित पशु-पक्षी एवं वनस्पतियों पर भी पड़ता है। जिस प्रकार संगीत सुनकर एक बच्चा आकर्षित होता है उसी प्रकार जानवर भी आकर्षित होता है। संगीत का सीधा संबंध धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, पुरूषार्थ चतुष्टय से सीधा संबंध है। धर्म, अर्थ और काम के त्रिवर्ग साधन में संगीत की अहम भूमिका है। ईश्वर का स्तुतिगान, संकीर्तन, भक्ति पद आदि का गायन धर्म साधन के अंतर्गत आता है। श्रृंगार, करूण, हास्य आदि रस प्रधान संगीत कामसाधन के अन्तर्गत आता है। इसीलिए प्रातःकाल धर्म साधन, दिनभर अर्थसाधन और सायंकाल संगीत के गायन, वादन, नृत्यादि से आमोद प्रमोद एवं आनन्द प्राप्त करने के लिए संगीत की परंपरा है। सायंकाल संगीत सुनने से भाव एवं संवेगात्मक विकास होता है। जीवन में मनोरंजन की आवश्यकता की पूर्ति होती है। संगीत से प्राप्त मनोरंजन सभी प्रकार के मनोविकारों को दूर कर जीवन में समता, समरसता और सहजता का संचार करता है। संगीत का स्वस्थ्य मनोरंजन जीवन को नई उर्जा और स्फूर्ति प्रदान करता है। संगीत के साधकों को वह सब कुछ प्राप्त होता है जो मानव जीवन को पूर्णता प्रदान करती है। क्योंकि खासकर शास्त्रीय संगीत में एक साधक को तपस्वी और संयमी के रूप में निष्ठ पूर्वक गुरु के बताये मार्गदर्शन का कठिन अभ्यास करना होता है। इसीलिए योग साधना का एक प्रकार गान योग भी माना गया है। जिस प्रकार योग का चरम लक्ष्य सम्पूर्ण व्यक्तित्व विकास को प्रदान कर आत्मा से परामात्मा को मिला देता है। उसी प्रकार संगीत एक साधक के आत्मा परमात्मा को मिलाकर उसे ब्रह्मानन्द प्रदान करने में सहायक होता है। योग की तरह ही आत्मशुद्धि के लिए संगीत में भी सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिहार्य का महत्व है। शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान योग साधक के तरह ही शास्त्रीय संगीत के साधकों के लिए अभ्यास का अभिन्न अंग होता है। संगीत की साधना के लिए आसन की स्थिरता आवश्यक मानी गई है। प्राणायाम से प्राण और मन पर नियंत्रण कायम करने और स्वर पर अधिकार प्राप्त करने में सफलता मिलती है। प्रत्याहार के बिना संयम का अभ्यास संभव नहीं और संगीत में संयम का विशेष महत्व है। योग की धारणा, ध्यान और समाधि से एकाग्रता, लगनशीलता और समर्पण का अभ्यास दृढ़ होता है। यही पूर्णता प्राप्त करने का उत्तम उपाय होता है।

मनुष्य न केवल हाड़-मांस का पुतला ही है बल्कि क्रोध, प्रसन्नता, ग्लानि, विरक्ति आदि भावों तथा सुख-दुःख की अनुभूतियों का एक पिण्ड भी है। मन में उठनेवाले भाव जब मस्तिष्क के विचार का रूप ग्रहण कर लेते हैं तब उनका मनुष्य के कार्यों पर गहरा प्रभाव पड़ता है। जिस समय मनुष्य का हृदय सद्भावों से भरा होता है उस समय तो वह त्यागी, सेवाभावी तथा कर्त्तव्यनिष्ठ होता है किन्तु जिस समय उसके हृदय में बुरी भावना जागृत होती है तब उसकी दशा इसके विपरीत पाई जाती है। ऐसी परिस्थिति में मनुष्य झूठ बोलता है, चोरी करता है, यहाँ तक कि हत्या आदि जैसे भयानक कार्य करने में भी नहीं हिचकता। शास्त्रों में वर्णित नौ रसों-श्रृंगार, वीर, हास्य, बीभत्स, करुण, भयानक, रौद्र, अद्भुत और शान्त की हृदय में उत्पत्ति कराने में संगीत पूर्णतः समर्थ होता है। महान् कवि एवम् नाटककार शेक्सपियर ने भी कहा है- "The man hath no music in himself or is not moned by the concord of sweet music is fit for treason, stratums and spoils, let no such man be trusted."

अर्थात् जिस मनुष्य में संगीत के प्रति रूचि नहीं, जो इसके मोहक स्वरों से मोहित नहीं होते, वह पतित, विश्वासघाती एवम् आत्मद्रोही है और उसका हृदय अन्धकारमय रात्रि से भी अधिक भयावह है।[1]

संगीत से मन की एकाग्रता बढ़ती है, संगीत से धार्मिकता आती है, उचित अनुचित का ज्ञान हो जाता है तथा संगीत ही मानव की आत्मा को पवित्र करने का भी माध्यम बनता है। संगीत के द्वारा सहयोगिता की भावना और एक दूसरे के प्रति सहानुभूति जागृत होती है। एकता, साहस और साथ मिलकर कार्य करने की भावना का जन्म होता है।

---

* शोध छात्र, गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

** असिस्टेंट प्रोफेसर, गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

व्यस्त दिनचर्या एवम् जीवन की समस्याओं में आज का मानव अपनी मानसिक शान्ति खो बैठा है और मानसिक अशान्ति और अनेकानेक चिन्ताओं से त्रस्त मानव मानसिक और शारीरिक रूप से अस्वस्थ-सा होता जा रहा है। स्वस्थ रहने के लिए शरीर का तनाव-मुक्त रहना अत्यंत आवश्यक है। जब तक हमारी शारीरिक व मानसिक स्थिति तनाव-मुक्त नहीं रहती तब तक हमारा पूर्णरूप से स्वस्थ रहना असम्भव है। तनाव से मुक्ति मिलने का एक ही सहज सरल उपाय है-संगीत। संगीत मानव के लिये प्राकृतिक रूप से तनाव को नियन्त्रित करने तथा उसे खत्म करने में उपयोगी है। हमारे पूर्वजों ने शान्त और निर्जन वनों में बैठकर, अपने मानसिक और आध्यात्मिक विकास के लिए अनेक विद्याओं का अनुसंधान किया जिनसे संगीत की विद्या मानव जीवन से सबसे ज्यादा जुड़ी है। संगीत मानवता का पाठ पढ़ाता है। असभ्य को सभ्य और संकीर्ण हृदय को विश्व-बन्धुत्व का संदेश देता है। संगीत के विषय में शास्त्रों में कहा गया है-

ज्ञानं कोटि गुणं ध्यानं, ध्यानं कोटि गुणं श्रोत्रम्।
श्रोतं कोटि गुणं जपं, जपं कोटि गुणं मानम्॥

अर्थात् ज्ञान, श्रोत, ध्यान और जप इन सभी से बढ़कर गायन है क्योंकि गायन से परे कुछ नहीं। विश्व के कण-कण में संगीत परमात्मा के अंश की तरह व्याप्त है। मेघों की मन्द गम्भीर ध्वनि, सागर की तरंगों का गर्जन, झरनों का कलकल निनाद और उपवनों में पक्षियों का कलरव, ये सब शाश्वत संगीत के ही विविध रूप हैं। संगीत ही मानव के मन की भावनाओं को व्यक्त करने का सर्वोत्तम साधन माना जाता है।[2]

हृदय को प्रकम्पित करनेवाले गान मृतप्राय हृदय में संजीवनी, नैराश्य में आशा, चिन्ता की प्रज्जवलित ज्वाला में शान्ति तथ दुःखमय क्षणों में आनन्द प्रदान करते हैं। मोक्ष को प्रदान करनेवाली संगीत कला मनुष्य के भौतिक दुःखों का भी अन्त करती है। यही कारण है कि आज के वैज्ञानिक युग में भी चिकित्सक तथा मनोवैज्ञानिक संगीत में छिपे हुए आरोग्यपरक, स्वास्थ्यदायी तत्त्वों की गवेषणा करने में प्रयत्नशील हैं। गुलाबी तथा अल्ट्रावायलेट (परावैगनी) किरणों के समान संगीत में भी आरोग्यदायक गुण मिले हैं। सन् 1944 में एक बार महात्मा गाँधी की रुग्णता के निवारण में प्रख्यात संगीतविद् मनहर बर्बे के गायन से आशातीत सफलता प्राप्त हुई थी। गाँधीजी उन दिनों अस्वस्थ थे उनकी दैनन्दिनी पूर्णतया प्रभावित हो गयी थी। चिकित्सक अपना कार्य मुस्तैदी से कर रहे थे। श्री मनहर बर्बे ने अपनी सेवाएँ प्रस्तुत की। अगले दिन डाक्टरी रिपोर्ट सारे पत्रों से बैनर लाइन में छपी। गाँधीजी पर संगीत का आशातीत प्रभाव पड़ा था। उस समय गाँधीजी का मौन व्रत था। पास पड़े पुर्जे को उठाकर उन्होंने लिखा-''श्री मनहर बर्बेजी, आपका यह संगीत तो मेरे लिए महौषधि है।''[3]

व्यक्तित्व का पूर्ण विकास तभी सम्भव है जब व्यक्ति के ज्ञानात्मक क्रियात्मक व भावात्मक विकास तीनों का परस्पर संतुलन हो। संगीत का संबंध यद्यपि तीनों से है परन्तु प्रमुख रूप से भावात्मक विकास से है। संगीत शिक्षा से शिक्षार्थी में साधना शक्ति व संयम पल्लवित होता है। कंठ संगीत की प्रवाहात्मकता दीर्घ श्वास-प्रक्रिया से, वाद्य संगीत अंग विशेष के संचालन की प्रक्रिया से तथा नृत्य शारीरिक अंगों व भाव भंगिमाओं की प्रक्रिया से सीधा सम्बन्ध रखते हैं परन्तु भावनात्मक अभिव्यक्ति के लिए यह तीनों ही शिक्षार्थी की वैयक्तिक प्रतिभा व कला कौशल की अपेक्षा रखते हैं क्योंकि शारीरिक व मानसिक वृत्तियों का समन्वय ही भावनात्मक व रचनात्मक क्रियाशीलता को परिपक्व कर आत्माभिव्यक्ति का अवसर प्रदान करता है।[4]

विश्वभर में समय-समय पर हुए प्रयोगों में यह रिकार्ड किया गया है कि संगीत का मनोरोगियों, शिशुओं, गर्भधारी माताओं, यहाँ तक की जानवरों और पेड़-पौधों पर सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। यद्यपि चिकित्सक संघ संगीत को एक आवश्यक चिकित्सा पद्धति के रूप में स्वीकार करने में हिचकता है, परन्तु अधिकांश डाक्टरों का यह मानना है कि संगीत नसों का तनाव दूर करता है मन को नकारात्मकता से दूर रखता है। अतः अब संगीत को अल्टरनेटिव थैरेपी के रूप में प्रयुक्त किया जाने लगा है। 'मन' हमारे व्यक्तित्व का अभिन्न अंग है, हमारी चेतना की अभिव्यक्ति है। हमें अपनी शारीरिक क्षुधाओं का ज्ञान मन से होता है, तो उसी तृप्ति के लिए भोजन की प्रेरणा भी मन से मिलती है। मन शरीर से सम्बद्ध होने के बाद भी अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है। इसका महत्त्व तथा प्रभाव इतना गहरा है कि इसे मनुष्य का भाग्य-विधाता भी कहा जाता है।

वर्तमान समय में आधुनिकता के चलते व्यस्त जीवन शैली के कारण मानव मस्तिष्क तथा शरीर पर आवश्यकता से अधिक दबाव है जो मनुष्य को कई प्रकार की व्याधियों में ग्रसित कर देता है। साथ ही प्रदूषित वातावरण और अनियमित रोगों की संख्या भी अधिक है, जिनमें सभी का इलाज चिकित्सा विज्ञान में सम्भव नहीं।

ऐसे में संगीत को उपचार का माध्यम बनाने के प्रयत्न किये जा रहे हैं। आज की अव्यवस्थित जीवन-शैली तनाव को जन्म देती है जो मानसिक रोगों का कारण बनती है और इस तनाव को दूर करने का एकमात्र साधन 'संगीत' ही है।

हमारा मन संगीत के विभिन्न स्वरों से प्रभावित होता है। सात शुद्ध स्वरों का उद्गम स्थान मानव के विभिन्न अंगों से है-

1. 'सा' का उद्गम स्थान नाभि के नीचे है।
2. 'रे' का उद्गम स्थान नाभि है।
3. 'ग' का उद्गम स्थान भोजन कोष के नीचे का भाग है।
4. 'म' का उद्गम स्थान भोजन कोष है।
5. 'प' का उद्गम स्थान हृदय है।
6. 'ध' का उद्गम स्थान हृदय के ऊपर का भाग है।
7. 'नी' का उद्गम स्थान मस्तिष्क है।

इन स्वरों का भली प्रकार उच्चारण करके गाने या सुनने से शरीर का प्रत्येक अंग स्वस्थ रहता है। स्वरों के उच्चारण मात्र से हृदय, कण्ठ, मस्तिष्ठ के स्नायु नियमित रहते हैं और शरीर के अंगों का व्यायाम हो जाता है। स्वरों में मन्द्र सप्तक में जाने से फेफड़ों का व्यायाम होता है।

सात स्वरों में प्रत्येक स्वर का अपना एक स्थान तथा प्रभाव है। इन्हें ठीक प्रकार से गाने पर निश्चित ही शरीर व मन दोनों पर सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। यदि राग के सम्पूर्ण नियमों का पालन करते हुए उन्हें निर्धारित समय पर गाया एवं बजाया जाये तो वे अवश्य अधिक प्रभावशाली सिद्ध होंगे। भिन्न-

भिन्न रोगों की उपचार सम्बन्धी उपादेयता भिन्न है। यह राग मानसिक और शारीरिक दोनों प्रकार के विकारों को दूर करने में प्रभावी होते हैं। 'राग मल्हार- क्रोध, अति आवेश, व मानसिक अस्थिरता का निदान करने में सहायक होता है जबकि 'राग दरबारी कान्हड़ा', 'खमाज' तथा 'पूरिया', तथा 'राग तोड़ी' क्रोध, अति तनाव व मानसिक अशांति का निदान करते हैं।[5]

पंडित ओंकारनाथ ठाकुर ने अनिद्रा के लिये राग-दरबारी में तालयुक्त आलाप करके एक घण्टे तक रोगी को सुनाया तो उसे नींद आ गई। पं0 जसराज जी ने राग पूरिया में तालयुक्त आलाप आधे घण्टे तक सुनाकर पूना के अस्पताल में प्रयोग किया इससे रोगी को अनिद्रा से आराम मिला।[6]

राग के आरोह व अवरोह का प्रभाव भी भिन्न-भिन्न होता है। आरोही स्वर उपरिमुख या बहिर्मुखी प्रभावों को उत्पन्न करते हैं। यही कारण है कि बच्चों, छात्रों और सैनिकों के लिये बजाये जानेवाले संगीत में देशप्रेम से ओतप्रोत रचनाओं में आरोही स्वर प्रधान होते हैं। अवरोह अंतर्मुखी भावनाओं व प्रभावों को उत्पन्न करते हैं। मानव चित्त पर इनका असर शान्त व अवसादपूर्ण होता है।

अतः शास्त्रीय संगीत की साधना में विशेष नियम एवं अनुशासन निर्धारित किए गए हैं जो व्यक्तित्व के विकास में विशेष रूप से सहायक सिद्ध होता हैं। इन नियमों एवं अनुशासन को जीवन में प्रयोग कर एक साधारण व्यक्ति विशेष व्यक्तित्व का निर्माण करने में सक्षम होता है।

सन्दर्भ सूची-

1. शर्मा, स्वतंत्र, सौन्दर्य रस एवं संगीत, प्रतिमा प्रकाशन, दिल्ली 2005, पृ0 214
2. संतोष कुमार, शिल्पायन संगीत लेखमाला, पिल्ग्रिम्स पब्लिशिंग, वाराणसी, 2013, पृ0 204
3. संगीत पत्रिका- श्री मनहर बर्बे, अंक 2007, पृ0 32
4. शर्मा, डॉ0 मृत्युंजय, त्रिपाठी, रामनारायण, संगीत मैनुअल, एच0जी0 पब्लिकेशन हिमाचल प्रदेश 2001
5. वही, पृ0 235
6. शर्मा, स्वतंत्र, सौन्दर्य रस एवं संगीत, प्रतिमा प्रकाशन, दिल्ली 2005, पृ0 207

●

हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत एवं लखनऊ

सत्य प्रकाश एवं प्रो0 सरयू आर0 सोन्नी***

संगीत की तीनों विधाओं (गायन, वादन एवं नृत्य) में लखनऊ की भूमिका इतनी महत्वपूर्ण रही है कि लखनऊ का नाम हिन्दुस्तानी संगीत के इतिहास में अमर हो गया। संगीत विषय की किसी भी चर्चा में लखनऊ का नाम भी ग्वालियर, रामपुर, वाराणसी, आगरा, जयपुर, मैहर, रीवा, अलवर एवं दिल्ली आदि के साथ लिया जाता है। इसके लिए लखनऊ के नवाबों की प्रशंसा की जानी चाहिए जिनमें से अनेक कला प्रेमी और उदार संगीत संरक्षक थे। इनकी उदारता के ही कारण हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों के सांस्कृतिक सम्मलेन से लखनवी संस्कृति का जन्म हुआ और यही संस्कृति लखनऊ की पहचान है। जो यहां की संगीत में भी दिखाई देती है।

लखनऊ की सांगीतिक चर्चा के पूर्व लखनऊ के नामकरण के विषय में चर्चा करना उचित होगा। ऐसा कहा जाता है कि इन नगर को भगवान राम के भाई लक्ष्मण ने बसाया था और इसका प्राचीन नाम लक्ष्मणपुरी था। बाद में इसका नाम लक्ष्मनपुरी, से लखनावती फिर लखनावती से लखनऊती और अकबर के समय में लखनऊ हो गया। आसफुददौला ने 1775 ई0 में फैजाबाद छोड़कर लखनऊ को अवध प्रान्त की राजधानी बनाया। ये लखनऊ के उत्थान एवं प्रगति का सबसे सुनहरा दौर था। इनके शासन काल में ही लखनऊ बागों एवं महलों का शहर बन गया। आसफुद्दौला के लिए कहा जाता है कि जिसको न दे मौला उसको दे आसफुद्दौला उनकी उदारता के कारण ही उनके दरबार में कवियों संगीतकरों एवं दाशर्निकों की भीड़ लगी रहती थी। जब दिल्ली में मुगल-सम्राट की सत्ता छिन गयी और हिन्दुस्तानी संगीत अपने संरक्षकों के अभाव में भटकाब की स्थिति में था। उस समय अवध के कला प्रेमी नवाबों ने अपने दरबार में इसे प्रश्रय दिया। लखनऊ के नवाबों की एक विशेषता यह भी थी कि संगीत संरक्षक के साथ-साथ वे खुद भी संगीतज्ञ थे फस्वरूप लखनऊ उर्दू साहित्य और हिन्दुस्तानी संगीत का केन्द्र बन गया। 18 शती से 20 शती तक भारत के भिन्न-भिन्न स्थानों में कलाकार लखनऊ में आकर बस गये और लखनऊ को अपनी कला से भारत भर में प्रसिद्ध कर दिया। लखनऊ में संगीत के तीनों पक्षों के इतने कलाकार हुए जिनकी पूरी सूची दे पाना असम्भव है। ध्रुपद, धमार, होरी, ख्याल, ठुमरी, टप्पा, सोजखानी, सितार, सरोद, तबला, पखावज और कथक नृत्य आदि हर क्षेत्र में लखनऊ ने हिन्दुस्तानी संगीत को समृद्ध किया।

मुहम्मद शाह के दरबारी संगीतकारों ने यहां अनेक कलाओं का प्रदर्शन किया। लखनऊ के शोरी मियां ने उपशास्त्रीय संगीत की अभूतपूर्व उपलब्धि टप्पा का अविष्कार किया। तानसेन के उत्तराधिकारी हैदर, खाँ, प्यारे खाँ, और वशीर खाँ लखनऊ में ही रहे तथा अनेक शिष्यों को शिक्षा दी यही नर्तक ठाकुर प्रसाद, कालका प्रसाद, बिन्दादीन महाराज और उनके उत्तराधिकारी हुए। लखनऊ में ही कुदऊ सिंह पखावजिया, उमरावजान, रहीमसेन अमृतसेन और मसीत खाँ जैसे दिग्गज कलाकार हुए।

लखनऊ घरानें के उद्भव एवं विकास के विषय में कोई निश्चित इतिहास या विवरण उपलब्ध नहीं होता फिर भी कुछ तथ्यों, तत्वों, तर्कों एवं सुनी सुनाई परम्परागत बातों से हम निष्कर्ष निकालने है कि लखनऊ घराने का क्रमिक विकास क्या रहा होगा एवं इसका समय क्या रहा होगा। उपलब्ध ख्याल गायकी के प्रतिष्ठित घरानों में ग्वालियर घराना ही सर्वाधिक पुराना माना जाता है। ग्वालियर घरानों का मूल कव्वाल बच्चों से प्रारम्भ होता है। अतः कव्वाल बच्चों का घराना (लखनऊ घराना) ही सभी घरानों का मूल कहा जा सकता है।

आज हिन्दुस्तानी शास्त्रीय गायन की ख्याल गायकी उनके घरानों के रूप में सबसे सामने है। इस गायकी की नींव लखनऊ के गुलाम रसूल (कव्वाल बच्चों का घराना) से जुड़ती है। ऐसा अनेक ग्रंथों में आंशिक रूप में प्राप्त होता है, परन्तु इस विषय पर विद्वान एक मत नहीं है, क्योंकि इस विषय पर सामान्यतः विश्वसनीय जानकारी बहुत अल्प मात्रा में हैं। जो भी तथ्य हमें ग्रंथों में मिलते है वह पौराणिक कथाओं की तरह जैसे-सुल्तान शमशुद्दर इल्तुमिश (1210-1235) के दरबार में किसी अवसर पर दो गूंगे, बहरे भाई सावन्त और बूला को गाने को कहा गया और ईश्वर ने इन्हें असहाय देखकर इनके कण्ठ खोल दिये और वे गाने लगे। इनके वंशज को कव्वाल बच्चों को घराना कहा गया।

दूसरे वर्णन के अनुसार लखनऊ के बादहशाह गयासुद्दीन हैदर के समय में गुलाम रसूल एक बड़े गायक थे, जिनके वंशज शक्कर खाँ और मक्खन खाँ दो गायक हुए। शक्कर खाँ के पुत्र बड़े मुहम्मद खाँ एवं मक्खन खां के नत्थन पीरबक्श हुए। निःसन्देह बड़े मुहम्मद खाँ, कव्वाल बच्चों के घराने के अन्वेषक माने जाते है। नत्थन पीरबक्श के पौत्र हद्दू खाँ एंव हस्सू खाँ ने ग्वालियर नरेश की इजाजत से छुपकर 6 माह तक बड़े मोहम्मद खाँ का गाना सुनते रहे एवं उनकी गायकी में अपने विशिष्ट प्रतिभा को जोड़कर ग्वालियर घराने को पहचान दी। यह 18वीं शताब्दी की घटना है, जो सही सत्य प्रतीत होती है।

---

* शोध छात्र, गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

** प्रोफेसर, गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

लखनऊ के कव्वाल बच्चों के घराने का उद्भव एंव विकास जैसे भी हुआ हो परन्तु ग्वालियर घराना इसी घराने से निकला बाद में ग्वालियर से किराना, जयपुर, आगरा, रामपुर आदि ख्याल के घराने बने। दिल्ली एवं अजराड़ा को छोड़कर शेष सभी घराने व इनकी शाखा प्रशाखा का सम्बन्ध ग्वालियर घराने से है। तथा ग्वालियर घराना निःसन्देह कव्वाल बच्चों के घरानें (लखनऊ घराना) की उपज है। बड़े मोहम्मद खां ही कव्वाल बच्चों के घराने के अविरकारक थे। उनकी तालीम इनके पिता शक्कर खां और चाचा मख्खन खां से हुई थी। ख्याली गायकी को परिभाषित करने का राग सुशोभित करने का इनका बड़ा योगदान था। उस अद्भुत प्रतिभा वाले गायक ने ही ख्याल की बेजोड़ व्याख्या किया था। ग्वालियर की वह गायकी जिसका निमार्ण नत्थन पीरवख्श ने किया वह भी इस गायकी से भिन्न थी। ''कव्वाल बच्चों की गायकी का परिमार्जित रुप आधुनिक युग में युवक कलाकारों और समाज के सम्मुख रखने तथा मान्यता प्राप्त करने का कार्य बड़े मुहम्मद खां को जाता है। घराने के अन्य गायकों एवं उनकी संतान ने भी इन्हें इस महान कार्य में अपना सहयोग दिया।

ठुमरी के वर्तमान रूप का विकास लखनऊ में नवाबी छत्रछाया में ही हुआ परिष्कृत ठुमरी ने तुरन्त ही लोगों का दिल जीत लिया। संगीत समीक्षकों ने ठुमरी का श्रेय अवध के आखिरी नवाब के दरबार में प्रतिष्ठ प्राप्त सिद्ध संगीतज्ञ सदिक अली खाँ को दिया है। लखनऊ शैली की ठुमरी के वे अग्रणी व जनक माने जाते है। वास्तव में सदिक अली की विलक्षण प्रतिभा ही ठुमरी को जन्म दे सकती थी। आधुनिक युग में ग्वालियर के भईया साहब गनपत राव ''भईया जी'' ही लखनऊ की ठुमरी के अनुवेषक व प्रचारक माने गये। ये हारमोनियम पर लाजवाब ठुमरी बजाते थे। भैया जी को सदिक अली खाँ से ही ठुमरी की प्रेरणा मिली थी और वही उनके असली गुरू थे। आज हम जो ठुमरी सुनते है वह अतीत की एक क्षीण स्मृति मात्र है। ठुमरी दरअसल लखनऊ की नफ़ासत और नाजुक मिजाजी का प्रतिनिधित्व करती है। वह संगीत को कठोर नियम बद्धता से मुक्ति दिलाती है। कुछ विद्धान गुलाम नवी को ठुमरी का श्रेय देते है।

लखनऊ की ठुमरी को पूरब अंग की ठुमरी कहा जाता है। इसका जन्म लखनऊ में हुआ। कथक नाच और लखनऊ की ठुमरी का साथ-साथ उत्थान हुआ और बहुत समय तक दोनों का साथ भी रहा। लखनऊ के बिन्दादीन महराज बहुत सी ठुमरियों की रचना कर गये थे। लखनऊ की ठुमरी प्रायः चाचर एवं पंजाबी ठेके में गायी जाती है। इसके बोल भी सीधे होते तथा कानों को अच्छे लगते है जैसे-''सांची कहो मोसे बटिया, गवाई रतिया'' या ''आंगन में मत सो'', या वह वाजिद अली वाली ठुमरी, ''बाबुल मोरा नैहर छूटो जाय'' हिन्दुस्तान भर में महसूर हुई है। भैया जी का नाम ठुमरी के लिए पूरे भारत वर्ष में प्रसिद्ध हो गया। भैया जी ग्वालियर नरेश की संतान थे। उनकी मां का नाम चन्द्रमाया था। भैया जी ने हारमोनियम जैसे विदेशी बाजे को इस प्रकार कलायुक्त करके बजाया कि हारमोनियम का ही महत्व बढ़ गया। शास्त्रीय संगीत की तालीम इन्होंने बन्दे अली बीनकार से ली थी पर इन्हें बाजे का ही शौक था और बाजे का ठुमरी ही बजाते थे। इन्होंने अनेक शिष्य तैयार किया पर सर्वश्रेष्ठ शिष्य मौजुदीन खां थे। भैया जी लखनऊ में ही ज्यादा रहे। इनके जैसी लाजवाब ठुमरी किसी से सुनी होगी। दर्जनों गाने वाली इनकी शिष्या हो गयी थी जैसे मैहर खान, नूरजहाँ। बाबा नसीर खां भी ठुमरी के प्रसिद्ध गायक हुए थे। लखनऊ में उनके अनेक शिष्य हुए परन्तु वह दिल्ली के थे। मौजूदीन ने जिस ठुमरी को भैया जी से सीखा था वह लखनऊ की ठुमरी थी। इनकी बहुत मशहूर ठुमरी थी। ''सांवरियाँ ने जादू डाला बाजू बन्द खुल-खुल जाये'' जो आज भी बहुत प्रसिद्ध है। लखनऊ की ठुमरी बहुत सी विशेषताओं को खुद में समेटा था। विशेषताओं में, सीधे बोल, शिष्टता, मिठास, साफ सुथरा, भावुक बोल, तथा लखनऊ की नजाकत शामिल थी जैसे-''जा मै तोसे नाही बोलू'' एक उदाहरण है।

नवाब आसफुद्दौला के ही समय में उनके दरबार में। इलाहाबाद के समीप हंडिया ग्राम के कालका-बिन्दा दीन के पुरखे प्रकाश जी कथक नृत्य को लखनऊ ले गए। लखनऊ के नवाब ने ठाकुर प्रसाद जी की गद्दी को अपने राजगद्दी के सम-कक्ष कर उन्हें सम्मानित किया। इन्हीं दरबारों में कथक नृत्य ने अपना सही स्वरूप प्राप्त किया और वर्तमान में पूरे भारत वर्ष में प्रसिद्ध है कहा जाता है ठाकुर प्रसाद के पुरखो को भगवान कृष्ण ने दर्शन दिये तथा उन्हें इस नृत्य रूप का प्रचारित करने को कहा। लखनऊ एवं कथक का अपना घर है कथकों का जिक्र, ''महाभारत और वाल्मीकि कृत रामायण''में भी आता है इन ग्रंथों के अनुसार ये लोग जगह-जगह घूम-घूम कर काव्य गायन और नृत्य के माध्यम से पुराण-कथाएँ सुनाते थे। व्रज भूमि में भी रासलीला में कथक के बीज रहे है। महाराज ठाकुर प्रसाद के काल में कथक का अपना स्वतंत्र कला रुप निखरा यद्यपि यह मुसलमान शासकों के दरबार में विकसित हुआ तथापि इसका प्रेरणा स्रोत वैष्णव सम्प्रदाय था। ठाकुर प्रसाद जी ने नृत्य की एक किताब लिखी थी परन्तु दुभार्ग्यवश उसकी प्रति उपलब्ध नहीं है। कथक का स्वर्ण युग वाजिद अली शाह के बीस साल की उम्र में 1874 में अवध के सिहांसन पर बैठने के बाद शुरु हुआ। हालांकि राजनीतिक दृष्टि से असफल होने के कारण उसका पतन हुआ। लेकिन उनके शासनकाल में लखनऊ के सांस्कृतिक इतिहास का सबसे महत्वपूर्ण अध्याय लिखा गया।

दिल्ली के तबले के घराने के लगभग सौ वर्ष बाद लखनऊ के तबले के घराने का उदय हुआ। सिद्धार खाँ के पौत्र मोदू खाँ और बख्शू खाँ ने लखनऊ की सांगीतिक आवश्यकताओं के अनुरूप अपने वादन शैली में परिर्वतन कर लखनऊ घराने की स्थापना की। इन्होंने ही दिल्ली के बन्द बोंलो के स्थान पर नृत्य के उपयुक्त पखावज शैली का आधार लेकर तबला वादन में परिवर्तन किया। वर्तमान में आफ़ाक हुसैन इनके पुत्र इलमास हुसैन ने इन घराने को आगे बढ़ाया है। लखनऊ नवाबों का गढ़ था। लखनऊ के नवाब कलाकारों का अतित्थ्य कर उन्हें सम्मान देते थे। लखनऊ नगर में इसीलिए गायक वादक, और नर्तक सदैव जमा रहते थे। लखनऊ के दरबार में कथक को विशेष प्रसय मिला था। प्रारम्भ में कथक पर पखावज़ के साथ संगत की जाती थी, परन्तु संगत की दृष्टि से कुछ असुविधा छोटी थी। अतः कथक के साथ संगत करने लिए ही लखनऊ के तबले के घराने का जन्म हुआ। जब 1739 के आसपास हिन्दुस्तान पर नादिर शाह का आक्रमण हुआ तो मुहम्मद शाह रंगीले दिल्ली के शासक थे उनकी सल्तनत भंग हो गयी तथा उनके बहुत दरबारी कलाकार

कवि सभी इधर-उधर भटकने लगे और लखनऊ रामपुर तथा जयपुर में दरबारों में शरण ली। परन्तु प्रमुख रुप से लखनऊ ही शरण स्थल बना। इस समय पखावज़ लखनऊ का एकमात्र तालवाद्य था। जब धीरे-धीरे ख्याल शैली का प्रभाव बढ़ने लगा तो दिल्ली से और कलाकारों ने इसका लाभ उठा कर ख्याल एवं कथक के अनुरुप अपने बादल शैली में परिवर्तन कर नई शैली को जन्म दिया। उस्ताद मोदू खाँ ने अनेक प्रसिद्ध कलाकार तैयार किये। 1867 में लखनऊ में जन्में खलीफा अविद हुसैन पूरब बाज के महान कलाकार थे। भातखण्डे संगीत महाविद्यालय में आठ वर्षों के शिक्षण काल में (1928-1936) अनेक शिष्यों को शिक्षा प्रदान की। उस्ताद अहमद जान थिरकवा भातखण्डे संगीत महाविद्यालय 1959 से 1966 के दौरान अनेक तबला वादको को तैयार किया। लखनऊ मोदू खाँ के शिष्यों में पं0 राम सहाय मिश्र से बनारस के तबले का घराना बना तथा लखनऊ के बख्शू खाँ के शिष्य एवं दामाद हाजी विलायत अली खाँ जिनसे फरुर्खाबाद, तबले का घराना बना।

नबावों के शासनकाल में ही लखनऊ अनेक संगीत विद्याओं के लिए प्रसिद्ध था। जिसमें सितार वादन भी आता था। आज प्रसिद्ध सितार वादकों में हर कोई रज़ाखानी गत जरूर बजाता है। रज़ाखानी (द्रुत) गत के अविष्कारक लखनऊ के गुलाम रजा खाँ थे। रजा खानी को ही पूर्वी बाज भी कहते है। रजा खाँ इन गतों को बहुत सम्मोहक ढंग से बजाते थे। रूढ़िवादी उस्तादों ने इसे अस्वीकार कर दिया था। इनका मानना था कि यह आश्रय दाता को रिझाने के लिए है परन्तु इससे अनिष्ट हो सकता है। परन्तु आज इस गत की लोकप्रियता ने इनके तर्क को भ्रामक सिद्ध कर दिया। नवाब आसफुदौला तथा नवाब वाजिद अली शाह के दरबारों में वासत खां (रबाबीये) तथा कुतुब सितारिया) आदि नाम मिलते है। इनके सम्मिलत प्रयास से लखनऊ में सितार वादन की एक विशिष्ट शैली निर्मित हुई उसे ही पूर्वी बाज कहा गया। लखनऊ में मूलरुप से सितार वादन की दो प्रकार की शैलियाँ विकसित हुई। 1. पूर्वी बाज। 2. ध्रुपद शैली पर आधारित बाज। गुलाम रजा को पूर्वी बाज का प्रवर्तक माना जाता है। तत्कालीन लखनऊ के अपरिष्कृत रुचि के धनी के लिए यह सहज ठााहय था। उस समय ध्रुपद, ख्याल, ठुमरी, ग़ज़ल, कव्वाली, तराना आदि गायन शैलियाँ विशेष लोकप्रिय थी। अतः सितार वादकों को भी मांग के अनुसार द्रुत वादन शैली विकसित करनी पड़ी। प्रारम्भ में सितारिये ध्रुपदशैली का प्रयोग करते थे, फिर उसका प्रभाव कम होने लगा। तभी गुलाम रजा ने इस नवीन शैली को विकसित किया। वाजिद अली के वजीर नवाब अली खाँ सितार बहुत अच्छा बजाते थे। तथा उन्होंने अनेक द्रुत गतो की बन्दिशें की। लखनऊ के ही कुतुबद्धौला प्यारे खाँ के शिष्य थे। लखनऊ के अन्य प्रसिद्ध सितार वादको में रहीम सेन व अमृत सेन का नाम आता है। इन्होंने नवाब वाजिद अली शाह के दरबार में अनेकों अविस्मरणीय कायक्रम प्रस्तुत किये थे। रहीम सेन मसीतखानी बाज (गत) के रचयिता तथा तानसेन के छोटे बेटे विलास खाँ के वशज से यह प्राचीन मसीतखानी बाज लखनऊ में काफी प्रचलित था।

टप्पा को लखनऊ की उपशास्त्रीय संगीत की ही एक प्रसिद्ध शाखा कहा जा सकता है। यह गुलाम नवी शोरी की खोज थी। जो शोरी मिया के नाम से प्रसिद्ध है। शोरी मिया ख्याल गायक गुलाम रसूल के बेटे थे। शोरी मियाँ को ख्याल गायकी की तालीम दी गयी थी। शौरी मिया ने पंजाब जाकर उर्दू एवं पंजाबी सीखी तथा पंजाबी लोकगीतों से प्रभावित होकर टप्पा गायकी को जन्म दिया। टप्पा भी ठुमरी की भाँति खमाज, काफी, भैरवी, झिंझोटी, पीलू आदि रागों के बंधे होते थे। जब भी शास्त्रीय संगीत के गायकी विद्या की बात आती है तो ध्रुपद ख्याल ठुमरी के बाद टप्पा का नाम अवश्य ही आता है। वैसे तो यह आजकल कम सुनने को मिलता है। यह विद्या अन्य गायकी विद्याओं की अपेक्षा टप्पा में निरन्तर अभ्यास के बाद ही अधिकार पाया जा सकता है। टप्पा के बन्दिशों की रचना अधिकतर पंजाबी भाषा में होती है जिसमें पंजाब प्रांत से इस शैली के अटूट सम्बन्ध दिखलाई पड़ते है। यह सच ही कि टप्पा पंजाबी लोकगीत से बिल्कुल भिन्न है। शौरी मियां की आवाज पतली थी जो ख्याल के लिए उपयुक्त न था परन्तु टप्पा के लिए अत्यंत अच्छी थी शोरी मियां का सम्बन्ध लखनऊ से ही था अतः लखनऊ में इनका आना जाना तथा लखनऊ में भी टप्पे का प्रचार-प्रसार करना स्वाभाविक था।

एक अन्य मत के अनुसार टप्पा का विकास अवध के दरबार में ही हुआ लेकिन यहाँ भी कहा गया कि शौरी मियां पंजाबी लोक गीतों से प्रभावित थे। टप्पा को मुल्तानी भाषा में भी गाया जाता है। यह चंचल प्रकृति की शैली है तथा इसमें छोटी-छोटी मुर्कियों का विशेष प्रयोग होता है। इसके शब्द छोटी-छोटी तानो में ही रहते है। इनकी तानों का रुप वक्र होता है तथा ठुमरी की तरह इसमें अभिनय अंग नहीं होता। वास्तव में टप्पा गायन शैली का जन्म ही गुलाम नवी शौरी के लचीले महीन, सुरीले कण्ठ से तथा नवीनता की तलाश और तान प्रियता के कारण हुआ। शोरी मियां घूमने पंजाब गये तथा वहाँ हीर रांझा की प्रेम-कथा के कुछ लोक गीत सुनकर उन्हीं में शास्त्रीयता पिरोने का प्रयास ही टप्पा का कारण बना।

लखनऊ उर्दू कविता की रचना भूमि रहा है इस क्षेत्र में लखनऊ की खाश देन है बेहतरीन ग़ज़ले एवं मरसिए। लखनऊ और गज़ल मरसिए एक तरह का प्रबन्ध काव्य होता है। जिसमें इमाम हुसैन और उनके परिवार की शदादत की गाथाएं गाई जाती थी। मरसिए को शास्त्रीय संगीत की श्रेणी में तो नहीं रखा गया परन्तु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि मरसिए की बन्दिशे राग मालिका की तरह ही राग-रागनियों में होती है। इनके खास कलाकार सैयद अमीर अली, शिया अहमद अली बड़े और छोटे मुन्नें खां, मुनीर विदस्वा, गुलाम अब्बास, मेहदीं बख्श, अल्हे साहब, खुर्शीद खां आदि।

बेग़म अख्तर जिन्होंने ग़ज़ल गायकी के क्षेत्र लखनऊ को विशिष्ट पहचान दिलाई। बेग़म अख्तर शास्त्रीय संगीत की कलाकार थी पर उन्होंने खुद को ग़ज़ल गायिका के रुप में ज्यादा प्रसिद्ध किया। इनकी गजल भारतीय संगीत को एक महत्वपूर्ण देन है। आज भी इनके रिकार्डस को लोग बहुत पसंद करते है। लखनऊ में अनेक ग़ज़ल लेखक हुए। संगीतकार के रुप में नौसाद ने लखनऊ की गरिमा बढ़ाई। वर्तमान में नौसाद कला केन्द्र जो नैशाद की ही संस्था है जिसमें शास्त्रीय संगीत की शिक्षा दी जाती है।

देश में चारो तरफ संगीत शिक्षा की क्रान्ति लाने वाले पं0 भातखण्डे जी ने स्वयं के नेतृत्व में विभिन्न संगीत परिषदों (सम्मेलनों) का आयोजन किया।

1916 के मार्च महीने में प्रथम अखिल भारतीय संगीत परिषद वहां की सरकार के सहयोग से हुई। उसके बाद कई संगीत सम्मेलनों का आयोजन किया गया। लखनऊ वह संगीत केन्द्र था जिसे आधुनिक संगीत सम्मलेन (परिषद) के जनक भातखण्डे जी ने उत्तर भारत के दो ऐतिहासिक अखिल भारतीय संगीत सम्मेलनों के लिए चुना था। जिसका उद्देश्य एक संगीत संस्थान की स्थापना भी थी। शास्त्रीय संगीत के प्रचार उसके विवादास्पद पक्षों पर विचार-विमर्श और व्यापक जनरूचि के कलात्मक परिष्कार के अत्यन्त महत्वपूर्ण उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु भातखण्डे जी ने इस संगीत सम्मेलनों की परिकल्पना की थी। लखनऊ में आयोजित चौथे एवं पाँचवे सम्मेलन के परिणामस्वरूप (मैरिक म्यूजिय कॉलेज) वर्तमान भातखण्डे डीम्ड युनीवर्सिटी की स्थापना सन् 1900-24 से 26 में सम्भव हो सकी। लखनऊ में पहला संगीत सम्मेलन दिसम्बर 1924 में तथा दूसरा संगीत सम्मेलन 1926 में सम्पन्न हुआ था। उत्तर प्रदेश के तत्कालीन गवर्नर स्व0 सर विलियम मैरिस को संस्कृति, साहित्य तथा कला में विशेष रुचि थी। इन्हीं के सहयोग से उपरोक्त परिषदें (सम्मेलन) सम्पन्न हुए। और अन्ततः जुलाई 1926 में लखनऊ के कैसरबाग में भातखण्डे जी की मृत्यु के पश्चात् 1926 में मैरिस म्यूजिक कालेज का नाम परिवर्तित होकर भातखण्डे कालेज आफ हिन्दुस्तानी म्यूजिक हो गया।

इस संस्था के निमार्ण में राजेश्वर बली का विशेष योगदान था। इस संस्था को एक सुदृढ़ रुप देने की इच्छा के कारण ही इसके संस्थापक के0 राजेश्वर बली ने इसे लखनऊ में स्थापित किया था। इस संस्था ने उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत का विस्तार न केवल भारत में किया बल्कि मॉरीशस, श्रीलंका, नेपाल और जापान आदि देशों से भी किया। इन देशों के अनेक छात्र इस संस्था से भारतीय कला को सीखा और वापस जाकर अपने देशों में इसका प्रचार प्रसार किया। 1966 में भातखण्डे संगीत महाविद्यालय को राजकीय संस्था का दर्जा मिला और राज्य प्रशासन के नियत्रण में सांस्कृतिक कार्य विभाग के संचालन में आया। इस विद्यालय को प्रारम्भ में ही उच्चकोटि के विद्वानों एवं कलाकारों की सेवाएं प्राप्त हुई। कुछ वर्ष पूर्व तक महाविद्यालय भारतीय शास्त्रीय संगीत के प्रचार प्रसार में अग्रणी रहा।

पिछले कुछ वर्षों से इस महाविद्यालय के स्तर में गिरावट आयी है। 2001 में इस महाविद्यालय को सम विश्वविद्यालय का दर्जा मिला है तभी से इसकी परीक्षा और संचालन भातखण्डे विद्यापीठ की जगह संस्था खुद कराने लगी। राज्य के अन्य विश्व विद्यालयों की भांति भातखण्डे सम विश्वविद्यालय का संचालन न होकर संस्कृति कार्य विभाग मंत्रालय के अन्तर्गत होता है जिसके कारण अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो रही है। जिस विश्व विद्यालय में सेवा देना भी गरिमा की बात हुआ करती थी आज उस विश्व विद्यालय को छोड़कर अध्यापक अन्यत्र सेवा देने हेतु प्रयासरत है। यदि इस विश्व विद्यालय को राज्य या केन्द्र सरकार सीधे अपने नियंत्रण में लेले तो इसका गौरवमयी इतिहास फिर वापस आ सकता है।

अंग्रेजी शासन के दौरान भारत की समस्त कलाओं का मान-मदर्न किया गया। हालांकि उदार, रइसों राजवाड़ो में यह समृद्ध परम्परा जीवित रही परन्तु जनमानस में नही थी। स्वाधीनता के कई वर्षों बाद तक लखनऊ अपनी कलात्मक अभिरूचि को नहीं पा सका। सांगीतिक माहौल बनते बिगढ़ते रहे रइसों ने इसमें अभिरूचि अवश्य दिखाई। शास्त्रीय संगीत ने लखनऊ में अपने उत्थान पतन एवं पुर्नउत्थान के अनेक दौर देखे कैसे दरबारी प्रभाव से ये प्रत्यशील, और भ्रष्ट होती है और फिर कैसे इन्हें दुबारा प्रतिष्ठा मिलती है।

लखनऊ पिछले कुछ वर्षों से पुनः सांगीतिक गतिविधियाँ गुंजने लगी। इसका श्रेय आकाशवाणी, उ0प्र0 संगीत नाटक अकादमी, उत्तर-दक्षिण कलचरल आर्गेनाजेशन, सांस्कृतिक कार्य विभाग एवं कथक-केन्द्र, को जाता है, बहुत से जागरूक लोग सामने आये है जिनका विश्वास है कि लखनऊ की गौरवमयी उपलब्धियाँ महान कलाकारों तथा रसज्ञ दाताओं के कारण हुई। उन्हें हम सावधानी से संजाये और आगे बढ़ाए।

इस शहर में ऐसी कशिश है कि इससे महान कलाकार गहराई से जुड़े, भले ही उन्हें परिस्थिति वश कही दूसरी जगह जीविकोंपार्जन करना पड़ा। तभी तो कहते है-

''लखनऊ हम पर फिदा, और हम फिदाए लखनऊ''

सन्दर्भ सूची-

1. डॉ0 सुशीला मिश्रा, लखनऊ की संगीत परम्परा, प्रकाशक उत्तर प्रदेश संगीत नाटक अकादमी (भारत सरकार), प्रथम संस्करण, पृ0 सं0 i
2. सूचना एवं जन सम्पर्क विभाग उ0प्र0, उत्तर प्रदेश 2005, प्रकाशक उत्तर प्रदेश सरकार 2005, अध्याय-लखनऊ मंडल
3. डॉ0 योगेश प्रवीण, बहारे अवध, प्रकाशक लखनऊ महोत्सव पत्रिका समिति 1987, पृ0 सं0
4. डॉ0 सुशीला मिश्रा, लखनऊ की संगीत परम्परा, प्रकाशक उत्तर प्रदेश संगीत नाटक अकादमी (भारत सरकार), प्रथम संस्करण, पृ0 सं0 ii
5. डॉ0 सुरेश गोपाल श्रीखण्डे, हिन्दुस्तानी शास्त्रीय गायन की शिक्षा प्रणाली, प्र0 अभिषेक पब्लिकेशन्स चण्ढीगढ़, प्रथम संस्करण 1993, पृ0 सं0 101
6. डॉ0 सुरेश गोपाल श्रीखण्डे, हिन्दुस्तानी शास्त्रीय गायन की शिक्षा प्रणाली, प्र0 अभिषेक पब्लिकेशन्स चण्ढीगढ़, प्रथम संस्करण 1993, पृ0 सं0 101
7. डॉ0 सुरेश गोपाल श्रीखण्डे, हिन्दुस्तानी शास्त्रीय गायन की शिक्षा प्रणाली, प्र0 अभिषेक पब्लिकेशन्स चण्ढीगढ़, प्रथम संस्करण 1993, पृ0 सं0 101
8. डॉ0 सुरेश गोपाल श्रीखण्डे, हिन्दुस्तानी शास्त्रीय गायन की शिक्षा प्रणाली, प्र0 अभिषेक पब्लिकेशन्स चण्ढीगढ़, प्रथम संस्करण 1993, पृ0 सं0 102
9. डॉ0 सुशील कुमार चौबे, संगीत के घरानों की चर्चा, प्रकाशक उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान लखनऊ, तृतीय संस्करण 2005, पृ0सं0 249
10. डॉ0 सुशील चौबे, हमारा आधुनिक संगीत, प्रकाशक उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान लखनऊ, तृतीय संस्करण 2005, पृ0सं0 111-112
11. डॉ0 सुशीला मिश्रा, लखनऊ की संगीत परम्परा, प्रकाशक उत्तर प्रदेश संगीत नाटक अकादमी (भारत सरकार), प्रथम संस्करण, पृ0 सं0 19
12. डॉ0 तेज सिंह टाक, नेट संगीत, प्रकाशक बेकराँ आलमी फाउण्डेशन अलीगंज लखनऊ 226022, प्रथम संस्करण 2010, पृ0 सं0 153
13. डॉ0 स्वतंत्र शर्मा, भारतीय संगीत एक ऐतिहासिक विश्लेषण, टी0एन0 भार्गव एण्ड सन्स न्यू कटरा इलाहाबाद, संस्करण 1995 पृ0 सं0 239
14. डॉ0 सुशीला मिश्रा, लखनऊ की संगीत परम्परा, प्रकाशक उत्तर प्रदेश संगीत

नाटक अकादमी (भारत सरकार), प्रथम संस्करण, पृ0 सं0 66
15. डॉ0 तेज सिंह टाक, नेट संगीत, प्रकाशक बेकराँ आलमी फाउण्डेशन अलीगंज लखनऊ 226022, प्रथम संस्करण 2010, पृ0 सं0 154
16. डॉ0 सुशीला मिश्रा, लखनऊ की संगीत परम्परा, प्रकाशक उत्तर प्रदेश संगीत नाटक अकादमी (भारत सरकार), प्रथम संस्करण, पृ0 सं0 vi
17. डॉ0 स्वतंत्र शर्मा, भारतीय संगीत एक ऐतिहासिक विश्लेषण, टी0 एन0 भार्गव एण्ड सन्स न्यू कटरा, इलाहाबाद, संस्करण 1995 पृ0 सं0 227
18. डॉ0 सुशीला मिश्रा, लखनऊ की संगीत परम्परा, प्रकाशक उत्तर प्रदेश संगीत नाटक अकादमी (भारत सरकार), प्रथम संस्करण, पृ0 सं0 61
19. डॉ0 सुशीला मिश्रा, लखनऊ की संगीत परम्परा, प्रकाशक उत्तर प्रदेश संगीत नाटक अकादमी (भारत सरकार), प्रथम संस्करण, पृ0 सं0 iv
20. डॉ0 आसित कुमार बनर्जी, हिन्दुस्तानी संगीत : परिवर्तनशीलता, शारदा पब्लिशिंग हाउस दिल्ली-110052, प्रथम संस्करण 1992 पृ0सं0 54
21. डॉ0 सुरेश गोपाल श्रीखण्डे, हिन्दुस्तानी शास्त्रीय गायन की शिक्षा प्रणाली, प्र0 अभिषेक पब्लिकेशन्स चण्ढीगढ़, प्रथम संस्करण 1993, पृ0 सं0 42
22. डॉ0 सुशीला मिश्रा, लखनऊ की संगीत परम्परा, प्रकाशक उत्तर प्रदेश संगीत नाटक अकादमी (भारत सरकार), प्रथम संस्करण, पृ0 सं0 vi
23. डॉ0 सुरेश गोपाल श्रीखण्डे, हिन्दुस्तानी शास्त्रीय गायन की शिक्षा प्रणाली, प्र0 अभिषेक पब्लिकेशन्स चण्ढीगढ़, प्रथम संस्करण 1993, पृ0 सं0 180
24. डॉ0 भावना रानी, शास्त्रीय संगीत की लोकप्रियता में सांगतिक संस्थाओं का महत्व, संजय प्रकाशन दिल्ली-110002,प्रथम संस्करण 2008, पृ0 सं0 51
25. डॉ0 सुरेश गोपाल श्रीखण्डे, हिन्दुस्तानी शास्त्रीय गायन की शिक्षा प्रणाली, प्र0 अभिषेक पब्लिकेशन्स चण्ढीगढ़, प्रथम संस्करण 1993,पृ0 सं0 180
26. डॉ0 सुशीला मिश्रा, लखनऊ की संगीत परम्परा, प्रकाशक उत्तर प्रदेश संगीत नाटक अकादमी (भारत सरकार), प्रथम संस्करण, पृ0सं0 viii

●

आदिकाव्य रामायण एवं उसमें निहित सांगीतिक वाद्य : एक ऐतिहासिक अध्ययन

*डॉ॰ भीमसेन सरल**

'वाद्य' का शाब्दिक अर्थ है- 'बजाने योग्य यंत्र विशेष'। किसी भी सांगीतिक ध्वनि-उत्पादक यंत्र को 'वाद्य' की संज्ञा प्रदान की जाती है। संगीत के साथ-साथ विश्व के किसी भी मानव समुदाय, राष्ट्र, परम्परा, संस्कृति, सभ्यता आदि का मूल्यांकन करने के एक सशक्त माध्यम के रूप में सांगीतिक वाद्य अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। संगीत जगत् में वाद्यों का महत्वपूर्ण कार्य शास्त्रीय एवं लोक संगीत के संरक्षण तथा संवर्धन में उसका योगदान है। प्राचीन काल से चली आ रही संगीत की परम्परा विशेषकर शास्त्रीय संगीत वाद्यों के द्वारा ही आजतक सुरक्षित है और भविष्य में भी यह प्रवाह गतिशील रहेगा। समस्त विश्व के संगीत में सांगीतिक वाद्यों का एक अलग स्थान, महत्व व उपयोगिता स्वयं प्रमाणित है। इसके अलावा ये सांगीतिक वाद्य उस भूखण्ड अथवा राष्ट्र की प्राकृतिक स्थिति, सांस्कृतिक गतिविधि एवं सभ्यता स्तर पर भी व्यापक प्रकाश डालते हैं।

भारत जैसे कला-संस्कृति सम्पन्न देश में विभिन्न प्रकार के सांगीतिक वाद्यों की उपलब्धता एवं उनके महत्व का प्रमाण हमें विभिन्न वाङ्मयों में भूरिशः प्राप्त होता है। वेदचतुष्टयी, ब्राह्मण ग्रन्थों, विभिन्न पुराणों, आरण्यक, उपनिषद, दर्शन इत्यादि विभिन्न संस्कृत वाठमयों के साथ संस्कृत महाकाव्यों में भी विभिन्न प्रकार के सांगीतिक वाद्यों की विस्तृत चर्चा मानव समुदाय के विभिन्न जीवन शैली के महत्वपूर्ण अंग के रूप में गौरवमयी ढंग से प्राप्त होती है। प्रस्तुत शोध आलेख में आदि-महाकाव्य रामायण एवं उसमें निहित सांगीतिक वाद्यों की चर्चा ऐतिहासिक दृष्टि से हम कर रहे हैं।

वैदिक संस्कृत से भिन्न लौकिक संस्कृत में काव्य रचना का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। ऋग्वैदिक वर्णनों में काव्य की झलक स्पष्टतया दृष्टिगोचर होती है, किन्तु वास्तविक रूप में काव्य रचना का पूर्ण विकास वैदिक युग में नहीं देखा जाता। वेदोत्तर साहित्य में पुराणों में वर्णित आख्यानों में सर्वप्रथम हमें काव्यत्व के दर्शन होते हैं। पुराणों में यद्यपि काव्यत्व तो है, किन्तु आर्ष प्रयोगों तथा काव्यत्व की नियमबद्धता से रहित होने के कारण पुराणों को काव्य कहना उचित नहीं है। वस्तुतः विधिवत् काव्यत्व का शुभारंभ वाल्मीकि प्रणीत रामायण में ही हमें देखने को मिलता है। अतः महर्षि वाल्मीकि को आदिकवि एवं रामायण को आदिकाव्य कहा जाता है।

महर्षि वाल्मीकि द्वारा रचित आदि-महाकाव्य रामायण में सनातन धर्म व संस्कृति के आदर्श मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम के जीवन-चरित्र को काव्यमयी भाषा-शैली में प्रस्तुत किया गया है। उपलब्ध श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण में कुल सात काण्ड हैं- बालकाण्डम्, अयोध्याकाण्डम्, अरण्यकाण्डम्, किष्किन्धाकाण्डम्, सुन्दरकाण्डम्, लंकाकाण्डम् (या युद्धकाण्डम्) और उत्तरकाण्डम्। इन सात काण्डों में कुल 24,000 श्लोक प्राप्त होते हैं। रामायण के मुख्यतः तीन संस्करण उपलब्ध हैं- दाक्षिणात्य संस्करण, गौडीय संस्करण एवं पश्चिमोत्तरीय संस्करण। तीनों संस्करणों में पर्याप्त पाठभेद एवं प्रक्षिप्त पद्य मिलते हैं। विद्वानों की एक मान्यता यह भी है, कि बालकाण्डम् एवं उत्तरकाण्डम् मूल वाल्मीकीय रामायण में नहीं थे, अपितु बाद में जोड़े गये।

रामायण की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि एक बार महर्षि वाल्मीकि ने क्रौंच पक्षी का एक जोड़ा जो कामभेदित हो रहा था और फिर थोड़ी ही देर बाद एक बहेलिये के बाण लगने से घायल होकर पृथ्वी पर पड़ा हुआ छटपटा रहा था, देखा और पास में ही खड़े हुए एक बहेलिये को भी देखा। इस करुणार्द्र हृदय महर्षि के मुख से पहला, बहेलिये के लिए यह श्लोकबद्ध वचन शाप के रूप में निकल पड़ा-

''मा निषाद! प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।

यत्क्रौञ्चमिथुनादेकभवमोः काममोहितम्॥''

वस्तुतः महर्षि का क्रौंच के लिए श्लोक ही श्लोकत्व को प्राप्त कर गया। 'श्लोकत्वमापद्यत यस्य श्लोकः'। यह अनुष्टय छंद सर्वप्रथम महर्षि की वाणी में प्रस्फुटित हुआ था। अतएव महर्षि वाल्मीकि का यह श्लोक लौकिक संस्कृत साहित्य का प्रथम श्लोक कहा जाता है। वाल्मीकि उन ऋषियों में से हैं, जिन्होंने नाट्यशास्त्र का उपदेश भरतमुनि से प्राप्त किया। इसीलिए रामायण पाठ्य और गेय दोनों में ही मधुर है। यह धरातल का प्रथम महाकाव्य मान्य किया जाता है। इसकी तुलना वेद से भी की जाती है। महर्षि वाल्मीकि अपने इस कृति से विश्व के समस्त कवियों के गुरु और आदिकवि माने जाते हैं।

रामायण भारत के प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा के परिज्ञान का महत्वपूर्ण श्रोत है। रामायण के कालखण्ड की यदि बात की जाये तो इस सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद हैं। यूरोपीय विद्वान् ईसा से 400-300 वर्ष पूर्व रामायण का काल मानते हैं तो पाश्चात्य विद्वान् पार्टिजर रामायण का रचनाकाल 1600 ई॰पूर्व मानते हैं। कुछ भी हो लेकिन इतना तो स्पष्ट होता है कि रामायण की रचना वेदोत्तर काल से बुद्धकाल के बीच कभी हुई होगी। रामायण के कालखण्ड के सम्बन्ध में मतभेद होने के बावजूद यह निश्चित है कि परम्पराप्रिय भारत देश में पुरातन सांस्कृतिक परम्परा को अन्तर्निहित करने का श्रेय महाभारत के अतिरिक्त इसी महाकाव्य को है। मानव जीवन का ऐसा कोई पक्ष नहीं, जिसकी झाँकी रामायण में न मिलती हो। निस्संदेह जो रामायण और महाभारत को नहीं जानता वह भारत की संस्कृति को कभी नहीं समझ सकता।

आदिकवि वाल्मीकि के अनुसार रामायण का निर्माण गेयकाव्य के रूप में हुआ है। रामायण के अनुष्टप् छन्द की रचना ही संगीत-मूलक होने के सम्बन्ध

* तबला शिक्षक, माउण्ट लिट्रा जी स्कूल, वाराणसी।

में उल्लेख रामायण महाकाव्य में पाये जाते हैं। शब्द-संगीत का आदिम रूप ही रामायण का अनुष्टप् छन्द है, जिसका गायन वीणा की लय के साथ योग्य स्वर तथा शब्दावली में किया जाना विहित है। महर्षि वाल्मीकि कवि के साथ-साथ उच्च कोटि के गायन और वादन कला के भी मर्मज्ञ थे। मूलतः श्रीराम-सीता के पुत्रद्वय एवं महर्षि वाल्मीकि के शिष्य लव-कुश जैसे कुशल गायकों के द्वारा गाये गये इस गेय काव्य में साहित्य तथा संगीत का चारु समन्वय उपस्थित हुआ है।

रामायणकाल में संगीतविषयक समुन्नति तथा प्रसार के सर्वत्र दर्शन होते हैं। संगीत के कला-पक्ष के साथ ही शास्त्र-पक्ष का प्रकर्ष उस समय हुआ था, इस सम्बन्ध में प्रबल प्रमाण रामायण में उपलब्ध हैं। रामायण में साम तथा गान्धर्व दोनों के सम्बन्ध में प्रचुर उन्नति के प्रमाण उपलब्ध होते हैं ।धार्मिक एवं लौकिक समारोहों पर किये जाने वाले नृत्य एवं नृत्त के साथ गायन तथा वादन का प्रचुर उल्लेख रामायण में किया गया है। रामायणकाल में वादित्रों के लिए 'तूर्य' सामान्य संज्ञा थी तथा उनके अन्तर्गत शंख, दुन्दुभि तथा नानाविध वेणु-वाद्यों का अन्तर्भाव था (अ॰ 86, 1-3)। वाद्यों को आतोद्य तथा वादित्र कहा जाता था। रामायण में वीणा, दुन्दुभि, मृदंग, पणव, शंख, वेणु, पटह, मडुक, डिंडिम, आडम्बर, मुरज, विपंची इत्यादि सांगीतिक वाद्यों एवं इनकी ध्वनियों का यथानुकूल सांकेतिक एवं उपमा आदि के रूप में भूरिशः उल्लेख मिलता है। रामायण के सभी काण्डों में प्रसंगानुकूल सांगीतिक वाद्यों की ध्वनियों के भावनापूर्ण एवं रमणीक उदाहरण प्राप्त होते हैं।

बालकाण्डम् के चतुर्थ सर्ग में महर्षि वाल्मीकि ने कुश और लव में अन्य सभी गुणों के साथ सांगीतिक गुणों की अद्भुत क्षमता देखकर उन्हें वेदार्थ का विस्तार के साथ ज्ञान कराने के लिए उन्हें सीता के चरित्र से युक्त सम्पूर्ण रामायण नामक महाकाव्य, जिसका दूसरा नाम 'पौलस्त्यवध' अथवा 'दशाननवध' था, अध्ययन कराया।

''पाठ्ये गेये च मधुरं प्रमाणैस्त्रिभिरन्वितम्।
जातिभिः सप्तभिर्युक्तं तन्त्रीलय समन्वितम्॥8॥
रसैः शृङ्गारकरुण हास्य रौद्र भयानकैः।
वीरादिभी रसैर्युक्तं काव्यमेतद्गायताम्॥9॥''

राजकुमार कुश और लव महाकाव्य पढ़ने और गाने दोनों में ही पारंगत थे। द्रुत, मध्य और विलम्बित इन तीनों गतियों से अन्वित, षड्ज आदि सातों स्वरों से युक्त, वीणा बजाकर स्वर और ताल के साथ तथा श्रृंगार, करुण, हास्य, रौद्र, भयानक एवं वीर आदि सभी रसों से अनुप्राणित हैं, दोनों भाई उस महाकाव्य का गान करने लगे।

बालकाण्ड के पंचम सर्ग में अयोध्यानगरी के वर्णन में विभिन्न प्रकार के सांगीतिक वाद्यों का उल्लेख इस प्रकार प्राप्त होता है-

''दुन्दुभीभिर्मृटङ्गैश्च वीणाभिः पणवैस्तथा।
नादितां भृशमत्यर्थं पृथिव्यां तामनुत्तमाम्॥18॥''

भूमण्डल की वह सर्वोततम नगरी दुन्दुभि, मृदंग, वीणा, पणव आदि वाद्यों की मधुर ध्वनि से अत्यंत गूँजती रहती थी।

बालकाण्ड में ही षोडशः सर्ग में पुत्रेष्टि यज्ञ करते हुए राजा दशरथ के यज्ञ में अग्निकुण्ड से एक विशालकाय पुरुष के प्रकट होने के सन्दर्भ में दुन्दुभि की ध्वनि का वर्णन वाल्मीकि ने इस प्रकार किया है-

''कृष्णं रक्ताम्बरधरं रक्तास्यं दुन्दुभिस्वनम्॥12॥''

उसकी अंगकान्ति काले रंग की थी और वह अपने शरीर पर लाल वस्त्र धारण कर रखा था। उसका मुख भी लाल ही था। उसकी वाणी में दुन्दुभि के समान गम्भीर ध्वनि प्रकट होती थी।

इसी प्रकार, अष्टदशः सर्ग में राजा दशरथ के यहाँ पुत्र-जन्म के उपलक्ष्य पर महर्षि वाल्मीकि लिखते हैं-

''गायनैश्च विराविण्यो वादनैश्च तथापरैः॥19॥''

वहाँ नगर वासियों द्वारा सभी ओर गायन-वादन किया जा रहा था।

बालकाण्ड के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के वाद्यों और उनकी ध्वनियों का अद्भुत उदाहरण दिया गया है। द्वितीय सर्ग, श्लोक 18/4, चतुर्थ सर्ग, श्लोक 8, 9, 10, 34, षोडशः सर्ग, श्लोक 12, 18वाँ सर्ग, श्लोक 19, 20वाँ सर्ग, श्लोक 4, 5, 49, एकोनपंचाशः सर्ग, श्लोक 13, 19, त्रिसप्ततितम सर्ग, श्लोक 38, सप्तसप्ततिम सर्ग, श्लोक 6 में विभिन्न सांगीतिक वाद्य और उनकी ध्वनियों का उल्लेख किया गया है।

अयोध्याकाण्डम् के द्वितीय सर्ग में श्रीराम के राज्याभिषेक की तैयारी के सदृश दुन्दुभि का वर्णन इस प्रकार प्राप्त होता है-

''दुन्दुभिस्वरकल्पेन गम्भीरेणानुनादिना।
स्वरेण महता राजा जीमूत इव नादयन्॥2॥''

उस समय राजसभा में बैठे हुए सब लोगों को सम्बोधित करके महाराजा दशरथ ने दुन्दुभि की ध्वनि के सदृश अत्यन्त गम्भीर एवं गूँजते हुए उच्चस्वर से सबके आनन्द को बढ़ाने वाली यह हितकारक बात कही।

इसी काण्ड में एकोनचत्वारिशः सर्ग में दशरथ पुत्र श्रीराम को वनवास होने पर महर्षि विभिन्न प्रकार के वाद्यों का उल्लेख इस प्रकार करते हैं-

''मुरजपणवमेघघोषवद् दशरथवेश्मबभूव यत् पुरा।
विलपित परिदेवनाकुलं व्यसनगतं तदभूत् सुदुःखितम्॥41॥''

राजा दशरथ का जो भवन पहले मुरज, पणव और मेघ आदि वाद्यों के गम्भीर घोष से गूँजता रहता था, वही विलाप और रुदन से व्याप्त हो संकट में पड़कर अत्यन्त दुःखमय प्रतीत होने लगा।

अयोध्याकाण्ड में ही एकसप्ततिमः सर्ग में श्रीराम के वनवास गमन के पश्चात् भरत के ननिहाल से अयोध्या पहुँचने पर वहाँ मंगलवाद्यों की ध्वनि न सुनाई पड़ने से अपशगुन की स्थिति का भान भरत को इस प्रकार प्राप्त होता है-

''भेरीमृदङ्गवीणानां कोणसंघट्टितः पुनः।
किमद्य शब्दो विरतः सदादीनगतिः पुरा॥29॥''

वादन दण्ड द्वारा बजायी जाने वाली भेरी, मृदंग और वीणा का जो आघातजनित शब्द होता है, वह पहले अयोध्या में सदा होता रहता था। कभी उसकी गति अवरुद्ध नहीं होती थी, परन्तु आज वह शब्द न जाने क्यों बन्द हो गया है?

अयोध्याकाण्ड के अन्तर्गत द्वितीय सर्ग, श्लोक 1-2, षष्ठ सर्ग, श्लोक 8, सप्तम सर्ग, श्लोक 4, 5, दशम सर्ग, श्लोक 12, 13, षोडष सर्ग, श्लोक 36, 39 एकोनचत्वारिंश सर्ग, श्लोक 41, द्विपंचास सर्ग, श्लोक 21-23, पन्चषष्टितम सर्ग, श्लोक 4, 6, एकोनसप्ततितम सर्ग, श्लोक 4, द्विसप्ततितम सर्ग, श्लोक 29, एकाशीतितम सर्ग, श्लोक 2-4, अष्टाशीतितम सर्ग, श्लोक 8, 9, एकनवतितम सर्ग, श्लोक 25, 26, 49, चतुर्दशाधिंकशततम सर्ग, श्लोक 19 में विभिन्न वाद्यों का प्रसंगानुकूल उल्लेख प्राप्त होता है।

श्रीमद्वाल्मीकि रचित रामायण महाकाव्य के अरण्यकाण्डम् में भी कई स्थानों पर सांगीतिक वाद्यों और उनकी गुंजायमान ध्वनियों का उल्लेख प्राप्त होता है। पंचपंचासः सर्ग में सीताहरण करके जब रावण लंकापुरी पहुँचता है, तो उसके महल में दुन्दुभियों की मधुर घोष का उल्लेख इस प्रकार है-

''दिव्य दुन्दुभिनिर्घोषं तप्तकाञ्चनभूषणम्।
सोपानं काञ्चनं चित्रमारुरोह तया सह॥9॥''

उस महल में दिव्य दुन्दुभियों का घोष होता रहता था। उस अन्तःपुर को बताए हुए सुवर्ण के आभूषणों से सजाया गया था। रावण सीता को साथ लेकर सोने की बनी हुई सीढ़ी पर चढ़ा।

अरण्यकाण्ड के अन्तर्गत एकादश सर्ग, श्लोक 7, 9, 19 पंचत्रिंश सर्ग, श्लोक 20, अष्टचत्वारिंश सर्ग श्लोक 12, पंचपंचाश सर्ग, श्लोक 9 में दुन्दुभि नामक अवनद्ध मंगलवाद्य का भूरिशः उल्लेख प्राप्त होता है।

इसी प्रकार, किष्किंधाकाण्डम् के 28वें सर्ग में श्लोक 36 में वीणा एवं मृदंग का वर्णन निम्न प्रकार किया गया है-

''षट्पादतन्त्रीमधुराभिधानं प्लवंगमोदीरितकण्ठतालम्।
आविष्कृतं मेघमृदङ्गनादैर्वनेषु संगीतमिव प्रवृत्तम्॥36॥''

श्रीरामचन्द्र जी किष्किंधा वन का वर्णन करते हुए लक्ष्मण जी से कहते हैं- ''हे लक्ष्मण, देखो भ्रमरों का गुंजार वीणा के मधुर स्वर जैसा है। मेंढक मानो अपने कण्ठ से ताल के बोल बोल रहे हैं। मेघ का गर्जन मृदंग के नाद जैसा सुनाई दे रहा है। लगता है वन में संगीत चल रहा है।

किष्किंधाकाण्ड में 33वें सर्ग के श्लोक 21 में एक वर्णन ऐसा प्राप्त होता है कि लक्ष्मण सुग्रीव को अपने कर्त्तव्य की याद दिलाने जाते है-

''प्रविशन्नेव सततं शुश्राव मधुरस्वनम्।
तन्त्रीगीतसमाकीर्णं समतालपदाक्षरम्॥21॥''

सुग्रीव के महल में घुसते ही लक्ष्मण ने वीणा के साथ उसके मधुर स्वरों में मिले हुए गीत सुने जिसके शब्द और ताल उन स्वरों से युक्त थे।

वीणा के समान ही वेणु का भी वैदिक काल में महत्व था। रामायण काल में सम्भवतः इसके बनावट इत्यादि में कुछ और प्रगति हुई हो। वेणु का उल्लेख किष्किंधाकाण्ड के 30वें सर्ग के 50वें श्लोक में इस प्रकार मिलता है-

''वेणुस्वरव्यञ्जिततूर्यमिश्रः प्रत्यूषकालेऽनिलसंप्रवृतः।
संमूर्च्छितो गह्वरगोवृषाणामन्योन्यमापूरयतीव शब्दः॥50॥''

वेणु (वंशी) और वाद्य के साथ मिला हुआ प्रातःकाल में वायु के द्वारा फैलाये हुए होने के कारण व्याप्त हो जाने पर गुफाओं, गाय और बैलों के शब्द परस्पर एक-दूसरे को बढ़ा रहे हैं।

किष्किंधाकाण्ड के अन्तर्गत प्रथम सर्ग श्लोक 15, 26 एवं एकषष्टितम सर्ग श्लोक 6 में भी महर्षि वाल्मीकि ने सांगीतिक वाद्यों की उपमा देते हुए उनके महत्व को तत्कालीन समाज में रेखांकित किया है।

सुन्दरकाण्डम् के अन्तर्गत रावण का संगीतप्रिय होना तथा उसके राज्य में स्त्रियों का विभिन्न प्रकार के वाद्यों में निपुण होने का विवरण महर्षि वाल्मीकि ने बहुत ही आकर्षक ढंग से किया है। हनुमानजी का अन्तःपुर में सोए हुए रावण तथा उसकी स्त्रियों का गाढ़ निद्रा में विभिन्न वाद्यों को लिये हुए देखने का वर्णन महर्षि ने दशम सर्ग में इस प्रकार किया है-

''काचिद् वीणां परिष्वज्य प्रसुप्ता सम्प्रकाशते।
महानदी प्रकीर्णेव नलिनी पोतमाश्रिता॥37॥''

कोई वीणा को छाती से लगाकर सोयी हुई सुन्दरी ऐसी जान पड़ती थी, मानो महानदी में पड़ी हुई कोई कमलिनी किसी नौका से सट गयी हो।

विभिन्न वाद्यों के साथ सोयी हुई स्त्रियों की उपमा कई प्रकार से दी गयी है। सुन्दरकाण्ड के दशम सर्ग के 38वें श्लोक में मड्डुक नामक वाद्य को लिये हुए सोने की उपमा पुत्रवत्सला माँ से की गयी है-

''अन्या कक्षगतेनैव मड्डुकेनासितेक्षणा।
प्रसुप्ता भामिनी भाति बालपुत्रेव वत्सला॥38॥''

दूसरी कजरारे नेत्रों वाली भामिनी कोख में दबे हुए मड्डुक (लघु अवनद्ध वाद्य विशेष) के साथ ही सो गयी थी। वह ऐसी प्रतीत होती थी, जैसे कोई पुत्रवत्सला जननी अपने छोटे-से शिशु को गोद में लिये सो रही हो।

इसी प्रकार, अन्य सांगीतिक वाद्यों की उपमा सुन्दरकाण्ड में विभिन्न प्रकार से वाल्मीकि ने दिया है। 10वें सर्ग के ही 39वें श्लोक में महर्षि लिखते हैं-

''पटहं चारुसर्वाङ्गी न्यस्य शेते शुभस्तनी।
चिरस्य रमणं लब्ध्वा परिष्वज्येव कामिनी॥39॥''

सर्वांगसुन्दरी शुभस्तनी एक महिला पटह को लेकर इस प्रकार सोई हुई थी, मानो बहुत समय बीत जाने पर मिले हुए पति का आलिंगन कर कोई कामिनी सो रही हो।

सुन्दरकाण्ड में दशम सर्ग में ही आगे 40 से 45वें श्लोक में विभिन्न अलग-अलग वाद्यों की उपमा महाकवि ने निम्न प्रकार से दी है-

''विपञ्चीं परिगृह्यान्या नियता नृत्यशालिनी।
निद्रावशमनुप्राप्ता सहकान्तेव भामिनी॥41॥''

नियमपूर्वक नृत्यकला से सुशोभित होने वाली एक अन्य युवती विपंची (एक विशेष प्रकार की वीणा) को अंक में भरकर प्रियतम के साथ सोयी हुई प्रेयसी की भाँति निद्रा के अधीन हो गयी थी।

''अन्या कनकसंकाशैर्मृदुपीनैर्मनोरमैः।
मृदङ्गं परिविद्ध्याङ्गैः प्रसुप्ता मत्तलोचना॥42॥''

कोई मतवाले नयनों वाली दूसरी सुन्दरी अपने सुवर्ण-सदृश गौर, कोमल, पुष्ट और मनोरम अंगों से मृदंग को दबाकर गाढ़ निद्रा में सो गयी थी।

''डिण्डिमं परिगृह्यान्या तथैवासक्तडिण्डिमा।
प्रसुप्ता तरुणं वत्समुपगुह्येव भामिनी॥44॥''

डिण्डिम (डमरू के आकार का उससे कुछ छोटा) वाद्य से प्रेम रखने वाली कोई स्त्री उसको लेकर इस प्रकार सोई हुई थी जैसे कोई स्त्री अपने जवान बच्चे को लेकर सोयी हो।

''काचिदाडम्बरं नारी भुजसंभोगपीडितम्।
कृत्वा कमलपत्राक्षी प्रसुप्ता मदमोहिता॥45॥''

कोई स्त्री आडम्बर (एक विशेष प्रकार का अवनद्ध वाद्य) को दोनों भुजाओं से दबाकर सोयी थी। वह कमल-पत्र जैसी आँखवाली मदिरा के नशे में चूर थी।

सुन्दरकाण्ड के 11वें सर्ग के 6वें श्लोक में तीन अवनद्ध वाद्यों का एक साथ उल्लेख हुआ है-

''मुरजेषु मृदङ्गेषु चेलिकासु च संस्थिताः।
तथाऽऽस्तरणमुख्येषु संविष्टाश्चापराः स्त्रियः॥''

कुछ स्त्रियाँ मुरज, मृदंग और चेलिका पर ही पड़ गयी थीं और कुछ विशिष्ट बिछौनों पर सोयी हुई थीं।

सुन्दरकाण्ड के विभिन्न सर्गों में महर्षि वाल्मीकि ने जितने विभिन्न प्रकार के सांगीतिक वाद्यों का यथानुकूल उल्लेख किया है, उतना किसी अन्य काण्ड में नहीं।

लंकाकाण्डम् में भी विभिन्न प्रकार के सांगीतिक वाद्यों और उनकी ध्वनियों का प्रचुर उल्लेख प्राप्त होता है। जिनमें धौंसा, भेरी, दुन्दुभि, शंख, मृदंग, वीणा, पणव, घंटा आदि प्रमुख वाद्य हैं। युद्धकाण्ड के 33वें सर्ग में सरमा नाम की राक्षसी का सीता जी को सान्त्वना देना और श्रीराम के आगमन का संदेश सुनाने के सन्दर्भ में धौंसे का गम्भीर नाद और रणभेरी के गम्भीर घोष का उल्लेख इस प्रकार किया गया है-

''दण्डनिर्घातवादिन्याः श्रुत्वा भेर्या महास्वनम्।
उवाच सरमा सीतामिदं मधुरभाषिणी॥20॥
संनाहजननी ह्येषा भैरवा भीरु भेरिका।
भेरीनादं च गम्भीरं शृणु तोयदनिःस्वनम्॥21॥''

डण्डे की चोट से बजने वाले धौंसे का गम्भीर नाद सुनकर मधुरभाषिणी सरमा ने सीता से कहा- भीरु! यह भयानक भेरीनाद युद्ध के लिए तैयारी की सूचना दे रहा है। मेघ की गर्जना के समान रणभेरी का गम्भीर घोष तुम भी सुन लो।

युद्धकाण्ड (लंकाकाण्ड) के 42वें सर्ग के 39वें श्लोक में शंख एवं दुन्दुभि का एक साथ उल्लेख हुआ है-

''शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषः सिंहनादस्तरस्विनाम्।
पृथिवीं चान्तरिक्षं च सागरं चाभ्यनादयत्॥39॥''

राक्षसों और वानरों के संग्राम में शंख और दुन्दुभि के घोष और वेगवान् राक्षसों के सिंहनाद ने पृथिवी, आकाश और समुद्र को प्रतिध्वनित कर दिया।

तत्कालीन समाज में मृदंग और पणव नामक अवनद्ध वाद्य का गान के साथ तो प्रयोग होता ही था, भेरी, शंख, मृदंग, पणव आदि वाद्यों का दुन्दुभि के समान ही रण में योद्धाओं के उत्साहवर्धन के लिए प्रचुर प्रयोग होता था। युद्धकाण्ड के 44वें सर्ग के 12वें श्लोक में भेरी, मृदंग और पणव तीनों अवनद्ध वाद्य एवं शंख एक साथ प्रयुक्त हुए हैं-

''ततो भेरीमृदङ्गानां पणवानां च निःस्वनः।
शङ्खनेमिस्वनोन्मिश्रः संबभूवाद्भुतोपमः॥12॥''

तदनन्तर भेरी, मृदंग और पणव के शब्द का शंख और रथ के पहिए के शब्द से मिलने से एक अद्भुत शब्द होने लगा।

इसी प्रकार, उत्तरकाण्ड के अन्तर्गत 71वें सर्ग के 15वें श्लोक में रामचरित के गान के विषय में वीणा से सम्बन्धित एक वर्णन इस प्रकार आया है-

''तन्त्रीलयसमायुक्तं त्रिस्थानकरणान्वितम्।
संस्कृतं लक्षणोयेतं समतालसमन्वितम्॥15॥''

वह गान वीणा के लय से युक्त था, तीनों स्थान के करण से युक्त था, संस्कारयुक्त था, लक्षणयुक्त था और समताल से युक्त था। उत्तरकाण्ड के ही 94वें सर्ग के 32वें श्लोक में श्रीराम द्वारा कुश और लव से शब्द, ताल, लय से सम्पन्न काव्य-गान वीणा के सुमधुर स्वर-लहरियों द्वारा सुनने का विवरण इस प्रकार है-

''शुश्राव तत्तालललयोपपन्नं सर्गान्वितं सुश्वरशब्दयुक्तं।
तन्त्रीलय व्यञ्जनयोगयुक्तं कुशीलवाभ्यां परिगीयमानम्॥32॥''

इस प्रकार प्रथम दिन कतिपय सर्गों से युक्त सुन्दर स्वर एवं मधुर शब्दों से पूर्ण ताल और लय से सम्पन्न तथा वीणा के लय की व्यंजना से युक्त वह काव्यगान, जिसे कुश और लव ने गाया था, श्रीराम ने सुना।

रामायण के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि रामायण-काल में नये वाद्य प्रचार में आये। महर्षि वाल्मीकि ने कुश एवं लव को वीणा बजाकर रामायण का गान करना सिखाया था। उसमें नये वाद्यों के बहुत कुछ नाम मिलते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि उस समय नये वाद्यों की खोज हुई थी। रामायण-काल में वाद्यों की अप्रत्याशित प्रगति हुई थी। लंकापति रावण संगीतकला में अत्यंत निपुण था, उसने महादेव को प्रसन्न करने के लिए अपनी ताँत (आँत) निकालकर नया वाद्य बनाया था। उस वाद्य को संगीत ग्रन्थों में 'रावण हस्तिका' नामक वीणा बताया गया है। आदिकवि वाल्मीकि द्वारा रचित आदि-महाकाव्य रामायण का महत्व एवं स्थान पूरे भारतीय जनमानस में विभिन्न ज्ञान के श्रोत के रूप में मान्य किया जाता है। इस ऐतिहासिक महाकाव्य में वर्णित विभिन्न सांगीतिक वाद्यों से तत्कालीन समाज की प्रगति एवं उन्नति का तो आभास होता ही है हमें गौरवमयी विस्तृत सांगीतिक एवं सांस्कृतिक परम्परा भी इससे प्राप्त होती है।

सन्दर्भ सूची-

1. सिंह, डॉ॰ ठाकुर जयदेव, 'भारतीय संगीत का इतिहास', संगीत रिसर्च एकेडेमी, कलकत्ता
2. परांजपे, डॉ॰ शरच्चन्द्र श्रीधर, 'भारतीय संगीत का इतिहास', चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
3. मिश्रा, डॉ॰ अरुण, 'भारतीय कण्ठ संगीत और वाद्य संगीत, गायन-वादन सुमेल', कनिष्का पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली
4. राजश्री, 'सांस्कृतिक शिक्षा के उद्विकास में संगीत का योगदान', राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली
5. साहू, डॉ॰ रामदेव, 'संस्कृत साहित्य का इतिहास', श्याम प्रकाशन, जयपुर
6. सरल, डॉ॰ भीमसेन, 'तबला संगत एवं कलाकार : स्थान, स्थिति और योगदान', कनिष्क पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली
7. 'संगीत-भारतीय वाद्य अंक', सम्पादक गर्ग, डॉ॰ मुकेश, संगीत कार्यालय, हाथरस

●

शारीरिक शिक्षा में चित्रकला और महामना की प्रासंगिकता

*मधु ज्योत्स्ना**

मानव देह इस सृष्टि की सर्वश्रेष्ठ कृति है। मनुष्य ही वह जीव है जो अपनी क्षमताओं का विकास कर प्रकृति की अनेक चुनौतियों का सामना करते हुए लगातार नये-नये कीर्तिमान् स्थापित कर रहा है। प्रकृति की चुनौतियों का सामना करने के साथ ही ईश्वर प्रदत्त मानव काया से श्रेष्ठतम् परिणाम प्राप्त करने की दिशा में 'शारीरिक शिक्षा' की अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका है। सुनियोजित शारीरिक शिक्षा (प्रशिक्षण) से मनुष्य की क्षमताओं को सुसंगङ्गित कर आश्चर्यजनक परिणामों की प्राप्ति के अनेक उदाहरण सुलभहैं। मानवीय सभ्यता के विकासक्रम का इतिहास शारीरिक शिक्षा के माध्यम से मानवीय क्षमता के विकास का ही इतिहास है। आदिम युगीन जंगली मनुष्य ने अपनी शारीरिक क्षमताओं को उत्तरोत्तर साध और सुधार कर ही आज की विकसित स्थिति प्राप्त की है।

मनुष्य अपनी मानसिक और शारीरिक क्षमताओं के बल पर ही आश्चर्यजनक परिणाम देता है। आज के इस वैज्ञानिक युग में शारीरिक शिक्षा के द्वारा निर्धारित अभ्यास और प्रशिक्षण के माध्यम से अत्यधिक क्षमता वाले उपकरणों से तालमेल बैठाकर, मनुष्य असम्भव को सम्भव बनाने में सक्षम हो गया है। ह्वीलचेयर पर चलने वाले और बोलने में अक्षम आज की दुनियाँ के सर्वाधिक चर्चित वैज्ञानिक 'स्टीफेन हाकिन्स' की विश्वव्यापी वैज्ञानिक गतिविधियाँ शारीरिक शिक्षा की देन तथा तकनीकी साधनों के प्रबन्धकीय प्रक्रिया की विश्वस्तरीय उदाहरण हैं। आज का मनुष्य जो भी आश्र्यजनक कारनामे कर रहा है, वह शारीरिक शिक्षा के माध्यम से अपने शरीर में निहित मानसिक और शारीरिक क्षमताओं के उपयुक्त वैज्ञानिक प्रबन्धन के द्वारा ही कर पा रहा है। अतः यदि हम कहें कि 'शारीरिक शिक्षा मानव के 'सुनियोजित' वैज्ञानिक काया-प्रबन्धन का ही नाम है तो वह कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी। वास्तव में शारीरिक शिक्षा स्वयं में कला और तकनीक का मिला-जुला रूप और विज्ञान है।

शारीरिक शिक्षा के माध्यम से मनुष्य के द्वारा श्रेष्ठतम् परिणाम प्राप्त करने की दिशा में चित्रकला के साथ ही संगीत शास्त्र की भी विशेष भूमिका है। यह बात प्राचीन यूनानी वैज्ञानिकों के इस कथन से स्पष्ट होती है कि - ''जिमनास्टिक फॉर बॉडी, म्यूजिक फार सोल''। आज के इस वैज्ञानिक युग में प्रयोगों के द्वारा यह बात प्रमाणित हो चुकी है कि मनुष्य की शिक्षा माँ के गर्भ से ही शुरू हो जाती है। श्रेष्ठतम् सन्तान की प्राप्ति के लिए प्राचीन भारतीय ग्रन्थों और आधुनिक वैज्ञानिकों ने अनेक दिशा-निर्देश निर्धारित किये हैं।

आधुनिक अध्ययन के द्वारा प्रमाणित हो चुका है कि गर्भवती माता जिस प्रकार के चित्र और दृश्य को अपने सम्मुख पाती है तथा जिस प्रकार के तथ्यों का श्रवण करती हैं, उसका गर्भस्थ भ्रूण पर सीधा प्रभाव पड़ता है। महान भारतीय ग्रन्थ महाभारत में अभिमन्यु के द्वारा चक्रव्यूह तोड़े जाने का जिक्र आता है। अभिमन्यु ने चक्रव्यूह तोड़ने की तकनीक को अपने पिता महान् धनुर्धर अर्जुन से तभी प्राप्त किया था, जब वह अपनी माँ के गर्भ में था। अतः एक श्रेष्ठ नागरिक के निर्माण की दिशा में गर्भस्थ भ्रूण के शारीरिक शिक्षा के लिए विशेषज्ञों द्वारा निर्धारित चित्रों का गर्भवती महिला के शयन कक्ष के अलावा अन्य कक्षों में रखा जाना अत्यन्त उपयोगी एवं श्रेष्ठतम् परिणाम देता है।

आस पास के दृश्य और चित्र का सीधा-सीधा प्रभाव बोलने और डोलने में अक्षम शिशु पर भी पड़ता है। शिशु को जिस कमरे में सुलाया जाता है वहाँ के दृश्य और चित्र उसके अबोध मन को व्यापक रूप से प्रभावित करते हैं। शिशु उत्तरोत्तर विकासक्रम में जब भाषा से अनभिज्ञ रहता है, तब भी उसके आसपास के दृश्य और चित्र व्यापक रूप से उसके मन-मस्तिष्क पर प्रभाव डालते हैं। यही बात किशोर और वयस्क लोगों पर भी लागू होती है। भारत के एकमात्र नोबेल पुरस्कार प्राप्त वैज्ञानिक 'प्रो0 चन्द्रशेखर वेंकट रमन' जब अपने किशोरावस्था में विशाखापत्तनम् में निवास करते थे, उस समय उनके समुद्र तट के निकट स्थित आवास के कमरे की खिड़की समुद्र की ओर ही खुलती थी। वे अक्सर इसी खिड़की से समुद्र की ओर लगातार निहारा करते थे। आगे चलकर इसी समुद्र जल के नीलेपन को आधार बनाकर उन्होंने जो प्रयोग किये, उसी से उन्हें नोबेल पुरस्कार प्राप्त हुआ। इस उदाहरण से स्पष्ट होता है कि मानव मन पर शुरू से ही आस पास के दृश्यों का सीधा प्रभाव पड़ता है।

चित्रों के निर्माण में रंगों की प्रमुख भूमिका होती है। अलग-अलग रंग, अलग-अलग भावों को प्रकट करते हैं । काला रंग 'भय' और 'शोक' को प्रगट करता है। सफेद रंग 'शान्ति' का प्रतीक है। लाल रंग 'उत्तेजना और संघर्ष' को प्रगट करता है। इसी प्रकार अन्य रंगों के भी अपने भाव और प्रभाव हैं। एक समर्थ कलाकार रंगों के संयोजन से मूर्त-अमूर्त जो भी चित्र उभारता है, वह दर्शक के मन-मस्तिष्क पर भावानात्मक रूप से गहराई तक प्रभाव डालते हैं। शारीरिक शिक्षण के लिए व्यक्ति के मन-मस्तिष्क पर प्रभाव डाला जाना नितान्त आवश्यक है। इसके अभाव में 'प्रशिक्षु' को अभ्यास देकर तैयार किया जाना कठिन होगा। इस क्रिया में आवश्यकतानुसार सोच के अनुरूप दृश्य को चयनित और रेखांकित कर उपयुक्त रंगों के सम्मिश्रण से बने, 'भावपूर्ण चित्र' अत्यन्त प्रभावकारी रहते हैं।

---

* सहायक प्राध्यापिका, धीरेन्द्र महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय, वाराणसी।

जब हम शारीरिक शिक्षा के प्रचार-प्रसार और अध्ययन-अध्यापन के लिए लेखकीय सामग्रियों का निर्माण करते हैं तब वहाँ भी चित्रों से पुस्तकों, लेखों और शोध-पत्रों की गुणवत्ता में व्यापक अभिवृद्धि हो जाती है। यह बात सर्वविदित है कि - जो प्रभाव लम्बे भाषण और कई पृष्ठ पर लिखे गये शब्दों से भी नहीं मिल पाता, उसे एक छोटा-सा चित्र पूरा कर देता है। उपरोक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि 'चित्र' शारीरिक शिक्षा के महत्वपूर्ण उपादान हैं।

शारीरिक शिक्षा में चित्रों की उपयोगिता को महामना पं0 मदन मोहन मालवीय जी के कृतित्वों से और सुन्दर ढंग से स्पष्ट किया जा सकता है। पूज्य महामना ने अपने जीवनकाल में अपनी देख-रेख में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के जिन भवनों का निर्माण कराया उनमें 'संस्कृत विद्या धर्म विज्ञान संकाय' का भवन भी है। उन्होंने वहाँ के मुख्य हाल में वेदों, उपनिषदों से सम्बन्धित श्रेष्ठतम् आख्यानों पर आधारित भित्तिचित्र बनवाकर शारीरिक शिक्षा के मूल उद्देश्य के अनुसार मानव में श्रेष्ठतम् गुणों के भरने का प्रयास किया। वहीं उन्होंने श्री विश्वनाथ मन्दिर की कल्पना में भी चित्रकला के रूप में ढेरों भित्तिचित्रों के रूप में उसी विधा को प्रश्रय देते हुए एक योजना प्रस्तुत की, जो उनके देहावसान के बाद बनकर उनके उद्देश्यों को आज भी पूरा कर रही है। यही नहीं, महामना शारीरिक शिक्षा के प्रबल समर्थक भी थे। छात्रों के लिए उनका सन्देश है-

''दूध पियो, कसरत करो, नित्य लेहू हरि नाम।
मन लगाय विद्या पढ़ो, पूरेंगे सब काम ॥''

जो शारीरिक शिक्षा के महामंत्र के सदृश है। इसी प्रकार काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में महामना के द्वारा उनके आवास के सबसे निकट सीता निवास में प्रश्रय प्राप्त 'पद्म-विभूषण कलामनीषी राय कृष्ण दास' ने महामना की सोच के अनुसार कार्य करते हुए कला को माध्यम बनाकर राष्ट्रीय चेतना जागृत करने का कार्य शारीरिक शिक्षा के प्रमुख उद्देश्य 'समाज उत्थान' को कला के माध्यम से अग्रसारित किया।

भारत को लम्बे समय तक गुलाम बनाये रखने के लिए अंग्रेजों ने उन्निसवीं सदी के आरम्भ में ही भारतीय जनमानस को उसकी गौरवपूर्ण कला संस्कृति से काटकर स्वाभिमान रहित निरीह बनाने के उद्देश्य से भारतीय कला को हेय बता कर भारतवासियों पर योरोपीय कला को थोपना शुरू किया। अंग्रेजों की इस कुटिल चाल को तत्कालीन राष्ट्रप्रेमी भारतीय कलाकारों ने समझा और इसके विरुद्ध ''भारतीय कला पुनर्जागरण'' आन्दोलन खड़ा किया। इस आन्दोलन के माध्यम से योरोपीय कला का बहिष्कार और भारतीय मूल की स्वदेशी कला का प्रचार-प्रसार किया गया। आगे चलकर कला की यही शैली चित्रकला की ''बंगाल शैली'' कहलाई। इस शैली के चर्चित कलाकार थे कलागुरु अवनीन्द्र नाथ ठाकुर, शिल्पाचार्य नन्दलाल बोस, शैलेन्द्रनाथ डे और कला आचार्य ई.वी. हैवेल। इन सभी कलाकारों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से भारतीय जनमानस के बीच भारतीय मूल की चित्रकला का प्रचार-प्रसार किया। इन सम्पूर्ण घटनाक्रमों से यही प्रमाणित होता है कि - शारीरिक शिक्षा के साथ ही उसके सामाजिक उद्देश्य की पूर्ति में चित्रकला की सार्थक और सशक्त भूमिका है।

उपसंहार

'शारीरिक शिक्षा एक व्यापक अर्थों वाली बहुद्देशीय मानव विकास की विधा है।' इसमें मनुष्य के मानसिक और शारीरिक विकास की व्यापक सम्भावनायें निहित हैं। इस विधा से मानव में शारीरिक और मानसिक विकास के लिए तकनीकों, साधनों और अनेक संसाधनों के साथ ही संगीत और चित्रकला का भी व्यापक रूप से प्रभावकारी प्रयोग होता है। समस्त सुलभ साधनों के प्रयोग से शारीरिक शिक्षा के द्वारा मनुष्य की शारीरिक और मानसिक क्षमताओं में गुणात्मक परिवर्तन कर जो परिणाम प्राप्त किये जाते हैं, वे अत्यन्त चमत्कारी होते हैं। मानव निर्माण की इस विधा के सफल प्रयोग से श्रेष्ठतम् गुणों वाले मानव समूहों का निर्माण कर शारीरिक और मानसिक गुणों से सक्षम, अनुशासित नागरिक समूहों वाले सुदृढ़ राष्ट्र निर्माण की समस्त सम्भावनायें इस विधा में निहित हैं। उपरोक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि शारीरिक शिक्षा के माध्यम से व्यापक तैयारी से किये गये सुनियोजित प्रयास से अत्यन्त श्रेष्ठतम् मानसिक, शारीरिक और सामाजिक परिणाम सम्भावित हैं।

इस विधा से आशाप्रद परिणाम पाने में चित्रकला की विशेष प्रभावकारी उपयोगिता है। चित्र किसी भी प्रकार के सन्देश सम्प्रेषण के सशक्त माध्यम होते हैं। अतः श्रेष्ठतम् सामाजिक उद्देश्यों का निर्धारण कर, उसके अनुसार उपयुक्त रंग-रोगन और विचारों के अनुरूप प्रभावकारी योजना के अन्तर्गत बनाये गये आकर्षक चित्रों को प्रस्तुत कर शारीरिक शिक्षा के उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सकता है। महामना पं0 मदन मोहन मालवीय जी ने इस दिशा में अनेक सार्थक प्रयास किये हैं। उत्कृष्ट चित्रों के द्वारा अध्ययन-अध्यापन की सामग्री के निर्माण से शारीरिक शिक्षा के उद्देश्य की पूर्ति की सम्भावनायें अत्यन्त प्रबल हो जाती है। प्रशिक्षण के दौरान बड़े चित्रों और पोस्टरों के माध्यम से प्रशिक्षुओं को विषय वस्तु की जानकारी प्रदान करना अत्यन्त आसान और प्रभावकारी रहता है। उद्देश्य के अनुसार बने ये उपयुक्त चित्र आज के आधुनिक श्रव्य-दृश्य माध्यमों के लिए आधार होते हैं। चित्रकार द्वारा बनाये गये आधारीय चित्रों के सहयोग से बने 'पावर प्वाइन्ट' वृत्तिचित्र और एनिमेशन फिल्मों से शारीरिक शिक्षा के क्षेत्र में श्रेष्ठतम्, वांछित परिणाम की प्राप्ति सम्भव है। अतः शारीरिक शिक्षा के क्षेत्र में चित्रकला की भी अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका प्रमाणित होती है।

●

मम्मटमुकुलभट्टयोर्वृत्तिविमर्शः

विमलेन्दु कुमार त्रिपाठी एवं प्रो0 सदाशिव कुमार द्विवेदी***

सुप्रथतिमेवास्ति यद् 'शास्यतेऽनेनेति' विग्रहे **''सर्वधातुभ्यःष्ट्रन्''**[1] इत्यनेन सूत्रेण करणे ष्ट्रन् प्रत्यये कृते शास्त्रशब्दस्य सिद्धिर्जायते। शास्त्रं नाम शासनकरणम्, शास्त्रदृष्ट्या विपुलकायं संस्कृतवाङ्मयमस्ति। पदशास्त्रं व्याकरणम्, प्रमाणशास्त्रं न्यायः वाक्यशास्त्रं मीमांसा चेति त्रयोऽपि यत्रापेक्षन्ते तत् साहित्यशास्त्रं शब्दार्थयोरुभयोरपि सहभावात् काव्यशास्त्रपदेनापि व्यवह्रियते। काव्ये एव द्वयोः सहभावः। इत्थं काव्यशास्त्र काव्यप्रयोजन-कारण-स्वरूप-भेद-दोषगुणालङ्कारात्मभूतरसादिध्वनीनां रीतिवृत्त्यादीनाञ्च प्रतिपादकतया लक्षणग्रन्थाः काव्यानुशासनमिति पदेनाप्युच्यन्ते यथा व्याकरणादिशास्त्रं पदादिव्युत्पत्त्यै अपेक्षितं तथैव साहित्यशास्त्रमपि काव्ये कौशलाधानायापेक्षितं भवति।

''एकः शब्दः सुप्रयुक्तः सम्यक्ज्ञातः स्वर्गे लोके च कामधुग्भवति''[2] इति श्रुत्या भोगः प्रतिपादितः। अपवर्गोपयोगिवाक्ये व्युत्पत्त्याधायकत्वात् काव्यानुसन्धानात् समवाप्तानां धर्मार्थकामजन्य-फलानामनुसन्धानाच्चापवर्गं साधयति काव्यशास्त्रम्। इह खलु भोगापवर्गसाधनभूतानां तद्विपर्ययपरिवर्जन-प्रयोजनानां पदार्थानामवगतिः प्रमाणैः सिद्ध्यति। प्रमाणानि च प्रमेयावगतिनिबन्धनभूतानि प्रत्यक्षानुमानशब्दात्मकानि। तेष्वन्यतमं शब्दात्मकं प्रमाणं प्रत्यक्षानुमानप्रमाणोत्तरं विशेषतो मोक्षसाधनभूतम्, यतो हि ''तत्त्वमसि'' इत्यादीनां वाक्यानां मोक्षावाप्तिनिबन्धनत्वं वाच्यार्थावगतिपुरस्सरम्। तस्य वाच्यार्थस्यावगतिः शब्दव्यापारेण विना न भवतीति वाक्यार्थबोधात्मिकायाः वृत्तेः विवेकोऽत्र क्रियते। प्रायशः सर्वैरेव शास्त्रकारैः वृत्तिविचारः कृत एव अस्ति तथा च तेषां शास्त्रकाराणां विचारेषु वृत्तेः स्वरूपं तत्प्रक्रिया तदुपस्थितिः तद्विवेचनञ्च भिन्न-भिन्नतया प्रस्तूयते। **पातञ्जलयोगदर्शन-महाभाष्य- श्लोकवार्तिक-नाट्यशास्त्रादिषु**[3] ग्रन्थेषु वृत्तिरियं विभिन्नतया लक्ष्यते तत्कर्तृभिः नूतनरूपेण व्याख्यायते च। तद्यथा-**''वर्तते शब्दोऽर्थे प्रवर्तते यया सा वृत्तिः।''** [4] वृत्तिरियं साहित्यशास्त्रकारैः सप्तधा, अभिधा-लक्षणा-व्यञ्जना- तात्पर्या-रसना-भोजकत्व-भावकत्व-प्रभेदेन अङ्गीक्रियते। वृतु-वर्तने धातोः करणार्थे 'क्तिन्' प्रत्यये विहिते वृत्तिशब्दः निष्पद्यते।

तत्र पदपदार्थसम्बन्धरूपावृत्तिरभिधा।5 मुख्यार्थबाधायां लक्षणायाः प्रक्लृप्तिः सा चार्थवृत्तिः शब्दे आरोपिता।[6] अभिधा लक्षणा तात्पर्याख्यासु तिसृषु वृत्तिषु स्वं स्वमर्थं बोधयित्वोपक्षीणासु ययाऽन्योऽर्थो बोध्यते सा व्यञ्जनावृत्तिः।[7] पदार्थानां मिथोऽन्वयरूपे वाक्यार्थे शब्दस्य तात्पर्याशक्तिरभ्युपगन्तव्या।[8]

रसनावृत्तेः निरूपणं काव्ये रसाभिव्यक्तौ विश्वनाथेन व्याचष्टितम्। तद्यथा-

रसव्यक्तौ पुनर्वृत्तिः रसनाख्यं परे विदुः। [9]

रसनास्वादनचमत्करणादयो विलक्षणा एव व्यपदेशाः। [10]

भुक्तिवादस्य परिपोषकः आचार्यः भट्टनायकः साधारणीकरणप्रक्रियायां रसास्वादे च भावकत्व-भोजकत्वेति वृत्तिद्वयं मनुते। तथा हि-

अभिधा भावना चान्या तद्भोगीकृतिरेव च।
अभिधाधामतां याते शब्दार्थालङ्कृती सतः॥
भावना भाव्य एषोऽपि शृङ्गारादि गणो हि यत्।
तद्भोगीकृतरूपेण व्याप्यते सिद्धिमान्नरः॥ [11]

एवम्प्रकारेण साहित्यशास्त्रे सप्तवृत्तयः अवाप्यन्ते। आसु मम्मटमुकुलभट्टैः स्वीकृतानां-वृत्तीनां तेषां मतैक्य-मतभेदानाञ्च विवेचनं प्रस्तूयते-

वाग्देवतावतारेणाचार्यमम्मटेन वाक्यार्थबोधात्मिका वृत्तिस्त्रिधा उपाधिभेदाद् अगादि। तथाहि-**''स्याद्वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा''**[12] पुनश्च **''तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्''**[13] इति वदता तात्पर्यवृत्तेरपि काव्यशास्त्रे उपादेयत्वं प्रादर्शि। आचार्यमुकुलभट्टेन शब्दस्य मुख्या लाक्षणिकी चाभिधावृत्तिरुक्ता। तेनाऽभिधायाः भेदद्वयमेकस्य मुख्यत्वेन चान्यस्य लाक्षणिकत्वेन (अमुख्यत्वेन) वा अमानि। काव्ये व्यञ्जकशब्दस्यैव प्राधान्याद् व्यञ्जनोपाधिविशिठस्यैव व्यञ्जकत्वाद् व्यञ्जनायाश्चाभिधालक्षणामूलकत्वात् लक्षणायाः अप्यभिधापुच्छभूतत्वात् प्रथमं वाचकोपाधि-भूतामभिधां निरूपयति तत्र मम्मटभट्टः-

साक्षात् सङ्केतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः।
स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते॥[14]

प्रकृतेऽस्मिन् लक्षणे **'अस्य'** शब्दस्य व्यापारोऽभिधा इत्येतावन्मात्रोक्तौ लक्षणादिष्वतिव्याप्तिः सञ्जायेत तन्निवारणार्थमेव **''तत्र''** **''मुख्य''** इति पदद्वयं लक्षणे सन्निविष्टमाचार्यमम्मटेन। सः साक्षात् सङ्केतितोऽर्थ एव मुख्योऽर्थः तस्मिन् मुख्यार्थे सङ्केतितार्थे वा तत्रेति वैषेयिकी सप्तमी विभक्तिर्वर्तते। यथा समेष्वङ्गेषु मुखमेव प्रथममाभाति तथैव सर्वेष्वर्थेषु सङ्केतितार्थ एव प्रथमं प्रतिभाति। अतो मुखमिव प्रधानत्वात् सः मुख्यो वाच्योऽभिधेयो वाऽर्थः। सङ्केतितार्थः सङ्केतश्च शक्तिठाहकः समयः।

'शब्दव्यापारविचार' इत्याख्ये ग्रन्थे अमुं सङ्केतितार्थं **''वाच्योऽर्थः समितध्वनिः''** [15] इतिवत् प्रस्तौति स च संकेतग्रहः **''अस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्यः''** [16] इत्याद्याकारेश्वरेच्छा इति नैयायिकानां मते। वैयाकरणानुयायित्वादेव साहित्यिकानां मतेऽपि सा अभिधा पदार्थान्तरम्। तत्र सङ्केतग्रहेतवः व्यवहारादयः। तदुक्तमभियुक्तैः-

---

* शोधच्छात्रः, संस्कृत विभाग, कलासङ्काय, काशीहिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी।

** प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, कलासङ्काय, काशीहिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी।

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥[17]

सः खलु सङ्केतिताऽर्थः कः स्यादित्याकाङ्क्षायामाह मम्मटः यत्-

''सङ्केतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा''।[18]

अर्थात् जात्यादिभेदतो मुख्यार्थः चतुर्विधो भवति। चतुठयी शब्दानां प्रवृत्तिरितिमहाभाष्यकारवचनमङ्गीकृत्य जातिशब्दाः, गुणशब्दाः, क्रियाशब्दाः यदृच्छाशब्दाश्च व्यक्तेरुपाधिरूपेणाङ्गीकृतास्तेन। अत्र जाति-गुण-क्रिया-यदृच्छाशब्देषु सङ्केतग्रहः इत्येकः वैयाकरणसम्मतः पक्षः, जातौ सङ्केतः इत्यपरः मीमांसक-सम्मतः। शक्तिग्रहकव्यवहारस्य व्यक्ताविव दर्शनात्तत्रैव शक्तिर्युक्तेत्याशयेन व्यक्ताविव सङ्केतग्रहः स्यादिति जिज्ञासायामाचार्यो मम्मटः निगदति यद् व्यक्तौ सङ्केतग्रहस्वीकारे व्यक्तीनामानन्त्यात् शक्यतावच्छेदकेऽप्यानन्त्यमित्यानन्त्यदोषः भवेत्। सङ्केतग्रहकाले उपस्थितासु कतिपयव्यक्तिषु एव सङ्केतग्रहस्वीकारे अन्यासु व्यक्तिषु चास्य (सङ्केतग्रहस्य) अभावात् तासामन्यासां व्यक्तीनां प्रतीतेः व्यभिचारदोषः स्यादिति व्यक्तौ सङ्केतग्रहः न युज्यते। अथ च व्यक्तौ सङ्केतग्रहस्वीकारे गोत्वरूपजातिमान्, शुक्लत्वरूपगुणवान्, चलनरूपक्रियावान्, डित्थनामायमिति जाति-गुण-क्रिया-संज्ञारूप-प्रवृत्ति-निमित्तानां भेदोऽपि न स्यात्। अतो व्यक्तेरुपाधौ सङ्केतग्रहः युक्तः **''उपाधिश्च द्विविधः'' वस्तुधर्मो वक्तृयदृच्छासन्निवेशितश्च। वस्तुधर्मोऽपि द्विविधः सिद्धः साध्यश्च, सिद्धोऽपि द्विविधः पदार्थस्य प्राणप्रदो विशेषाधानहेतुश्च''।**[19]

तत्र प्रथमा जातिः, सा हि जातिः वस्तुनि समवाय-सम्बन्धेन स्थितेति सिद्धो वस्तुधर्मः। प्राणप्रदत्वञ्च तस्याः जातेः वस्तुनो व्यवहारयोग्यतां सम्पादयति। यथोक्तं भर्तृहरिणा-

''न हि गौः स्वरूपेण गौः नाप्यगौः गोत्वाभिसम्बन्धात्तु गौः।''[20]

प्रकृतेऽस्मिन्नुदाहरणे ''गोत्वाभिसम्बन्धात् गौः'' इत्यर्थः गोपदव्यवहारस्य योग्यतां वहति। एतदेव पदार्थस्य प्राणप्रदत्वम्।

तत्र द्वितीयः सिद्धवस्तुधर्मः श्वेतनीलहरितादिगुणः लब्धस्वरूपेभ्यः स्वसजातीयेभ्यः पदार्थेभ्यः पृथक् करोति कमपि पदार्थम्।

मुकुलभट्टोऽपि अमुमेव तथ्यमङ्गीचकार तद्यथा-

''न हि शुक्लादेर्गुणस्य पटादिवस्तुस्वरूपप्रतिलम्भनिबन्धनत्वम्, जातिमहिम्नैव तस्य वस्तुनः प्रतिलब्धस्वरूपात्। अतोऽसौ लब्धस्वरूपस्य वस्तुतो विशेषाधानहेतुः।''[21]

तदेवं प्राणप्रदोपाधिनिबन्धनत्वं यस्य शब्दस्य स जातिशब्दः यथा गवादिः यस्माल्लब्धस्वरूपस्य वस्तुनो विशेषाधानहेतुरर्थः प्रतीयते स गुणशब्दो यथा शुक्लादिः।

साध्या या क्रिया चूल्याद्याश्रयणाद् अद्यः श्रयणान्ता पूर्वापरीभूता क्रमिका व्यापारसंघतिरूपा पाकादिशब्दवाच्या।

वक्त्रा यदृच्छया डित्थादिशब्दानां डित्थाद्यर्थेषु शक्तिठाहोपायेन सङ्केतः सन्निवेश्यते इति संज्ञारूपो यदृच्छात्मकः शब्दः। परमाणुत्वमपि जातिरेव तत्र वैशेषिकदर्शने **''रूप-रस-गन्ध-शब्द-स्पर्श-परिमाणादि''**[22] मध्ये पाठात् पारिभाषिकं तेषां गुणत्वं नैव वास्तविकम्। गुणाः क्रियाश्चैकरूपाः तेषामाश्रयभेदाद् भेदज्ञानं जायते। इदं खलु ज्ञानं काल्पनिकं नैव वास्तविकम्।

इत्थंतया **''जातिगुणक्रियायदृच्छा''** इति महाभाष्यकारदिशा वैयाकरणसम्मतः प्रतिपादितः सङ्केतग्रहः वैयाकरणानुयायित्वेन साहित्यिकानां मम्मट-मुकुलभट्टादीनां मतेऽपि समानम् एव।

सर्वेऽपि शब्दाः जातिवाचकाः एवेति यः मीमांसकानां द्वितीयपक्षः सः मम्मटभट्टैः शब्दव्यापारविचारे भृशं दूषितः। तद्यथा-

''संस्थानावस्थानप्रमाणवर्णैर्भेदेऽपि व्यक्तीनां शाबलेयो गौः धावलेयो गौरित्याद्येकप्रत्यय-हेतुत्वं जातेरेव। हंसहारादीनां घृतगुडादीनां शुकसारिकाद्युदीरितडित्थादिशब्दानां नानावस्थाडित्थाद्यर्थानां च भेदेऽपि 'हंसः शुक्लः', 'हारः शुक्लः', 'घृतं पच्यते', 'गुडं पच्यते', 'डित्थशब्दो डित्थशब्दः', 'डित्थो डित्थ' इत्येकाकारावगतिनिबन्धनत्वादेक-रूपत्वमेव गुणक्रियायदृच्छानामिति नैतासां भिन्नेष्वभिन्नाभिधानप्रत्ययहेतुः जातिर्घटत इति चत्वार्येव शब्दप्रवृत्तिनिमित्तानि''।[23]

मुकुलभट्टोऽपि जातिवादिनां मतं दूषयति। तद्यथा-

'गुणक्रियाशब्दसंज्ञिव्यक्तीनामेव तत्तदुपाधिनिबन्धन-भेदजुषामेकाकारतावगतिनिबन्धनत्वम्, न तु जातेरिति भगवतो महाभाष्यकारस्यात्राभिमतम्। यथा हि एकमेव मुखं तैलखड्गोदकदर्शादीनां प्रतिबिम्बावगतिनिबन्धानां भेदान्नानाकरत्वेन प्रत्यवभासते तथैकैव शुक्लादिव्यक्तिर्देशकाला-वच्छिन्ना तत्तत्कारणसामग्र्युपजनित-शङ्ख्याश्रय विशेष-वशेन नानारूपतयाभि-व्यक्तिमासादयन्ती विचित्रैव स्यादिति। अतश्च तस्याः शुक्लादिव्य-क्तेरेकत्वाज्जातेश्च भिन्नाश्रयसमवेतत्वात् शुक्लत्वादिजात्य-भावान्न शुक्लादिशब्दानां जातिशब्दत्वम्। एवं पचतीत्यादौ डित्थशब्दादौ डित्थादौ च संज्ञिनि वाच्यम्। अत्राप्येकस्या एव पाकादिक्रियाव्यक्तेः डित्थादिशब्दव्यक्तेः डित्थादेश्च संज्ञिनो यथाक्रममभिव्यञ्जकानां पाकादीनां तथा ध्वनीनां वयोवस्थाविशेषाणां कौमारादीनाञ्च यो भेदस्तद्वशेन नानाविधेन रूपेणावभासमानत्वात् स्थितमेतच्छब्दप्रवृत्तिनिमित्तानां चतुष्टवान्मुख्यः शब्दार्थश्चतुर्विधः''।[24]

एवम्तया मम्मटमुकुलभट्टौ अभिधावृत्तिप्रसठे समानौ परञ्चात्र मुकुलभट्टः अभिधायाः एव भेदद्वयमङ्गीकृत्यैकस्य मुख्यत्वेन चान्यस्यलाक्षणिकत्वेन भेदं निरूपयामास। मुख्यार्थस्यास्य चत्वारो भेदास्तत्र तेन प्रतिपादिताः।

'जाति-गुण-क्रिया-यदृच्छा' भेदादिमे भेदाः शब्देन मम्मटेन्याप्यङ्गी कृताः। मुकुलभट्टेन मुख्यः अभिधाव्यापारः **'निरन्तरार्थ-विषयः'** इति शब्देन प्रतिपादितः अभिधालक्षणप्रसठे भट्टमुकुलेन-

''शब्दव्यापारतो यस्य प्रतीतिस्तस्य मुख्यता''[25] इत्यस्मिन् लक्षणे काव्यप्रकाशकारेणोक्तं यदभिधालक्षणं ततोऽपि ऋजुः पन्था आलम्बितः।

एवमभिधामभिलक्ष्य लाक्षणिकशब्दज्ञानं लक्षणाधीनं, लक्षणामूलव्यञ्जनायामपि लक्षणायाः मूलत्वात् अतो लक्षणां लक्षयति तत्राचार्य-मम्मटः एवम्-

मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया॥[26]

लक्षणेऽस्मिन् मुख्यार्थबाधः, मुख्यार्थयोगः, रूढिप्रयोजनान्यतरच्चेति त्रयं समुदितरूपेण लक्षणायां हेतुः। **''अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणा''** एतद्धि लक्षणालक्षणम्। **'आरोपिता-क्रिया'** पदद्वयमिदं न लक्षणघटकमपितु

स्वरूपप्रत्यायकम्। **'अथेति'** विकल्पवाचकः।

लक्ष्यतेति पदस्य प्रतिपाद्यतेत्यर्थः अन्योऽर्थः = मुख्यार्थभिन्नः, यदिति क्रियाविशेषणमथवा यदिति ययेत्यर्थकं लुप्ततृतीयान्तकमव्ययम्। इत्थं 'गंङ्गाया घोषः' इत्यादौ मुख्यार्थबाधे एकपदार्थस्य पदार्थान्तरेण सह सम्बन्धरूपे बाधे सति, घोषाद्यधिकरणत्वाद्यसंभवरूपे बाधे तद्योगे मुख्यार्थस्य लक्ष्यार्थेन सह सम्बन्धरूपकारणतायाः योगे, रूढितः प्रासिद्धेः, प्रयोजनात् शैत्यपावनत्वादिरूपफलविशेषात्, अन्योऽर्थः मुख्यभिन्नः तटादिरूपः, यया वृत्त्या लक्ष्यते सा शब्दे आरोपितः सान्तरार्थनिष्ठः शब्दव्यापारः लक्षणा।

मम्मटोक्तलक्षणालक्षणेऽस्मिन् मुख्यार्थबाधो लक्षणायां बीजं, मुख्यार्थः सम्बन्धः कारणम्, प्रयोजनञ्च फलमिति। मुख्यार्थस्य प्रमाणान्तरेण बाधे सति मुख्यार्थस्य बाधेऽन्वयानुपपत्त्या तात्पर्यानुपपत्येति द्विधा सम्भवति। यथा--**'गङ्गायां घोषः'** इत्यत्र गङ्गापदार्थः भगीरथरथखातावच्छिन्नः जलप्रवाहः तत्र चाधिकरणे सप्तमी विभक्तिः। गङ्गाघोषयोश्चाधाराधेयभावसम्बन्धोऽनुपपन्नः इति अन्वयानुपपत्तिः। परं सम्बन्धमात्रानुपपत्तौ लक्षणायाः स्वीकारे घोषपदस्य मकरादौ लक्षणायामपि अन्वयानुपपतिर्वारिता स्यात्। यद्यपि **''न विधौ परः शब्दार्थः''** इति नियमाद् विधेये घोषपदे लक्षणायाः असम्भवादत्र न दोषस्तथापि "नक्षत्रं दृष्ट्वा वाचं विसृजेत्" **''काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्''** **''छत्रिणो यान्ति''** इत्यादौ दर्शनक्रियायां कर्मतया नक्षत्रस्यान्वयेऽन्वयानुपपत्यभावात् नक्षत्रपदस्य कालविशेषे (रात्रौ) लक्षणा न स्यात्।

''काकेभ्यो दधीत्यादिवाक्यस्य'' काकजन्यनाशोत्पत्ति-प्रतियोगिकत्वकर्तृकव्यापारप्रयोज्याभाववद् 'दधि' इत्याघर्थेऽन्वयानुपपत्त्यभावेन दध्युपघातके लक्षणा न स्यात्। एवं 'छत्रिणो यान्ति' इत्यत्रापि गमनक्रियायां छत्रिणां कर्तृतयाऽन्वये बाधाभावे लक्षणा न स्यादतस्तात्पर्यानुपपत्तिरेव मुख्यार्थबाधः। मुख्यार्थबाधमन्तरा लक्षणा स्वीकारे **''भद्रात्मनो दुरधिरोह''**[27] इत्यादौ शाब्दव्यञ्जनास्थले प्रकरणेन प्रस्तुतेऽर्थेऽभिधाया नियन्त्रणादप्रस्तुतेऽर्थे लक्षणा स्यात्। तदुक्तौ तु तस्मिन् शाब्दव्यञ्जनास्थले मुख्यार्थस्य बाधाभावेन न लक्षणायाः अवकाशः।

एवं मुख्यार्थसम्बन्धं विना लक्षणायां गठापदाद् यमुनातटस्याप्युप—स्थित्याऽतिप्रसक्तिः। मुख्यार्थसामर्थ्याक्षिप्त-व्यञ्जनायामपि नातिव्याप्तिः। रूढिप्रयोजनयोरभावेऽपि लक्षणास्वीकारे **'रूपवान् घट'** इत्यर्थे **'रूपो घट'** इति प्रयोगः भवेत्।

अतो सारत्वेन वक्तुं शक्यते यत् तात्पर्यानुपपत्तिरेव लक्षणायाः बीजम्।

एवम्प्रकारेण लक्षणालक्षणं समुपस्थाप्य तद्भेदान् वर्णयामास--

स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम्।
उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा॥[28]

उपादीयते यत् तदुपादनम् इति व्युत्पत्त्या स्वस्य मुख्यार्थस्य सिद्धयेऽन्वयेसिद्धये परस्याशक्यार्थस्याक्षेपो प्रत्यायनमुपादनलक्षणम्। अर्थात् स्वार्थापरित्यागेन परार्थोपस्थापनमुपादनम्। एवं परस्यामुख्यार्थस्यान्वयप्रवेशसिद्ध्यर्थं स्वार्थसमर्पणं लक्षणम्। स्वार्थपरित्यागेन परार्थोपस्थापनं लक्षणमिति। एताभ्यामुपादानलक्षणरूपाभ्यामुपाधिभ्यां शुद्धैव लक्षणा द्विधा भवति न तु गौणी।

'कुन्ताः प्रविशन्ति' इत्यस्मिन्नुदाहरणे अचेतनस्य कुन्तादेः प्रवेशक्रियायामन्वयासम्भवात् स्वसंयोगिपुरुषाक्षेपाद् उपादानलक्षणा। तदुक्तं मम्मटेन-
''कुन्ताः प्रविशन्ति इत्यादौ कुन्तादिभिः प्रवेशसिद्ध्यर्थं स्वसंयोगिनः पुरुषा आक्षिप्यन्ते।'' [29]

''गङ्गायां घोषः'' इत्यत्र तटादेर्घोषाद्यधिकरणत्वसिद्धये गठाशब्दः स्वार्थं जलप्रवाहरूपमर्थं परित्यजति। अतो लक्षणलक्षणेयम्।

यत्र आरोप्यमाणः आरोपविषयश्च सामानाधिकरण्येन शब्दतो निर्दिश्येते सा सारोपा। लक्षणायामस्यां विषयिणः उपमानस्य, विषयस्योपमेयस्य पृथक्-पृथक् निर्देशः आरोपः। तदुक्तं मम्मटभट्टेन-

'सारोपाऽन्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा'[30]

विषयिणा उपमानेन विषयस्योपमेयस्य निगीर्णमध्यवसानं तेन सह वर्तते सा साध्यवसाना। विषयिणा निगीर्णे विषये साध्यवसाना लक्षणा स्यादिति।

तदुक्तम्--

'विषय्यन्तःकृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात्साध्यवसानिका'[31]

सारोपा-साध्यवसानारूपभेदाविमौ सादृश्यसम्बन्धेन यदा भवतस्तदा गौणौ तदितरसम्बन्धेन यदा स्थितस्तदा शुद्धौ ज्ञेयौ।

एवं सारोपासाध्यवसानाभ्यां द्विविधेयं लक्षणा सादृश्यसम्बन्धेन गौणी, सादृश्येतरसम्बन्धेन शुद्धा भवति।

तथा हि--**''भेदाविमौ च सादृश्यात्सम्बन्धान्तरतस्तथा गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ।''** [32]

इत्थं लक्षणा षड्विधा तत्र शुद्धा उपादानलक्षणा-लक्षणलक्षणा-सारोपा-साध्यवसाना-भेदाच्चतुर्धा। गौणी च सरोपा-साध्यवसानाभ्यां द्विविधेति भवति। तथा हि लक्षणा स्वहेतुभूतसम्बन्धस्य सादृश्यस्य तदितरस्य कार्यकारणादेश्च भेदाद् द्विविधा शुद्धा गौणी च। तत्र सादृश्यसम्बन्धात् या गौणी लक्षणा तयोर्क्रमेण एते उदाहरणे गौर्वाहीक गौरयं चेति।

कार्यकारणसम्बन्धात् सा शुद्धा आयुर्घृतम् आयुरेवेदमित्यत्र भवति।

लक्षणेयमित्थंतयाऽवगन्तुं शक्यते-

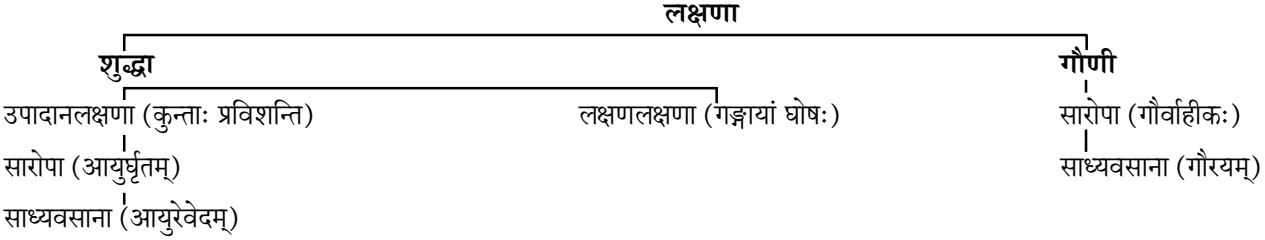

'लक्षणा तेन षड्विधा'[33] इति निगदता मम्मटभट्टेन लक्षणाषड्विधा प्रतिपदिता। शुद्धभेदनिरूपणप्रसङ्गे आचार्यमम्मटेन अभाणि यत्- **'उभयरूपा चेयं शुद्धा उपचारेणामिश्रितत्वात्'**[34] किं नामोपचारत्वमिति जिज्ञासायामाह विश्वनाथः--

''उपचारो नामात्यन्तं विशकलितयोः पदार्थयोः भेदप्रतीतिस्थगनमात्रम्''[35] मम्मटमुकुलभट्टावुभावपि लक्षणाविवेचनप्रसङ्गे तुल्यतामावहतः परञ्च यत्रकुत्रचित् मुकुलभट्टविषयिणी लक्षणा मतवैभिन्यमप्यावहति। लक्षणालक्षणप्रसङ्गे समानमेव जगदतुः उभौ--

'अर्थावसेयस्य पुनर्लक्ष्यमाणत्वमुच्यते'[36]

यस्य तु शब्दव्यापारगम्यार्थपर्यालोचनतयावगतिस्तस्य लाक्षणिकत्वमुच्यते। लक्षणायां हेतुरपि द्वयोर्मते तुल्यमेव। यथा-

मुख्यार्थासंभवात् सेयं मुख्यार्थासत्तिहेतुका।
रुढेः प्रयोजनाद् वापि व्यवहारे विलोक्यते।।[37]

परञ्चोदाहरणप्रसङ्गे उभयोर्मते समानतानैव। तदुक्तं मुकुलभट्टेन-

''उपादानाल्लक्षणाच्च शुद्धा सा द्विविधोदिता''[38]

अत्र उपादानलक्षणयोरुदाहरणत्वेन **''गौरनुबन्ध्यः''** **''पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते''** इत्युदाहरन्ति। तेषामाशयो यत् 'गौरनुबन्ध्यः' इत्यत्र गोशब्दस्य जातिवाचकशब्दत्वात् अभिधावृत्तिः गोगतगोत्वं बोधयित्वा उपक्षीणा जायते। अनुबन्धनञ्च जातेः नैव भवति। मुख्यावृत्तिरपि व्यक्तिं न बोधयति।

यतोहि **''विशेष्यं नाऽभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे''** इति न्यायात्, तस्मात् शब्दप्रत्यायितजातिसामर्थ्यात् जातेराश्रयभूता व्यक्तिराक्षिप्यते। तेनाऽसौ 'गो' व्यक्तिः लाक्षणिकी। तथैव-**'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते'** इत्यत्रापि भोजनं बिना अनुपपन्नपीनत्वम्। काव्यप्रकाशकाराणां मते अत्र रूढिप्रयोजनयोरभावात् लक्षणा नैव भवितुमर्हति। तदुक्तं- **'न ह्यत्र प्रयोजनमस्ति न वा रूढिरियम्'।**[39]

अतो भेदविवेचनप्रसठे काचित् विप्रतिपत्तिः समापतति। काव्यप्रकाशकारदृठ्या 'क्रियताम्' इत्युक्ते सति कर्तुराक्षेपः, **'कुरु'** इत्युक्ते कर्मणः आक्षेपः, **'प्रविश पिण्डीम्'** इत्युक्ते क्रमेण गृहं भक्षय इत्यादि आक्षिप्येते। सा प्रतीतिः किल यथाऽत्र अर्थापत्या दृठा तथैव **'गौरनुबन्ध्यः'** **'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते'** इत्यत्रापि श्रुतार्थापत्तेरर्थापत्तेर्वा विषयत्वेन स्थास्यतीति वदन्ति। अत्र समेऽपि आचार्याः काव्यप्रकाशकारमेवानुसरन्ति। तथैव शुद्धोपचारमिश्रयोर्भेदकविषयेऽपि उभयोः मतभेदः दृश्यते। तदुक्तं-

''शुद्धोपचारमिश्रत्वाल्लक्षणा द्विविधा मता''[40]

इत्यत्र लक्षणायाः द्विप्रकारकत्वं दर्शितं शुद्धत्वादुपचारमिश्रत्वाच्च।

'उपादानाल्लक्षणाच्च शुद्धा सा द्विविधोदिता'[41]

शुद्धा रूपेयं लक्षणा द्विविधा क्वचित् खल्वर्थान्तरोपादानेन लक्षणा, प्रवर्तते, क्वचिदर्थान्तरलक्षणेन।

तदन्ते उपचारमिश्रां लक्षणां चतुर्थेदत्वेन निरूपयति--

आरोपाध्यवसानाभ्यां शुद्धगौणोपचारयोः।
प्रत्येकं भिद्यमानत्वादुपचारश्चतुर्विधः।।[42]

यत्र वस्त्वन्तरं वस्त्वन्तरे उपचर्यते तत्र सोपचारा लक्षणा भवति। उपचारस्तु शुद्धगौणभेदाभ्यां प्रथमं द्विविधः तथा आरोपाध्यवसानाभ्यां सहितस्तु चतुर्विधो भवति।

शुद्धोपचारनामकी लक्षणा तत्र भवति यत्र मूलभूतस्य उपमानोपमेयभावस्य अभावेन उपमानगतगुणसादृश्य-गुणयोगलक्षणासंभवात् कार्यकारणभावादि—सम्बन्धाल्लक्षणया वस्त्वन्तरे वस्त्वन्तरमुपचर्यते। आरोपाध्यवसा-नाभ्यामयमुपचारो द्विविधः शुद्धोपचारसारोपा, शुद्धोपचारसाध्यवसाना भेदात्।

तत्र शुद्धोपचारायाः सारोपायाः उदाहरणम् **'आयुर्घृतम्'** यत्र तूपचर्यमाणविषयस्योपचर्यमाणेऽन्त-र्लीनतया विवक्षितत्वात् स्वरूपाह्नवः क्रियते तत्राध्यवसानं तद्यथा- शुद्धोपचारायाः साध्यवासानायाः उदाहरणं 'पञ्चालाः' अस्मिन्नुदाहरणे पञ्चालापत्यनिवासाधिकरणत्वाज्जनपदे लक्षितलक्षणया पञ्चालशब्दः प्रयुज्यते। पञ्चालेनापत्यानां लक्षणाद्, अपत्यैश्च स्वनिवासाधिकरणस्य जनपदस्य। अतोऽत्राध्यवसानगर्भः शुद्धोपचारः।

यत्र मूलभूतोपमानोपमेयभावसमाश्रयेण उपमानगतगुणसदृशगुणयोगलक्षणां पुरस्सरीकृत्योपमेय उपमानशब्द-स्तदर्थश्चाध्यारोप्यते स हि गुणेभ्य आगत इति गौणशब्देनाभिधीयते। आरोपाध्यवसानभेदाभ्यामयमपि द्विविधः। सारोपो गौणोपचारः, साध्यवसानो गौणोपचारश्च।

यत्रोपमानगतगुणानामुपमेयस्योपरि आरोपः क्रियते तत्र गौणोपचारा सारोपा यथा गौर्वाहीकः। यत्र तूपचर्यमाणविषयस्योपचर्यमाणेऽन्तर्लीनतया स्वरूपापह्नवः क्रियते तत्राध्यवसानं भवति। गुणसादृश्ययोगात् तत्र लक्षणायाः गौणीसाध्यवसाना भेदः समुपजायते यथा- **'राजा'।** राजशब्दो क्षत्रिये मुख्यया वृत्त्या प्रयुक्तः सन् शूद्रादौ क्षत्रियगतजनपदपरिपालनसदृशजनपदपरिपालनयोगलक्षणापूर्वकतया गौणवृत्त्या युज्यते। अतोऽत्राध्यवसानगर्भो गौणोपचारः।

लक्षणा

शुद्धा		**सोपचारा**
उपादान लक्षणा (गौरनुबन्ध्यः)	सारोपा -	शुद्धोपचारा सारोपा (आयुर्घृतम्)
लक्षणलक्षणा (गङ्गायां घोषः)		गौणोपचारा सारोपा (गौर्वाहीकः)
	साध्यवसाना-	शुद्धोपचारासाध्यवसाना (पञ्चालाः)
		गौणोपचारा साध्यवसाना (राजा)

अतः लक्षणायाः एतेन चातुर्विध्येनोपचारेण सह पूर्वं प्रतिपादितायाः शुद्धाया द्वौ भेदौ संकलय्य षट्प्रकाराः सञ्जाताः। लक्षणेयमित्थमवगन्तुं शक्यते-

एवं मुकुलभट्टमते मुख्यार्थः चतुर्विधः षड्विधश्चामुख्यार्थः सर्वं सम्मिल्य अभिधायाः दश भेदाः भवन्ति- **'इत्येतदभिधावृत्तं दशधाऽत्र विवेचितम्'**[43]

अत्रेदमवधेयमस्ति यत् मम्मटमुकुलभट्टयोर्मते यत्र-कुत्रचित् विप्रतिपत्तिः समापतति। यथा शुद्धोपचार-मिश्रयोर्भेदकविषये मतभेदः दृश्यते।

''तटस्थे लक्षणा शुद्धा''[44] इत्याभिधावृत्तिमातृकाकाराः **''उपादानलक्षणरूपा चेयं शुद्धा उपचारेणामिश्रि-तत्वात्''**[45] इति काव्यप्रकाशकाराः। तदत्रायमभिसन्धिर्भट्टमुकुलदिशा लक्ष्यस्य-लक्षकस्य च भेदरूपं यत् ताटस्थ्यं तत् शुद्धा-गौणीभेदयोः लक्षणयोः भेदकम्।

''गङ्गायां घोषः'' इत्यत्र लक्षकः गङ्गाशब्दार्थः। लक्ष्यश्च तटरूपार्थः भिन्नः। मम्मटदिशा लक्ष्यस्य-लक्षकस्य च भेदरूपं ताटस्थ्यं स्वीक्रियते चेत् लक्षणायाः प्रयोजनमेव न सेत्स्यति। लक्षणायाः प्रयोजनं तु तटं तटत्वेन नैवाङ्गीकृत्य प्रत्युत् गङ्गात्वावच्छिन्नतटरूपेण स्वीकृते सत्येव सेत्स्यति। स च सम्बन्धः मुकुलदिशा नैव सिद्ध्यति। मम्मटेन यत् शुद्धा-गौणीलक्षणयोर्भेदकतत्त्वं यदुपचारत्वमुक्तं तदेव ज्यायः।

'तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्' इति निगदता मम्मटेन वादद्वयमभिहितान्वयवादान्विताभिधानवादश्च व्याचष्टितम्। तत्राकांक्षायोग्यतासन्निधिवशात् अभिहितानामुत्तरकालं परस्परान्वयरूपः अभिहितान्वयवादः भवतीति प्रतिपादितम्। यथा- 'घटं करोतीत्यर्थे' 'घटवृत्तिकर्मतानुकूलाकृति' रूपः यः शाब्दबोधो भवति तत्र 'वृत्ति-अनुकूला' चेति सम्बन्धद्वयं प्रतिभाति। सः सम्बन्धः कस्यापि पदस्यार्थः न प्रत्युत तात्पर्यावृत्त्या प्रतिभाति। अतः अपदार्थः इत्युच्यते।

परस्परपरान्वितानां पदानां प्रत्यायनरूपः वाक्यार्थ एव अन्विताभिधानवादः। एवम्प्रकारेण श्रोतुः अपेक्षयाऽभिहितान्वयवादः वक्तुः अपेक्षयाऽन्विताभिधानवादः भवतीति तत्समुच्चयः वाक्यमेववाक्यार्थस्य वाचकमिति अखण्डः वाक्यार्थः। तद्यथा-

उक्तान्वये च सा पश्चात्, अन्वितोक्तौ पुनः पुरः।
द्वये द्वयमखण्डे तु, वाक्यार्थे नास्ति सत्यतः॥ [46]

यथा काव्यप्रकाशकारः शब्दविचारव्यापाराख्ये ग्रन्थे चतुरः वादान् दर्शयामास। तथैव मुकुलभट्टोऽपि लक्षणायाः कक्षाविभागप्रदर्शनप्रसङ्गे चतुरः वादान् प्रादर्शि।

मम्मटाचार्यः अभिधा-लक्षणा-तात्पर्या-व्यापारातिरिक्तं व्यञ्जनानामकमपरं व्यापारमप्यठीकरोति। व्यञ्जना नाम प्रतिभानैर्मल्यविदग्धपरिचयप्रकरणादिज्ञान-सापेक्षावृत्तिविशेषा। तदुक्तं शब्दव्यापारविचाराख्ये ग्रन्थे-

प्रज्ञानैर्मल्यवैदग्धप्रस्तावादिविधायुजः।
अभिधालक्षणायोगी व्यङ्ग्योऽर्थः प्रथितोध्वनेः॥ [47]

तथ्यमिदं साहित्यदर्पणकारः इत्थं प्रस्तौति--

विरतास्वभिधाद्यासु ययाऽर्थो बोध्यते परः।
सा वृत्तिर्व्यञ्जना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च॥[48]

परमलघुमञ्जूषायां नागेशभट्टः अस्याः व्यञ्जनायाः स्वरूपमित्थमाह--''ननु व्यञ्जना कः पदार्थः? उच्यते मुख्यार्थबाधनिरपेक्षबोधजनको, मुख्यार्थसम्बन्धासम्बन्धसाधारणः प्रसिद्धाप्रसिद्ध्यार्थ-विषयको, वक्त्रा-दिवैशिष्ट्यप्रतिभाद्युद्बुधः संस्कारविशेषो व्यञ्जना।'' [49]

वृत्तिरियं शाब्द्यार्थीभेदाभ्यां द्विधा। तत्र शाब्दीव्यञ्जना लक्षणामूला अभिधामूलाभेदात् द्विप्रकारकी। तत्र लक्षणामूलं कारणं यस्याः सा लक्षणामूला। उदाहरणं यथा--

मुखं विकसितस्मितं वशितवक्रिमप्रेक्षितं
समुच्छलितविभ्रमा गतिरपास्तसंस्था मतिः।
उरो मुकुलितस्तनं जघनमंसबन्धोद्धुरं
वतेन्दुवदनातनौ तरुणिमोद्गमो मोदते।।[50]

पद्येऽस्मिन् विकासस्य पुष्पधर्मस्य स्मिते बाधितविषयत्वात् असंकुचितत्वसम्बन्धेन सातिशयत्वं लक्ष्यते। पुष्पगतसौरभादिधर्मस्य मुखे प्रतीतिः व्यङ्ग्यम्। तथैव प्रेक्षितादिषु वशितत्वादिधर्माः बाधितविषयाः सन्तः अभिमतविषयप्रवृत्त्यादिसम्बन्धेन युक्तानुरागित्वादयः व्यङ्ग्यर्थाः प्रतीयन्ते।

तत्राभिधामूलायाः लक्षणायाः लक्षणम्--

अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद् व्यापृतिरञ्जनम्।।[51]

भर्तृहरिणा प्रतिपादितैः संयोगाद्यैर्कारणैः नानार्थशब्दानां एकस्मिन्नेव वाच्येऽर्थे नियन्त्रिते सति वाच्यात् भिन्नार्थप्रतिपत्तिः येन शब्दव्यापारेण सञ्जायते सा व्यञ्जनाऽभिधामूला इति निगद्यते।

उदाहरणं यथा--

भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोर्विशालवंशोन्नतेः कृतशिलीमुखसंग्रहस्य।
यस्यानुपप्लुतगतेः परवारणस्य दानाम्बुसेकसुभगः सततं करोऽभूत्।।[52]

अत्र प्रकरणेन अनेकार्थशब्दानां राज्ञि तदन्वययोग्ये चार्थे अभिधायाः नियन्त्रिते सति सहृदयानां प्रतिभासामर्थ्यात् हस्तिनः तदन्वययोग्यस्य चार्थान्तरस्य या प्रतीतिः सा व्यञ्जनावृत्तिजन्या। पुनः असम्बधार्थ- बोधनात् शब्देऽप्रामाण्यापत्तिः मा स्यात् इति प्राकरणिकराज्ञः अप्राकरणिकहस्तिनश्च उपमानोपमेयभावः कल्प्यत इति उपमालङ्कारोऽपि व्यञ्जते।

एवम्प्रकारेण आचार्यमम्मटेन शाब्दीव्यञ्जनायाः भेदद्वयं लक्षणामूला अभिधामूला चेति व्याचष्टितम्। एतदनन्तरम् आर्थीव्यञ्जनायाः स्वरूपं निगदन्नाचार्यो मम्मटः ब्रवीति यत्--

वक्त्रृबोधव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः।
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम्
योऽर्थस्यान्यार्थधीर्हेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा।।[53]

वक्त्रादिवैशिष्ट्यात् वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यात्मनः अर्थात् या अर्थान्तरस्य प्रतीतिः तत्र हेतुभूतो व्यापारः व्यञ्जना। सैवार्थी व्यञ्जनेत्युच्यते।

तदुक्तं-- **मातर्गृहोपकरणमद्य खलु नास्तीति साधितं त्वया।**
तद्भण किं करणीयमेव मेव न वासरः स्थायी।।[54]

उपक्रियतेऽनेनेत्युपकरणम्। अत्रेन्धनाकाशदिसामग्री नास्ति इति त्वया निगदितम्। तत् कथय किं कर्त्तव्यमिति। इत्यत्रवक्तृवैशिष्ट्येन स्वैरम् अर्थात् स्वेच्छयविहारार्थिनी व्यज्यते।

इत्येवं रूपेण मम्मटाचार्येण व्यञ्जनावृत्तिर्न्यरूपि। मुकुलभट्टस्तु लक्षणामूलव्यञ्जनाप्रसठे निगदति यत्-

स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्त वियतो वेल्लद्बलाका घना
वाताः सीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः।
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे
वैदेही तु कथं भविष्यति ह हा हा देवि धीरा भव॥[55]

इत्यस्मिन् पद्ये 'लिप्तः' शब्दः कान्त्या कुङ्कुमादिवल्लेपनसाधनत्वभावाद् मुख्यार्थबाधितस्सन् कुङ्कुमादिलेपनसदृशेषततिरोधीयमानत्वादिसम्बन्धेन कान्तिसम्पृक्तमर्थं लक्षयति। एवं तया **'सुहृच्छब्देन'** पयोदानामचेतनत्वेन मैत्रीसम्बन्धाभावान्मुख्यार्थबाधे जाते सुहृद्गतसांमुख्यादिधर्मसदृशसांमुख्यादिधर्मयोगात् पयोदाभिमुखाः मयूराः लक्ष्यन्ते। 'रामशब्दस्यापि' प्रतिपाद्यस्यानन्यविषयत्वात् बाधितमुख्यार्थस्सन् राज्यभ्रंश-वनवास-सीतापनयन-पितृमरणादयः असाधारणदुःखहेतवो लक्षिताः।

ध्वनिवादिनां मते अत्र रामशब्दात् अतिशयदुःखपात्रता लक्ष्यते राज्य-त्याग-जटावल्कलधारण-पितृशोक-प्रियाहरणादि-दुःखसहनातिशयस्स्वरूपा व्यङ्ग्यविषयिणी। मुकुलभट्टमते तु ध्वनिवादिभिः ये व्यङ्ग्यार्थाः प्रतिपादिताः तेषां व्यङ्ग्यार्थानां प्रतीतिः अनया लक्षणयैव साध्यते।

इत्थमुभयोः मतैक्यं मतभेदञ्च विचार्य प्रतीयते यत् समेष्वपि पौरुषेय-वाक्येषु व्यञ्जनावृत्तिः प्रसरति। अतः व्यञ्जनावृत्तिविषये काव्यप्रकाशकारमतमेव ज्यायः।

सन्दर्भ सूची-

1. सिद्धान्तकौमुदी (चतुर्थभागः) उणादिप्रकरणम्, सूत्रसंख्या 4-198
2. साहित्यदर्पणः - विद्यावाचस्पति-साहित्याचार्य-शालिग्रामशास्त्रिविरचितया विमलाख्यया हिन्दीव्याख्यया विभूषितः, प्रकाशकः मोतीलालबनारसीदास, पृ.सं.11
3. ''सह-सुपा''
   ''परार्थाऽभिधानवृत्तिः''
   ''कृद-तद्धित-समासैकशेषसनाऽऽद्यन्तधातुरूपाः पञ्च वृत्तयः''
   लघुसिद्धान्तकौमुदी, सम्पादकः-श्री धरानन्दशास्त्री, प्रकाशकः-मोतीलाल-बनारसीदास, पृ.सं.820
   'व्याकरणस्मृतिनिर्णीतः शब्दो निरूक्तनिघण्ट्वादिभिर्निर्दिष्टस्तदभिधेयोऽर्थस्तौ पदम्'।
   तस्य पञ्च वृत्तयः सुब्वृत्तिः, समासवृत्तिः, तद्धितवृत्तिः, कृद्वृतिः तिङ्वृत्तिश्च।
   'सेयं सुब्वृत्तिः पञ्चतय्यपि वाङ्मयस्य माता'।
   काव्यमीमांसा सम्पादकः-पण्डितकेदारनाथशर्मासारस्वतः,
   प्रकाशक- बिहार-राठ्रभाषा-परिषद्, पृ.सं.54
   'वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टा अक्लिष्टाश्च।'
   पातञ्जलयोगसूत्रम् 1.5, सम्पादकः-स्वामी श्री ब्रह्मलीनमुनि। प्रकाशकः-चौखम्बाप्रकाशनम्,पृ.सं.22
4. संस्कृत-वाङ्मय का बृहद् इतिहास (अठम-खण्ड, काव्यशास्त्र) सम्पादकः-आचार्य बलदेव उपाध्याय, प्रकाशक-उत्तर-प्रदेश-संस्कृत-संस्थान, पृ.सं.30
5. श्रीमम्मटपण्डितराजासिद्धान्तमीमांसा, लेखकः सम्पादकश्च पण्डित श्रीवायुनन्दपाण्डेयः, प्रकाशकः-सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयः।
6. ध्वन्यालोकः (लोचनम्) (प्रथम-उद्योत) सम्पादक-आचार्य जगन्नाथपाठक, प्रकाशकः-चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, पृ.सं.64
8. ध्वन्यालोकः (प्रथम-उद्योतः) सम्पादक-डॉ.रामसागर त्रिपाठी, प्रकाशक-मोतीलाल बनारसीदास, पृ.सं.90
9. साहित्य-दर्पणः, सम्पादक-शालिठाामशास्त्री, प्रकाशकः-मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, पृ.सं.169
10. तत्रैव, तृतीयपरिच्छेद, पृ.सं.51
11. अभिनव रस सिद्धान्त, सम्पादकः-डॉ. दशरथ द्विवेदी, प्रकाशक-विश्वविद्यालय-प्रकाशन, पृ.सं.26
12. काव्यप्रकाशः (द्वितीयोल्लासः), सम्पादक-श्रीहरिशंकर शर्मा, प्रकाशक-चौखम्बा-प्रकाशन
13. तत्रैव
14. तत्रैव
15. शब्दव्यापारविचारः, सम्पादकः-डॉ. रेवाप्रसादद्विवेदी, प्रकाशकः चौखम्बा-विद्याभवन, वाराणसी, पृ.सं.1
16. तर्क-संग्रहः, सम्पादकः-श्रीकृष्णबल्लभाचार्य, प्रकाशक-व्यासप्रकाशन, वाराणसी पृ.सं.129
17. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, लेखकः-विश्वनाथ पञ्चानन भट्टचार्या, सम्पादकः-श्री सूर्यनारायणशुक्ल, प्रकाशकः, -कृष्णदास अकादमी, पृ.सं.75
18. काव्यप्रकाशः (द्वितीयः उल्लासः)
19. तत्रैव ,,
20. तत्रैव
21. अभिधावृत्तमातृका, सम्पादकः-डॉ. रेवाप्रसादद्विवेदी, प्रकाशकः-चौखम्बा-विद्याभवन, वाराणसी, पृ.सं.5
22. तर्कसंग्रहः, व्यासप्रकाशन, वाराणसी, पृ.सं.14
23. शब्दव्यापारविचारः, पृ.सं.5
24. अभिधावृत्तिमातृका, पृ.सं.10
25. तत्रैव - पृ.सं.2
26. काव्यप्रकाशः (द्वितीयः उल्लासः)
27. तत्रैव ,,
28. तत्रैव ,,
29. तत्रैव ,,
30. तत्रैव ,,
31. तत्रैव ,,
32. तत्रैव ,,
34. तत्रैव ,,
35. साहित्यदर्पणः, द्वितीयः परिच्छेदः
36. अभिधावृत्तमातृका, पृ.सं.-2
37. तत्रैव - पृ.सं.-50
38. तत्रैव - पृ.सं.-12
39. काव्यप्रकाशः (द्वितीयः उल्लासः)
40. अभिधावृत्तमातृका, पृ.सं.11
41. तत्रैव - पृ.सं.12
42. तत्रैव - पृ.सं.11-15
43. तत्रैव - 72
44. तत्रैव - 20
45. काव्यप्रकाशः (द्वितीयः उल्लासः)
46. शब्दव्यापारविचारः, पृ.सं.26-29
47. शब्दव्यापारविचारः, पृ.सं.33
48. साहित्यदर्पणः, पृ.सं.39
49. वैयाकरण-सिद्धान्त-परमलघुमञ्जूषा, सम्पादकः-विद्यावाचस्पति पं.श्री रामचन्द्रमिश्र, डॉ.शशिनाथ झा, प्रकाशकः-कामेश्वरसिंहदरभंगासंस्कृतविश्वविद्यालयः, पृ.सं.20
50. काव्यप्रकाशः (द्वितीयः उल्लासः)
51. तत्रैव ,,
52. तत्रैव ,,
53. तत्रैव ,, (तृतीयः उल्लासः)
54. तत्रैव ,,
55. अभिधावृत्तमातृका, पृ.सं.27

दाम्पत्यजीवने विंशतिःकूटानां पर्यालोचनम्

डॉ0 शत्रुघ्न त्रिपाठी एवं गणेश त्रिपाठी***

सूर्याद्यष्टादशप्रवर्तकप्रतिपादितस्य कालविधायकस्य ज्योतिषशास्त्रस्य मुख्यप्रयोजनं तु प्राणीनां त्रिविधकर्मणामिहजन्मनि तेषां शुभाशुभफलपथपदर्शकत्वमेव वर्तते।तत्रापि विशेषेण सिद्धान्तसंहितास्कन्धरूपेषु संहितास्कन्धात् प्राणीनां भूचरद्विपदचतुष्पदादि देहधारीणां समष्टिरूपेण ग्रहनक्षत्रराशिजन्यफलानामादेशः क्रियते।संहितास्कन्धस्य लोकेषु प्रचलितविभागोऽस्ति मुहूर्त्तखण्डः। मुहूर्त्तशास्त्रमधिकृत्य विविधकर्मणां जातकर्मादिसंस्काराणां संसिद्धिसूचकस्य कालस्य मुहूर्त्तस्य सूर्यचन्द्रादिग्रहबलस्य चावश्यकता भवति।तत्र षोडशसंस्कारेषु विवाहसंस्कारार्थं मुहूर्त्तशास्त्रस्य विविधपक्षानां सुतरां प्रयोगः प्रभवति।यदा ब्रह्मचारी गुरुकुले समावर्तनसंस्कारात् संस्कृतो भूत्वा स्वगुरोराज्ञया सनातनधर्मं वोढुं गार्हस्थाश्रमे प्रविशति तदा सुलक्षणां सुगुणोपेतां कुलधर्मानुगामिनीं च कन्यामन्वेषयति।तत्र कस्याश्चिदपि कन्यायाः बाह्यस्वरूपं दृष्ट्वा केवलं बाह्यव्यवहारस्यैव गुणदोषस्य ज्ञानं भवति किन्तु आन्तरिकगुणदोषस्य ज्ञानं कथमपि नैव परिलक्ष्यति। तदान्तरिकं ज्ञानं केवलं ज्योतिषशास्त्रानुरोधेन ग्रहाणां नक्षत्राणां स्वजन्यप्रभावेन संभवति तथा च बाह्यस्वरूपस्यापि ज्ञानं सहजतया भवति। ज्योतिषशास्त्रानुरोधेन विवाहसम्पादनात् पूर्वं भावी दम्पत्योः जन्मकालिनस्थग्रहनक्षत्रराशिलग्नानां च परिशीलनं सूक्ष्मदृष्ट्या क्रियते येन संभाव्ये जीवने तत्सम्बन्धी बाधा न स्यात्।स्त्रीपुरुषाणां सर्वेषां स्वभावगुणद्रव्यजातिचरित्रवर्णादीनामाधारास्तु ज्योतिषोक्तग्रहनक्षत्रराशय एव भवन्ति।एतदर्थं विवाहकरणात् पूर्वं स्त्रीपुरुषयोः जन्मस्थग्रहाणां स्थितिगतिकारकादीनां च स्वीकृत्य उभयोः ग्रहनक्षत्रभावराशयोश्च मेलापकविचारः मैत्रीविचारः, प्रीतिविचार, आनुकूल्यविचारश्च क्रियते।यदि वरवध्वोः परस्परं मनसां कर्मणां चरित्राणां वाचां गुणानां व्यवहाराणां च साम्यं न स्यात् तदा सम्पूर्णं वैवाहिकजीवनं कष्टतरमुद्वेगकरं दुःखकरं च प्रतिसरति।अतः विवाहे दम्पत्योः परस्परमानुकूल्यं पूर्वमेव विचारणीयं भवति येन संभाव्यजीवनं सुखकरं संवहति।एतच्च सर्वं विवाहग्रभूतं चरित्रगुणव्यवहारमेलापकादिकं ज्योतिषोक्तग्रहनक्षत्राधीनमिति।यथोक्तं -

दम्पत्योरन्तरां मैत्रीं विवाहो न शुभावहः।
सत्यां मैत्र्यां शुभस्तेन ब्रुवे मैत्रीमनेकधाम्॥

तत्र ज्योतिषशास्त्रे वरवध्वोः परस्परं ग्रहाणामानुकूल्यं बहुविधं भवति।प्रश्नमार्गे 23 आनुकूल्यानां, पूर्वकालामृते 20 वर्गाणां, वशिष्ठसंहितायां 20 कूटानां, गर्गाचार्येण 18 कूटानां, नारदेन 12 कूटानां, ज्योतिर्विदाभरणे 10 कूटानां, अन्यत्सर्वग्रन्थेषु प्राधान्येन 8 कूटानां च प्रयोगः दृष्टिपथे समायाति। सर्वत्र विवाहमेलापके वर्णवश्यादीनामष्टकूटानामेव प्रयोगः प्रचुरमात्रायामवलोक्यते।अत्र प्रस्तुते निबन्धे विवाहमेलापकार्थं विविधमुहूर्त्तग्रन्थोक्तरीत्या विंशतिः कूटानामेवोल्लेखः प्रयोगश्च क्रियते। तत्तद्ग्रन्थेषु विवाहमेलापकार्थं कूटशब्दस्य प्रयोगं न कृत्वा आनुकूल्य-वर्ग-मैत्री-संयोग-इत्यादि पदानां प्रयोगः प्रायः समवलोक्यते। एभिः विविधकूटैः विवाहे मेलापकसमये न काचित् संख्या निर्धार्यते।यथा अष्टकूटेषु गणनासु परिणामे षोडशादि अधम-मध्यम-उत्तमादि संख्यावाप्यते तथा अत्र विंशतिकूटे न हि प्राप्यते। एतानि कूटानि केवलं विवाहे आनुकूल्यसम्बन्धिनी एव भवन्ति। एतेषां अधिकादधिकतरानुकुलं मेलापकं दाम्पत्यजीवने सुखकारकं भवति। यतः सर्वेषां कूटानामालुकूल्यातीव दुष्तरं कठिनतरं च भवति। किन्तु विवाहसमये तेषां निदर्शनेन विवाहे प्रीतिः भवति। तद्यथा विंशतिः कूटानां नामानि -

नाडी-राशि-तदीश-योनि-वनितादीर्घा गणश्चापि षट्
वर्गा मुख्यतरा विवाहसमये शेषास्तु मध्यास्ततः।
माहेन्द्रो गणिताय वश्य दिवसा वर्णोडु विद्धाण्डजाः
रज्जु-र्योगिनि लिङ्ग-भूत शशियुक् गोत्राह्वा विंशति॥

चक्रे विंशतिकूटानां नामानि स्पष्टानि सन्ति। एतेषां प्रत्येकं कूटानां क्रमशः लघुविवेचनं विविधगन्थानुरोधेनात्र क्रियते।

1.नाडी	2.राशिः	3.राशीशः	4.योनिः	5.स्त्रीदीर्घः
6.गणः	7.माहेन्द्रम्	8.गणितः	9.आयः	10.वश्यम्
11.दिवसः	12.वर्णः	13.उडुविद्धः	14.अण्डजः	15.रज्जुः
16.योगिनिः	17 लिङ्गम्	18.भूतः	19.शशियोगः	20.गोत्रः

1. नाडी -

''नाडीकटं तु संग्रह्यं कूटानां तु शिरोमणिरिति'' ब्रह्मवचनात् सर्वकूटेषु नाडीकूटं सर्वतोभावेन प्राधान्यमिति निश्चितम्।एतद्विषये सामान्यज्योतिषग्रन्थेषु बाहुल्येन सम्पूर्णचर्चा कृता विद्यते।तत्सर्वं तस्मादवधेयमिति।तत्र नाडीकूटं त्रिविधं भवति।प्रथमं तावत् त्रिनाडी, द्वितीयं तु चतुर्नाडी, तृतीयं तु पंचनाडी।चतुर्नाडी केवलं अहल्यादेशे प्रयोक्तव्या।पंचनाडी तु पांचालदेशे प्रयोक्तव्या तथा त्रिनाडी सर्वदेशेषु प्रयोक्तव्येति शास्त्रवचनम्।तथा च ययोः स्त्रीपुरुषयोः जन्मनक्षत्रं त्रिचरणसमोपेतं कृत्तिकादिप्रभृतं भवति तत्कृते चतुर्नाडी प्रयोक्तव्या।ययोः जन्मनक्षत्रं द्विचरणसमोपेतं मृगशिरादिप्रभृतं भवति ताभ्यां पंचनाडी प्रयोक्तव्या तथा च ययोः जन्मनक्षत्रं चतुर्चरणोपेतं अश्विनीप्रभृतं भवति तत्कृते त्रिनाडी प्रयोक्तव्येति शास्त्रनिदर्शनम्। यदि वरवध्वोः जन्मनक्षत्रं आद्यैकनाडीषु मध्यैकनाडीषु अन्त्यैकनाडीषु च स्यात् तदा विवाहः कष्टकरः भवति।यदि द्वयोः आद्यैकनाडी स्यात् तदा वरवध्वोः कस्यचित् वियोगः भवति।यदि मध्यैकनाडी स्यात् तदा स्त्रीपुरुषयोः मृत्युतुल्यकष्टं समुद्यपद्यते। यदि अन्त्यैकनाडी स्यात् तदा वैधव्यमुत वा दुःखं भवति। तद्यथा-

आद्यैकनाडी कुरूते वियोगं मध्याख्यनाड्यामुभयोर्विनाशः।

---

* सहायकाचार्य, ज्योतिषविभागः, काशीहिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी।

** शोधच्छात्रः, ज्योतिषविभागः, काशीहिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी।

अन्त्या च वैधव्यमतीव दुःखं तस्माच्च तिस्रः परिवर्जनीयाः।।

2. राशिः -(भकूटम्)

भकूटमपि राशिनाम्ना प्रसिद्धम्।वरवध्वोः परस्परं राश्योः मेलनं परमावश्यकं भवति।यतः राशित एवं द्वयोः गुणचरित्रधर्मस्य च परिज्ञानं भवति।भकूटं षड्विधं समसप्तकं,द्विर्द्वादशं,तृतीयैकादशं,चतुर्थदशमं,नवपंचम,षडाष्टकं चेति।एतेष्वपि त्रीणि शुभजन्यानि त्रीणि चाशुभानि भवन्ति।एतेषु षड्विधभकूटेषु त्रीणि सममित्रशत्रुभकूटाख्यानि भवन्ति।यथा समषडाष्टकं,मित्रषडाष्टकं,शत्रुषडाष्टकं चेति सर्वत्रैवमेव विज्ञेयम्।एकस्मादपरराशिं यावत् यदि स्त्रीपुरूषयोः राश्योः परस्परं नवपंचमं, षडाष्टकं, द्विर्द्वादशं च संख्या स्यात् तदा राश्योः मेलकं प्रतिकूलं भवति अन्यच्च समसप्तकादीनि सर्वाण्यनुकूलान्येव भवन्ति।प्रतिकूले भकूटे परिहारो ग्रन्थान्तरादवधेयः।

मृत्युः षडष्टके ज्ञेयोऽपत्यहानिर्नवात्मजे।
द्विर्द्वादशे निर्धनत्वे द्वयोरन्यत्र सौख्यकृत्।।

3. राशीशः- (ठाहः)

ग्रहाणां प्रतिक्षणं प्रभावो नृणामुपरि पतत्येव।राशे ईशः राशीश अर्थात् ग्रहः।जन्मनि यत्र चन्द्रः सः राशिः तथा तस्य राशे अधिपतिग्रहः राशीशो भवति।यथा मेषराशेः भौमाधिपति इति।अतः मेलापके द्वयोः ग्रहयोः मैत्री परमा भवितव्या। ग्रहमैत्र्याभावे मनसोः देहयोः कर्मणोश्च वैपरित्यमायाति।यदि राशीशानां मैत्री अनुकूला स्यात् तदा दाम्पत्यजीवनं श्रेयस्करं भवति।ज्योतिषे सत्याचार्योक्तैव ग्रहमैत्री प्रचलितास्ति न तु यवनादिनामाचार्याणाम्।विवाहे यदि केवलं ग्रहमैत्री एवं मिलिता स्यात् तदा सामान्यतया विवाहः श्रेष्ठः भवति।

चन्द्रेज्यक्षितिजारवीन्दुतयो गुर्विन्दुसूर्या क्रमात्
शुक्रार्कौ रविचन्द्रभूमितनया ज्ञार्की सितज्ञौ मताः।
अर्कादेः सुहृदः समा अथ बुधः सर्वे हि शुक्रार्कजौ
भौमाचार्ययमायमः कुजगुरु पूज्यः परे वैरिणः।।

4. योनिः -

यथाह्यष्टकूटे अश्विन्यादिक्रमेण अश्व-गज-सर्प-मेषादयः योनयः भवन्ति तथैवात्रापि ग्रन्थकर्त्रा नक्षत्राणां पुरुषस्त्रीविभागेन योनिः कल्पितः। अत्र तु अष्टकूटके प्रयोगात्मको योनिस्तु मृग इति नाम्नाभिधीयते।अत्र चतुर्दश नक्षत्राणि पुरुषसंज्ञकानि चतुर्दश नक्षत्राणि स्त्रीसंज्ञकानि भवन्ति।यदि वरवध्वो जन्मनक्षत्रयोनिः स्वलिङ्गेषु स्यादर्थात् पुरुषस्य योनिः पुरुषनक्षत्रे स्त्रियाः योनिः स्त्रीनक्षत्रे भवेद् तदा श्रेष्ठा प्रीतिर्भवति। विपरीते चेत् द्वयोः वरवध्वोः हानिर्भवति अर्थाद् पुरुषस्य स्त्रीनक्षत्रेषु स्त्रियाश्च पुरुषनक्षत्रेषु अथवा द्वयोः पुरुषनक्षत्रे स्त्रीनक्षत्रे वा भवेद्। अत्र पुरुषसंज्ञकनक्षत्राणि स्त्रीसंज्ञकनक्षत्राणि प्रमाणपुरस्सरं प्रदर्शितानि वर्तन्ते। यथा हि -

पुंस्तारे पुरुषस्य जन्म वनितातारे वधूजन्मभं चेत्सम्पत्तिरथ क्षतिर्द्वयोर्युवतिभोद्यन्नृक्षे दोषदम्।

कष्टा योनिविरुद्धतान्यथ पुरुषाः पुष्यत्रयान्तकको ज्येष्ठापञ्चमरुद्विभाद्रपदास्तारः परा योषितः।।

5. स्त्रीदीर्घः-

यदि स्त्रीजन्मनक्षत्रतः वरस्य जन्मनक्षत्रमतिदूरं स्यादर्थात् पंचदशनक्षत्रादनन्तरं भवेत् तदा शुभं भवति किन्तु यदि स्त्रीजन्मनक्षत्रतः वरस्य नक्षत्रं पंचदशनक्षत्राभ्यन्तरे स्यात् तदाशुभं भवति।अस्य स्त्रीदीर्घयोगस्य बाधको योगः माहेन्द्रः वर्तते। दक्षिणे देशे प्राय इदं विचार्यते। यथा हि -

गणयेत् स्त्रीजन्मर्क्षात् जन्मर्क्षान्तं वरस्य च।
संख्याऽत्र पंचदशधिका चेत्स्त्रीदीर्घाख्यम्भवेच्छुभम्।।

6. गणः-

वारूणमण्डले स्थितानां नक्षत्राणामुपरि सूर्यादीनां ठाहाणां रश्मयः प्रसरन्ति। तेन कारणेन नक्षत्रेषु शुभाशुभगुणधर्माः देवराक्षसमानवसंज्ञया तन्वन्ति।ये देवसंज्ञकानि नक्षत्राणि भवन्ति तेषु देवोचितप्रेमसौहार्दकरूणादयाक्षमादीनां गुणानामन्तर्भावो भवति तथा च भावुकता-उदारता-धैर्य-उदात्तभावोपकारादीनां गुणानाञ्च विकासः सहजतया भवति।ये राक्षससंज्ञायाः नक्षत्राणि भवन्ति तेषु क्रूरता-ईर्ष्या-द्वेष-छल-कपट-अमर्ष-स्वार्थी-कटुभाषी-आत्मश्लाघी-परनिन्दक-असन्तुष्ट-कलहप्रियादयः गुणाः स्वभाविकरूपेण भवन्ति।अन्यच्चावशिष्टामानवनक्षत्रगणेषु उत्पन्ननृनार्यः मानवोचितगुणैः व्यवहारकुशल-अध्ययनाध्यापन-शासन-पञ्चकर्मदिसंस्कारैः संयुक्ताः भवन्ति।अनया गणमैत्र्या पुरूषस्त्रिषु अन्तःकरणेषु निगुढगुणदुर्गुणानां भावाभावानाञ्च ज्ञानं सरलतया क्रियते अपि चैते गुणाः सत्वरजतमगुणैः प्रतीकात्मकरूपाः विराजन्ते।तथा हि सत्वगुणोपेताः देवाः, रजगुणोपेताः मानवाः,तमगुणोपेताश्च राक्षससंज्ञकाः नक्षत्राणि भवन्ति।यथा वेदपुराणस्मृतिब्राह्मणादिठान्थेषु कथोपाख्यानाख्यायिकादिरूपेषु भुर्भूवःस्वर्लोकस्थितानां देवराक्षसमानवानाअन्तःकरणेषु विराजमानैः गुणदुर्गुणैः सर्वदैव परस्परं कलहप्रोमदासत्वादिभावेन लोकव्यवहारं संगच्छते।तथैव जन्मनक्षत्रोद्भवदेवराक्षसमानवानां गुणधर्मानुसारेण स्त्रिपुरूषौ लौकिकजीवने गार्हस्थाश्रमे आचरतः।यदि नृनार्योः मिथः जन्मनक्षत्रस्थगुणेषु विसंवादः भवेत् तदात्यन्तकलहकरो भवति यथा देवराक्षसयोः नरराक्षयोर्मध्ये च।यदि च वरवध्वोः परस्परं गुणेषु संवादः भजते तदा प्रीतिकरदासत्वादीभावोत्पत्तिः।पुनश्च यदि उभौ गणौ समानौ स्यातां तदा तु अत्यन्तप्रीतिः भवति। यथोच्यते -

स्वगणे परमा प्रीतिः मध्यमा देवमर्त्ययोः।
मर्त्यराक्षसयोर्मृत्युः कलहो देवराक्षसयोः।।

7. माहेन्द्रम् -

माहेन्द्रयोगस्य प्रयोगस्तु प्रायः दाक्षिणात्यदेशे दैवज्ञैः क्रियते। यदि कन्याजन्मनक्षत्रात् वरस्य नक्षत्रं 4,7,10 परिमितं स्यात् तदा माहेन्द्रयोगः जायते। चतुर्थः माहेन्द्रकारकः,सप्तमः उपेन्द्रकारकः,दशमश्चाप्युपेन्द्रकारकः भवति। असौ योगः सन्ततिकारकः भवति। यतः प्रोक्तम् -

जन्मर्क्ष पुरूषस्याथ स्त्रीजन्मर्क्षाच्चतुर्थकम्। माहेन्द्रं च ततस्तावदुपेन्द्रं च विदुर्बुधाः।।

माहेन्द्रं च ततस्तावदुपेन्द्रं च विदुर्बुधाः। माहेन्द्रे धनधान्याप्तिरूपेन्द्रे च प्रजान्विता।।

8. गणितः-

गणितो नाम गणितागतायुष्यज्ञानम्।स्त्रीपुरुषयोः कस्य मृत्युः पूर्वं भविष्यतीति ज्ञानमत्र क्रियते।विधिरयमस्ति यत् कन्याजन्मनक्षत्रतः पुरूषजन्मनक्षत्रं यावत् गणयेत् तेनैव विधिना पुरूषजन्मनक्षत्रात् स्त्रीजन्मनक्षत्रं यावत् गणयेत्।समागतनक्षत्रसंख्यायां सप्तभिः गुणयेत् तथा च अष्टाविंशतिभिः विभजेत्। यच्छेषं भवति तदेव गृह्णीयात् न तु लब्धिम्। स्त्रीपुरूषयोः गणितयोः यस्य यस्याः वेति शेषं न्यूनं भवति तस्यैव

तस्याः वा मृत्युः पूर्वं भवति। यदि कन्याः शेषफलं पुरुषात् न्यूनं तदा पुरूषमरणातन्तरं प्रागेव तस्याः मरणं सम्भवति तथैव पुरूषविषयेऽपि बोध्यम्।यदि द्वयोः गणितागतशेषफलं समानं भवति तदा उभयोः मृत्युः सहैव भवति।यथोक्तम् -

स्त्री भादेर्वरधिष्ण्ययुक्तगणनां संगुण्य तां सप्तभिर्ह्यष्टाविंशतिसंख्यया परिणये भक्त्वैव पुभाद्यदि।

तद्वत्तां गणनां च भागकरणं चायुष्यवर्गस्त्वयं यच्छेषेऽनधिके पुरैव मरणं तस्यैव मध्ये तयोः।।

9. आयः-

यथा हि गृहारम्भे आयव्ययोर्विचारः काकिण्यां क्रियते तथैव दम्पत्योः परस्परमायव्ययोर्विचारोऽपि क्रियते येन वरवध्वोः कस्यचिदायः कस्यचिच्च व्ययो भविष्यति तद् ज्ञानं भवति।गृहस्थाश्रमस्तु धनेनैव संचाल्यते यदि धनार्जनमल्पं धनव्ययश्चाधिकस्तदा मनस्तापो दम्पत्योः भवति किन्तु यदि धनार्जनमधिकं धनव्ययस्त्वल्पस्तदा दम्पत्योः प्रीतिर्भवति।यतः सर्वं साधनं तु धनेनैव साध्यते।यथा हि ताराकूटके वरनक्षत्रात् स्त्रीनक्षत्रं यावत् तथा च स्त्रीनक्षत्रात् वरनक्षत्रं यावत् गण्यते तथैवात्रापि गण्यते।वरस्य जन्मनक्षत्रात् वधोर्जन्मनक्षत्रं यावत् गणयेत्।प्राप्तसंख्यायां पंचभिः गुणयेत्।गुणनफले सप्तभिः भागमावहेत् यत् फलं भवति सः व्ययः भवति।पुनः वधोर्जन्मनक्षत्रात् पुरुषजन्मनक्षत्रं यावत् गणयेत्।प्राप्तसंख्यायां पंचभिः गुणयेत्। गुणनफले सप्तभिः भागमावहेत् यत् फलं भवति स आयो भवति।आयो हि अधिकः भवितव्यः व्ययस्तु सर्वदा न्यून एवं भवितव्यः।यथा हि -

आपुंजन्मभमङ्गनाजननभात् सङ्गुण्य संख्यात्रयं हत्वा तां विशिखैर्हरेद् क्षितिधरस्तत्र व्ययं शिष्यते।

एवं पुरूषतारकादिवनितातारान्तसंख्याभिरित्यायस्सिद्ध्यति पूर्णता तदुभयोः शिष्टेषु सप्तघ्विह।।

10. वश्यम् -

वश्यत्वं नाम नियन्त्रणं, शाशनाधीनं, आश्रितश्चेति। कूटेनानेन वरवध्वोर्मध्ये कः का च कयोः मनोगुणानुसारं अनुप्रचलिष्यतीत्यस्य ज्ञानं वश्यकूटेन सहजेन क्रियते। तत्र राशीनां नरचतुष्पदकीटजलचरभेदाः ज्योतिषे प्रकीर्तिताः। लोके प्रचलितव्यवहारानुगुणं राशीनां वश्यत्वं अभिलक्ष्य वरवध्वोः राशिमभिज्ञाय तयोः मध्ये तथैवादेशः क्रियते। राशिवश्यस्त्रिविधः - 1.सख्यम् 2.वैरम् 3.भक्ष्यञ्च जायते। अथोच्यते -

सख्यं वैरं च भक्ष्यञ्च वश्यमाहुस्त्रिविधा बुधः।

वैरे भक्ष्यगुणाभावो द्वयोः सख्ये गुणद्वयम्।।

अत्रेदमवश्मवधेयं यत् धनुराशेः पूर्वार्धः द्विपदः, उत्तरार्धश्च चतुष्पदः अन्यच्च मकरराशेः पूर्वार्धः चतुष्पदः, उत्तरार्धश्च जलचरोऽस्ति। अतः वश्यत्वविचारप्रसङ्गे इदमवश्यमेव विचारणीयम्। पुनश्च कन्या राशिः द्विपदः तुलाऽपि द्विपदः अतः सख्यभावोत्पद्यते किन्तु व्यावहारिकपक्षं यद्यनुसरामस्तदा कन्या राशेः तुला वश्यत्वमायाति। अतः पञ्चाङ्गस्थनिर्धारितगुणकोष्ठचक्रमनेन संभवतः निवार्यते इति।

11. दिवसः-

ताराकूटस्य पर्यायरूपोऽयं दिवसवर्गः।स्त्रीजन्मधिष्ण्यात् वरजन्मधिष्ण्यपर्यन्तं गणयेत्।यत् समागतफलं भवति तदनुसारेणैव तस्याः फलं भवति।यथा एकाधिके शेषे क्रमेण फलं वर्तते।मृत्युः, प्रीतिः, विपत्तिः, सुखम्, कष्टम्, पशुकृत्,रोगकृत्,सन्ततिकृत्,शत्रुजन्यकष्टं च भवति।नक्षत्राणां त्रिसृसु आवृत्तिसु इदमेव फलं भवति। ध्यातव्यमिदं यदीयं गणना स्त्रीजन्मनक्षत्रादेव भवति न तु पुरूषजन्मनक्षत्रात्।यथा हि प्रोक्तम् -

पर्यायत्रितये नवोडुषु वधूधिष्ण्यादितस्तत्फलं
मृत्युप्रीतिविपत्सुखार्तिपशुकृद्रोगप्रजामित्रकृत्।
पुंभान्ते गणयेत्तयोः परिणये वर्गो दिनाख्यस्त्वयं
पुम्भादिति जगुः परेत्वथ फलं पूर्वोक्तमत्रापि च।।

12. वर्णः-

गुणकर्मविभागेन सामाजिकं कार्यं सम्पादयितुं चत्वारो विप्रक्षत्रियवैश्यशूद्राः वर्णाः विभाजितास्सन्ति। धर्मकार्यकरणार्थं विप्रः, राजव्यवस्थां सञ्चालयितुं, क्षत्रियः व्यापारार्थं, वैश्यश्च शेषकार्यं करणार्थं शूद्रः निर्धारितः।एतेषामेव गुणारोपानुसारं राशीनां वर्णादिविभागः प्रसरितः।ये विप्रवर्णस्य जातकाः भवन्ति तेषु ब्राह्मणानां गुणानामन्तर्भावो भवति।ते द्विजदेवधर्मादिनां स्मृतिवचनानां च अनुपाल्यन्ते। अध्ययनाध्यापनस्य स्वाभाविकी रूचिः जिज्ञासा च भवति।सौम्यस्वभावेन मृदूवचनेन स्वार्जितज्ञानेन धर्मकार्यसम्पादनेन चैते समाजे प्रतिष्ठां लभन्ते।ये च क्षत्रियराशेः नराः भवन्ति तेषु क्षात्रगुणानामाधिक्यं भवति। शौर्यं, युद्धचातुर्यं, कार्येषु दक्षता, दानप्रतिग्रहादयः नैके गुणाः भवन्ति।वैश्यराश्याभिधाख्या नरः वणिक्क्रियायां निपुणाः, द्रव्याणामादानप्रदाने तत्पराः, उत्तमर्णाधमर्णागुणोपेताः, धनिकाश्च भवन्ति।तथा च ये शूद्रवर्णीयाः जातकाः भवन्ति तेषु दुर्गुणानामाधिक्यं भवति आलस्यनिद्रातन्द्राद्वेषछलकपटादयः गुणाः भवन्ति।

राशयः	मेष, सिंह, धनु	वृष, कन्या, मकर	मिथुन, तुला, कुम्भ	कर्क, वृश्चिक, मीन
वर्णाः	ब्राह्मणः	क्षत्रियः	वैश्यः	शूद्रः

प्रोक्तगुणानामाधारीकृत्यैव वरवध्वोः मानसिकभावनां परस्परं सम्मेल्यते। यद्युभयोः नृनार्योः वर्णौ समानौ तदा सामञ्जस्य मेलनं सुन्दरं भवति। यदि वर्णौ भिन्नौ तदा उभयोर्मध्ये ईषदेवान्तरं समायाति। एवं तथाभूते राश्यानुरूपगुणे सत्यपि यदि पुरूषस्य कन्यायाः वा राशेः स्वामी उत्तमवर्णीयः भवति तदा राश्यानुरूपवर्णान् परिहृत्य स्वकीयं वर्णमादधाति। यथा वृषराशेः वर्णः वैश्यो भवति तथा च तस्येशः शुक्रः विप्रवर्णयुक्तः अतः विप्रस्यैव गुणानुरूपं जातकं भवति। किन्तु यदि राशिवर्णः श्रेष्ठः राशीशवर्णः हीनः तदापि राशिवर्णस्यैव वर्णः गृह्यते। यतः -

हीनवर्णो यदा राशी राशीशो वर्ण उत्तमः।
तदा राशीश्वरो ग्राह्यस्तद्राशिं नैव चिन्तयेत्।।

13. उडुविद्धः-

षडाष्टकस्य भकूटस्य सूक्ष्मरूपोऽयं नक्षत्रवेधः।यथा हि विवाहमुहूर्त्तनिर्धारणे दशदोषेषु पञ्चशलाकावेधस्य प्रयोगो भवति तथा ह्यत्राप्यानुकूल्ये वेधस्य प्रयोगो भवति। पञ्चशलाकावेधे एकस्माद् नक्षत्रादपरनक्षत्रस्य पापग्रहवेधो भवति तदप्यत्रापि पञ्चशलाकापरिगणितवेधनक्षत्रेषु वरवध्वोः जन्मनक्षत्रं स्यात् तदा तु महत्कष्टकरं

भवति किन्तु पञ्चशलाकायां यानि नक्षत्राणि वेधविद्धानि भवन्ति तानि सर्वाणि अत्र आनुकूल्ये विवर्जितानि वर्तन्ते। पंचशलाकायाःसूक्ष्माध्ययनेनेदं ज्ञायते यत् नक्षत्रयोः परस्परं वेधस्तु नवपंचमः, द्विर्द्वादशः, षडाष्टकश्चेति रूपेण प्रतीयते यथा भकूटे राश्योः मिथः गण्यते।दिङ्मात्रं यथा पंचशलाकायां अश्विनीनक्षत्रस्य वेधः पूर्वाफाल्गुनीनक्षत्रेण भवति अश्विनी नक्षत्राधीशः मेषः तथा पूर्वाफाल्गुनीनक्षत्राधीशः सिंह इति तयोः नवपञ्चमसम्बन्धः प्रतीयते।तथैव भरणीनक्षत्रस्य अनुराधानक्षत्रेण वेधः, तयोरधीशौ मेषवृश्चिकौ, तयोः षडाष्टको सम्बन्धः। एवमेव सर्वत्र विजानीयात्।एतदर्थमेव विवाहे पञ्चशलाकावेधः निषिद्ध इति वर्तते किन्तु प्रश्नमार्गीये नक्षत्रवेधे तु सूक्ष्मरूपेण भकूटस्य षडाष्टकसम्बन्धस्यैव मूलमनुरुध्य नक्षत्रानुरोधेन षडाष्टकसम्बन्धः स्वीकृतो विद्यते।यथा हि चक्रे स्पष्टरूपेण-

अश्वीन्द्रौ यममित्रभे हरिहरौ शूर्पालिने वाय्वजौ
मूलाही पितृपूषणौ गुरुजले देवप्रसू विश्वभे।
बुध्न्यर्क्षार्यमणौ दिनेशवरुणौ भाद्रर्क्षभाग्ये मिथः
वेधान्नार्हति योगमृक्षयुगलं वस्विन्दुचित्रात्रयम्॥

सामान्यमेतत् फलम् -

जन्मवेधे कथितेऽत्र जाते युक्तोऽपि वश्यादि गुणैबलिष्ठः।
पतिञ्च कन्यां च समूलघातं निहन्ति षष्ठाष्टमराशियोगः॥

14. अण्डजः (पक्षी) -

वराहरचितविविधग्रन्थेषु पंचपक्षी नामको ग्रन्थः कर्णपरम्परायामायाति।तत्र मूलरूपेण पंचपक्षीणामनुसारेण विविधरूपात्मकः फलादेशो भवतीति जनश्रुतिः।अतः सम्भवतः तदनुसृत्यैवानुकूल्ये मेलापके वा पंचपक्षिणः प्रयोगः कालानुरोधेनागतोऽस्ति। वर्तमानसमयेऽपि दाक्षिणात्यदेशेषु तासामेव पंचपक्षीणामनुसारेण फलादेशव्यवस्था क्वचिद् दृश्यते। अतः दक्षिणपरम्परायां प्रचलितेषु प्रयोगेषु तद्ग्रन्थेषु माधवीय-उत्तरकालामृत-फलदीपिका-ज्योतिर्विदाभरण-प्रभृतेषु अस्यैवोपयोगोऽवलोक्यते। दक्षिणदेशे विरचितप्रश्नमार्गे ग्रन्थे पंचपक्षी प्रयोगः मेलापके प्रयुज्यते। ताश्च पंचपक्षिणः सन्ति भारण्डकः, पिङ्गलः, काकः, ताम्रचूडः, शिखण्डी इति।ययोः दत्पत्योः पक्षिणौ समाने भवतस्तदा श्रेष्ठः भिन्ने चेत् सामान्य इति। तद्यथा हि चक्रे स्पष्टरूपेण प्रमाणपुरस्सरं सफलं समवलोक्यते।तद्यथा -

भारण्डकः पिङ्गलकाकताम्रचूडाश्शिखण्डीति खगाः क्रमेण।
बाणाङ्गतर्केष्विषुसंख्यभानां श्रेष्ठं तयोरेकविहङ्गमत्वम्॥

गरूणः	पिङ्गलः	काकः	कुक्कुटः	मयूरः
अश्विनी	आर्द्रा	उ.फा.	ज्येष्ठा	धनिष्ठा
भरणी	पुनर्वसु	हस्त	मूल	शतभिषा
कृत्तिका	पुष्य	चित्रा	पू.षा.	पू.भा.
रोहिणी	श्लेषा	स्वाती	उ.षा.	उ.भा.
मृगशिरा	मघा	विशाखा	श्रवण	रेवती
	पू.फा.	अनुराधा		

15. रज्जुः-

नाडीकूटस्य पर्यायरूपोऽयं रज्जुवर्गः। सप्तविंशतिनक्षत्राणां त्रिवर्गात्मकानां आदिमध्यान्तानां स्थापनेन रज्जुवर्गः भवति। अश्विन्यादि त्रिकगणनया आदि - मध्य - अन्त्य नाड्यः प्रचलिताः सन्ति।यदि वरवध्वोः जन्मनक्षत्रयोः परस्परं आद्यैकनाडी -मध्यैकनाडी - अन्त्यैकनाडी वा भवेत् तदाशुभप्रदा भवति।अत्र कारणमिदं भवितुं शक्यते यत् यदि इडा-पिङ्गला-सुषुम्नानाडीषु उत आदि-मध्य-अन्त्यनाडीषु परस्परं साम्यता भजेत् तदा श्वासप्रश्वासोच्छ्वासादिनां या दैनन्दिनी प्रक्रिया भवति सा सत्वरजतमसां गुणानां बाधको भूत्वा अन्योन्यं कष्टप्रदातृत्वेन विराजते।फलं प्रोक्तम् -

आद्यैकनाडी कुरूते वियोगं मध्याख्यनाड्यामुभयोर्विनाशः।
अन्त्या च वैधव्यमतीव दुःखं तस्माच्च तिस्त्र परिवर्जनीयाः॥
सा मध्यनाडी पुरूषं निहन्ति तत्पार्श्वनाडी खलु कन्यकां तु।
आसन्नपर्याय समागता चेद्वर्षेण साप्यन्तरिता त्रिवर्षैः॥

16. योगिनिः-

पूर्वादि दिशानुरोधेन सर्वासु दिक्षु अष्टयोगिनीनां सत्तां दिक्स्वामित्वेन स्वीकृत्य तदनुसारेण विवाहमेलापकः निर्धारितो विद्यते।वस्तुतस्तु ग्रन्थसमालोचनेनेदं प्रतीयते यत् प्रायोगिकरूपेणापि अस्य वर्गस्य प्राधान्यं नास्तीति।तथापि ठान्थेषु अस्य वर्णनं प्राप्यते। पूर्वादि क्रमेण ईशानपर्यन्तं सर्वदिक्षु ब्रह्माणी, कुमारशक्तिः,वाराहशक्तिः,सिद्धा,वैष्णवी,माहेन्द्री,चामुण्डा,श्रीरूपा चेति देव्यः भवन्ति।पूर्वादि दिक्षु अश्विन्यादिक्रमेण साभिजित् नक्षत्राणां स्थापनेन योगिनिवर्गोऽयं निष्पद्यते।यथा हि पूर्वे अश्विनी,अग्निकोणे भरणी,दक्षिणे कृत्तिका,नैऋत्ये रोहिणी इत्यादीनि नक्षत्राणि भवन्ति।यदि वरवध्वोः जन्मनक्षत्रयोः योगिनी एकैव समाना भवति तदा प्रीतिः यदि भिन्ना चेत् परस्परं कालुष्यं भवति।यथा हि -

ब्राह्मयाद्यष्टसु योगिनीष्वपि भवेदेकैकभं दस्रतः
शिष्टं भत्रितयं सजातिरिव तत्प्रागादि संस्थास्वपि।
दम्पत्योरपि जन्मभे परिणये यद्येकवर्गं गते
प्रीतिः स्यात्कलहास्पदं तदुभयोस्स्याच्छक्तिवर्गं गते॥

17. लिङ्गम् -

यथाह्यष्टकूटे अश्विन्यादिक्रमेण अश्व-गज-सर्प-मेषादयः योनयः भवन्ति तथैवात्रापि ग्रन्थकर्त्रा नक्षत्राणां पुरुषस्त्रीविभागेन योनिः कल्पितः। अत्र तु अष्टकूटके प्रयोगात्मको योनिस्तु मृग इति नाम्नाभिधीयते।अत्र चतुर्दश नक्षत्राणि पुरुषसंज्ञकानि चतुर्दश नक्षत्राणि स्त्रीसंज्ञकानि भवन्ति।यदि वरवध्वो जन्मनक्षत्रयोनिः स्वलिठेषु स्यादर्थात् पुरुषस्य योनिः पुरुषनक्षत्रे स्त्रियाः योनिः स्त्रीनक्षत्रे भवेद् तदा श्रेष्ठो प्रीतिर्भवति। विपरीते चेत् द्वयोः वरवध्वोः हानिर्भवति अर्थाद् पुरुषस्य स्त्रीनक्षत्रेषु स्त्रियाश्च पुरुषनक्षत्रेषु अथवा द्वयोः पुरुषनक्षत्रे स्त्रीनक्षत्रे वा भवेद्। अत्र पुरुषसंज्ञकनक्षत्राणि स्त्रीसंज्ञकनक्षत्राणि प्रमाणपुरस्सरं प्रदर्शितानि वर्तन्ते।यथा हि -

पुंस्तारे पुरुषस्य जन्म वनितातारे वधूजन्मभं
चेत्सम्पत्तिरथ क्षतिर्द्वयोर्युवतिभोद्यन्नृक्षे दोषदम्।
कष्टा योनिविरुद्धतान्यथ पुरुषाः पुष्यत्रयान्तको
ज्येष्ठापञ्चमरुद्विभाद्रपदास्ताराः परा योषितः॥

पुरुष	पुष्य	श्लेषा	मघा	अश्विनी	रेवती	ज्येष्ठा
मूल	पूषा	उषा	श्रवण	स्वाति	विशाखा	पूफा
उफा						
स्त्री	भरणी	कृत्तिका	रोहिणी	मृगशिरा	आर्द्रा	पुनर्वसु
हस्त	चित्रा	अनुराधा	अभिजि	धनिष्ठा	शतभिषा	पूभा
उभा						

18. भूतः-

क्षिति-जल-पापक-गगन-समीर-पञ्चभूतात्मकनिर्मितमस्मदीयं पार्थिवं शरीरम्। तथैव ग्रहनक्षत्राणां क्षिति-जल-पावक-गगन-

समीराणामदृश्यरश्मिभिराबद्धमिदं शरीरम्।शरीरे पञ्चभूतात्मकेऽनुकूले सर्वं कुशलं, प्रतिकूले च सर्वमकुशलं भवति। अतः नक्षत्रसापेक्षभूतगणनोचिता।यदि वरवध्वोः नक्षत्रतत्वं समानं तदा प्रीतिर्भवति असमानं चेत् कालुष्यं जायते। अग्निजलतत्वयोः महद्वैरं, अग्निपवनयोर्महत्प्रीतिः,पृथ्वी-आकाशयोः मेलापकं सर्वेभ्यः भवति।नक्षत्राणां तत्वं चक्रे प्रमाणपुरस्सरं सफलं प्रदर्शितं विद्यते।यथा हि प्रोक्तमस्ति -

भूतोयतेजः पवनव्योमानि च यथाक्रमम्।
दस्त्रात्पञ्चाङ्गवाणङ्गशरास्तदनुकूलता।।
भूतैक्यं पवनाग्नित्वं भूश्च सर्वैर्युता शुभम्।
तोयाग्नी निन्दितौ व्योम्नः सर्वे योगोऽत्र मध्यमः।।

पृथ्वी	अश्विनी	भरणी	कृत्तिका
रोहिणी	मृगशिरा		
जलम्	आर्द्रा	पुनर्वसु	पुष्य
श्लेषा	मघा	पू.फा	
अग्निः	उ.फा	हस्त	चित्रा
स्वाति	विशाखा		
वायुः	अनुराधा	ज्येष्ठा	मूल
पू.षा	उ.षा	श्रवण	
आकाशः	धनिष्ठा	शतभिषा	पू.भा
उ.भा	रेवती		

19. शशियोगः-

शशियोगो नाम चन्द्रजन्ययोगः।सर्वं चराचरात्मकं जगत् चन्द्रेणैव प्रभावितं भवति।अतः वरवधूमेलापके चन्द्रयोगस्य विचारः सुतरां दर्शनीयः।तत्र पूर्वादि क्रमेण अश्विन्यादि क्रमेण नक्षत्राणां स्थापनं भवति तथा च तेषां नक्षत्राणां दिशानुरोधेन देवाः स्वामित्वं भजन्ते।यथा पूर्वस्य देवः इन्द्रः,अग्निकोणस्य अग्निः, एवं प्रकारेण। तत्र पूर्वादि दिक्षु स्वामित्वेन ग्रहाणामपि आधिपत्यं भवति।यथा पूर्वस्य स्वामी सूर्यः,अग्निकोणस्य चन्द्रः इत्यादयः।यदि वरवध्वोः जन्मनक्षत्रे समानठाहाधिपत्ये मित्रता भवतस्तदा मिथः मैत्री भवति।यदि उभयोः ग्रहयोः परस्परं शत्रुता भवति तदा वरवध्वोः जीवनं शत्रुमयं भवति।यदि उभयोः ग्रहयोः समानत्वं भवति तदा तयोः समानरूपेण जीवनं प्रचलति।यथा हि -

दम्पत्योरपि जन्मधिष्ण्यवशतो ज्ञात्वा च तां तां दिशं
तत्रस्थोडुपतिग्रहेन्द्रतिथिदिङ् नाथारिसाम्येष्टताम्।
तेषां मैत्रवशाच्च मैत्रमुभयोस्साम्ये समत्वं तथा
शत्रुत्वे यदि शत्रुतैव शशभृद्योगाख्य वर्गस्त्वयम्।।

20. गोत्रः-

यथा हि लोके नृणां विविधगर्ग-गौतम-शान्डिल्यादि गोत्राः भवन्ति मुनिवंशपरम्पराज्ञानार्थम्।तथैवात्रपि अष्टाविंशतिः नक्षत्राणामृषयः भवन्ति गोत्रनिर्धारणार्थमज्ञातजन्मनाम्। अथ च त्रयोविंशतिः कूटेषु गोत्रकूटत्वेन प्रश्नमार्गचार्याः अश्विनीनक्षत्रादारभ्य चतुर्षु चतुर्षु नक्षत्रसमूहेषु साभिजिदष्टाविंशतिः नक्षत्राणां मरीचि-वसिष्ठ-अङ्गिरा-अत्रि-पुलस्त्य-पुलह-क्रतु-प्रभृतिन् सप्तर्षिन् गोत्रान् निर्धारितवन्तः। अत्रापि आनुकूल्ये एकस्मिन् जन्मनक्षत्रजन्यगोत्रे दत्पत्योः विवाहः निषेध इति भिन्ने नक्षत्रे चेत् विवाहः शुभ इति।उच्यते तत्र -

दस्त्रादिकानामृषयो मरीचिः श्रेष्ठो वसिष्ठो मुनिरङ्गिराश्च।
अत्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुश्च क्रमेण भानामभिजिद्युतानाम्।।

सामान्यमेतत्फलम् -

एकर्षिगोत्रोद्भवयोर्विपत्तिं करोति कन्या वरयोर्विवाहः।
विभिन्नगोत्रोद्भवयोः श्रियश्च भजन्मगोत्रैक्यमपोहमध्यम्।।

सारांशः -

एतेषु सर्वषु विंशतिः मेलापकेषु केषांचनैव कूटानां प्राधान्यं सर्वातिश्यं वर्तते।तेष्वपि वरवध्वोः परस्परं चित्तानुकूल्यं स्यात् तदा सर्वं मेलापकं अशुद्धमपि शुद्धं भवति।चित्तानुकूल्यं न तु राशित एव विचार्यते न तु ग्रहेभ्य एव। केवलं परस्परं वरवध्वोः मनसो आनुकूल्यानामेव विचारः वार्तालापादिमाध्यमेन कार्य-मन-शरीरादीनां मनसामानुकूल्यं क्रियते। मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोरिति सिद्धान्तेन चित्तानुकूल्यस्य प्राधान्यं वर्तते।यतः मन एव सर्वगुणानां दुर्गुणानां सुखानां दुःखानां सम्पत्तिनां चादिनां प्रधानभूतं कारकं भवति।अतः प्रोक्तम् -

यस्यां मनस्समासक्तं तामेव विवहेद् बुधः।
सर्वानुगुण्यभङ्गेऽपि मनोऽनुगुणताधिका।।

एवं प्रकारेण गार्हस्थजीवनं सुखपूर्वकं निर्वहितु ज्योतिषे शास्त्रे विविधप्रकारकाणां ग्रहनक्षत्रराशीनामानुकूल्यविचारः क्रियते। अन्यग्रन्थेष्वपि नैककूटानि वर्तन्ते किन्तु तेषां प्रयोगस्त्वत्यल्पो भवति। अत्र केवलं विवाहे 20 विंशतिः कूटानां वर्णनं साररूपेण प्रस्तुतम्।वस्तुतस्तु एतेषामपि कूटानां मतान्तरेण विविधतत्वानि वर्तन्ते। किन्तु सर्वं आलोचनेनेदं प्रतीयते यत् विवाहेऽष्टकूटानामेव प्रयोगः शास्त्रसम्मतः लोकसम्मतश्च।किन्तु अष्टकूटेतरकूटानामपि प्रयोगः विविधदेशभेदेषु भवति। तस्य सर्वथा त्यागः शास्त्रविरूद्धः। अतः विवाहे एतेषामपि कूटानां प्रयोगः भवितव्यः। येन नूतनविचारधारा लोके प्रचलिता स्यादिति।

सन्दर्भ सूची-

1. मुहूर्त्तगणपतिः विवाहप्रकरणम् 10 श्लोकः
2. कालामृतम् तृतीयो विन्दुः 61श्लोकः
3. मुहूर्त्तचिन्तामणिः 6 अध्यायः 34 श्लोकस्य पीयूषधारायाम्
4. मुहूर्त्तचिन्तामणिः विवाहप्रकरणम् 31 श्लोकः

5. जातकालंकारः 10 श्लोकः
6. प्रश्नमार्गः 21/31
7. प्रश्नमार्गः 21/26
8. मुहूर्त्तसंग्रहदर्पणम् 8प्रकरणम् 67 श्लोकः
9. प्रश्नमार्गः 21/23
10. कालामृतम् तृतीयो विन्दुः 78 श्लोकः
11. प्रश्नमार्गः 21/62
12. मुहूर्त्तचिन्तामणिः 6 अध्यायः 23 श्लोकस्य पीयूषधारायाम्
13. कालामृतम् तृतीयो विन्दुः 91 श्लोकः
14. मुहूर्त्तचिन्तामणिः 6 अध्यायः 22 श्लोकस्य पीयूषधारायाम्
15. प्रश्नमार्गः 21/12
16. प्रश्नमार्गः 21/13
17. प्रश्नमार्गः 21/38
18. मुहूर्त्तचिन्तामणिः 6 अध्यायः 34 श्लोकस्य पीयूषधारायाम्
19. कालामृतम् तृतीयो विन्दुः 88 श्लोकः
20. प्रश्नमार्गः 21/31
21. प्रश्नमार्गः 21/53
22. कालामृतम् तृतीयो विन्दुः 92 श्लोकः
23. प्रश्नमार्गः 21/37
24. प्रश्नमार्गः 21/3
25. प्रश्नमार्गः 21/60

●

''प्रज्ञा'' : नियम एवं निर्देश

1. ''**प्रज्ञा**'', जहाँ तक संभव होगा, वर्ष में दो प्रकाशित होगी : प्रथम अंक सत्रारम्भ के अवसर पर और दूसरा अंक मालवीय जयंती के अवसर पर।
2. ''**प्रज्ञा**'' पत्रिका में प्रकाशनार्थ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के शोध छात्रों एवं अध्यापकों के लेख/शोध प्रपत्र सम्पादक ''**प्रज्ञा**'' के कार्यालय में प्रथम अंक के लिए 30 नवम्बर तथा द्वितीय अंक के लिए 30 अप्रैल तक पहुँच जाने चाहिए। शोध छात्रों के लेख/शोध प्रपत्र अपने निर्देशक एवं विभागाध्यक्ष से संस्तुत एवं अग्रसारित होने चाहिए।
3. ''प्रज्ञा'' जर्नल में प्रकाशित लेखों/शोध प्रपत्रों के लेखकों को ''प्रज्ञा'' की दो प्रतियाँ दी जायेगी : प्रथम लेखकीय प्रति और दूसरी प्रति मुद्रण की 10 प्रतियों के बदले में।
4. सभी प्रकार के शुल्क, सम्पादक ''प्रज्ञा'' काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका, वाराणसी-221005 के नाम भेजें।
5. शोध-प्रपत्र/लेख के पाण्डुलिपि निर्माण सम्बन्धी दिशा निर्देश :
   (क) संगणक (कम्प्यूटर) पर टंकित शोध पप्रत्र/लेख की एक प्रति सी0 डी0 के साथ ''प्रज्ञा'' कार्यालय में जमा करना होगा।
   (ख) पाण्डुलिपि ए-4 आकार के बाण्ड पेपर पर डबल-स्पेस में टंकित होना चाहिए। लेख के चारों तरफ 2 से0मी0 की हासिया छोड़े।
   (ग) **हिन्दी एवं संस्कृत भाषा में टंकित लेखों के लिए दिशा निर्देशः**
   ए.पी.एस.-डी.वी.-प्रियंका रोमन फॉन्ट, शीर्षक-17 प्वांइट ब्लैक, लेखक का नाम- 13 प्वाइंट इटैलिक ब्लैक, टेक्स्ट-13 प्वाइंट, फोलियो-11 प्वाइंट और पाद टिप्पणी 9 प्वाइंट।
   (घ) **अंग्रेजी भाषा में टंकित लेखों/शोध प्रपत्रों के लिए दिशा निर्देशः**
   'टाइम्स न्यू रोमन' फॉन्ट, शीर्षक- 14 प्वांइट आल कैप्स काला, लेखक का नाम- 11 प्वाइंट आल कैप्स इटैलिक ब्लैक, टेक्स्ट 11 प्वाइंट, ऊपर नीचे की पाद टिप्पणी और फोलियो-9 प्वाइंट।
   (ङ) टंकित पृष्ठ संख्या : अधिकतम 10 पृष्ठ।
6. लेखक का घोषणा - पत्र :

''**प्रज्ञा**'' जर्नल में प्रकाशनार्थ प्रेषित ''.....'' शीर्षक लेख/शोध प्रपत्र का लेखक मैं घोषणा करता हूँ कि —

(अ) मैं लेखक के रूप में इस लेख की सभी सामग्रियों की जिम्मेदारी लेता हूँ, क्योंकि मैंने स्वयं इसे लिखा है और अच्छी तरह से पढ़ा है, और साथ ही अपने लेख/शोध प्रपत्र को ''प्रज्ञा'' जर्नल में प्रकाशित होने की स्वीकृति देता हूँ।

(ब) यह लेख/शोध प्रपत्र मूल रूप से या इसका कोई अंक कहीं और नहीं छपा है और न ही कहीं मैंने इसे छापने के लिए भेजा है। यह मेरी मौलिक कृति है।

(स) मैं ''**प्रज्ञा**'' जर्नल के सम्पादक मण्डल को अपने लेख के संशोधन एवं सम्पादन की पूर्ण अनुमति देता हूँ। ''**प्रज्ञा**'' में लेख प्रकाशित होने पर इसके कापी राइट का अधिकार सम्पादक ''**प्रज्ञा**'' को देता हूँ।

लेखक का नाम एवं हस्ताक्षर .....
दिनांक एवं स्थान .....
मोबाइल/टेलिफोन नं0 .....

TEN AUTONOMOUS FACTORS FOR WOMEN'S EMPOWERMENT (AFWE): A REGIONAL STUDY IN INDIA

DHARMA RAJ AND PROF. B. P. SINGH***

A general question arises in our mind as what is women's empowerment? Give some definition of women's empowerment has basic components as: women's sense of self-worth; their right to have and to determine choices; their right to have access to opportunities and resources; their right to have the power to control their own lives, both within and outside the home and their ability to influence the direction of social change to create a just demographic, socio-economic orders, nationally and internationally (UNFPA, 1990)[9].

Literature review on women's empowerment suggests a broad view in the condition of female in the society. Women's autonomy in decision making is positively associated with their age, employment and number of living children (Dev R Acharya, 2010)[1]. Autonomy is an increasing trend with the educational level of women (Reddy, 2009)[6]. Education and wage-work status are also significant determinants of the autonomy index. Residence have a more powerful effect on women's autonomy, education (even a primary education) plays a important role in enhancing almost every dimension of autonomy; wage work has a positive but less consistent effect (Shireen J. Jejeebhoy, December-2001)[8]. Higher age at marriages for girls, greater levels of schooling and better employment opportunities for women may indeed contribute to women's empowerment (Karen Oppenheim Mason, 2 January 2003)[3]. Increase in the education level and age of respondents contribute positively to autonomy of women (Dharma Raj, 2014)[2].

The household's standards of living have a negative relation with domestic. Autonomy plays an important role in determining patterns of attitude towards girl's education and future fertility preference (Saraswati, 2007)[7]. The relationship between female education, access to economic resources as a means of furthering empowerment of women especially in terms of their reproductive behaviour and increased access to resources is a major factor toward ensuring the much desired empowerment, (Oluwole Odutolu, Dec-2003)[5].

Women's empowerment opens the door for women's international health movement to influence country-level policies (Neidell, 1998)[4]. There are many studies ongoing in the field of women's empowerment from time to time. Looking at the various dimensions of empowerment for human life especially females, they are described as a direct indicator for women's empowerment like decision making power, access to resources & freedom of movement, and indirect indicator like education, occupation, gender, mass-media exposure, contraceptive & violence.

Need for the Study

Considering the patriarchal society, India is very vast country with all types of diversities across its states in terms of demographic and socio-economic characteristics. If we see the overall development of the country, India is far behind especially in terms of women's empowerment, there are many studies about women's empowerment, explained by their demographic and socio-economic importance in the society. From the various literatures, there are individually many studies that elaborate the status of women in the family. This study is an attempt to identify women's empowerment, based on direct and indirect indicators of female autonomy.

Objectives

The objectives of the present study are:

i To investigate the relative importance of various factors contributing to women's empowerment.

ii To examine the status of women according to ten AFWE factor and their importance in India.

Source of data

National Family Health Survey (NFHS-3) conducted by International Institute for Population Sciences in 2005-06; this is a large sample survey sponsored by Ministry of Health and Family Welfare, Government of India with the techni-

* Research Scholar, Department of Statistics, Banaras Hindu University, Varanasi
** Professor, Department of Statistics, Banaras Hindu University, Varanasi

cal assistance of ORC Macro, Calverton, Maryland, USA. For the study purpose, we have selected the currently married women of age 15 to 49 years. Out of total 124,385 women, only 87,925 women are currently married; which is nearly 71 percent of the women of the age group 15-49 years.

Methodology

The direct and indirect indicators were organised into ten specified group called autonomous factor of women's empowerment (AFWE). These autonomous factors are described by their relevant criterion, which is explained as:

1. AFWE_I: A woman has freedom of movement to go-to market, to take the health facility & to go places outside their village and/or community alone.

2. AFWE_II: A woman should have decision making power to take decision for small/large household's purchases, resource allocation and financial decision on daily needs and deciding what to do with money earned by their husband/ household income.

3. AFWE_III: : A woman has access of resources if she has own earned money that she can decide alone how to use, it whether she has a bank/savings account or she is benefitted with a loan.

4. AFWE_VI: A woman believes that it is not justify for the husband to beat her if she goes outside without telling to husband, neglects the children, unfaithful, disrespectful to in-laws, argues with him or refuses to have sex with him.

5. AFWE_V: A woman believes that it is right to refuse to do sex with her husband if either she knew that her husband has sexually transmitted diseases, her husband has sex with other woman or she is tired or not in the mood.

6. AFWE_VI: A woman is employed in any field (professional, technical, clerical, saleswoman, agriculture-employee, private/government services, skilled/unskilled worker, etc) and having decision on how to spend money, earned by her either in the form of cash or any other mode.

7. AFWE_VII: A woman is free to use any contraceptive method or other health services like antenatal care, delivery care and postnatal care in her reproductive age.

8. AFWE_VIII: A woman is not illiterate i.e. she went to school at least five or more years.

9. AFWE_IX: A woman is using any mass-media like radio, TV or newspaper at-least once in a week.

10. AFWE_X: A woman has never experienced any emotional, severe and sexual violence.

All the above factors is either directly (AFWE_I:AFWE_3) or indirectly (AFWE_4:AFWE_10) associated with autonomy of women. The status of women in society is also associated with the above factors. More number of AFWE factor in favour of a woman is improving the quality of life of a woman. Women's, who have positive view about all the above factors shows that their autonomous status is good/high.

In this paper, the cross-tabulations and Binary Logistic Regression techniques are used. To analyse the impacts of factors associated to AFWE and women's empowerment binary logistic regression is used to estimate the differentials among currently married women, those having their autonomy in all cases of direct autonomy and at least three cases of indirect autonomy. The dichotomous dependent variable for the model having women empowerment value is 1 if yes and 0 otherwise, which is a dummy variable (coded 0, 1). The independent variables are residence, religion, caste, current age, age at marriage and the total number of living children. This model commonly estimated by maximum likelihood function. For each selected variables, logistic model takes the following general form;

$$\text{Logit } P=\ln(p/(1-p)) = b_0+b_1x_1+b_2x_2+b_3x_3+\ldots+b_ix_i+\ldots+b_nx_n$$

Where, p is the probability that a woman is under the condition of autonomous

$X(x_1, x_2, x_3,...,x_n)$ is a vector of independent variables and $B(b_1, b_2, b_3, \ldots\ldots.., b_n)$ is the vector of regression coefficients.

Results and Discussions

For the extensive study, we observed that the Table 1; gives the percentage distribution of AFWE indicator for currently married women to age group 15-49 years. From the Table, the first indicator of AFWE is only 40.71 percent (35,796 out of 87,925). This depicts more than half of women have no freedom of movement which explains the worse condition for a female. The AFWE-II indicated that only 38.05 percent of women have decision making power. According to AFWE-III only half of the female population either have money of their own that they alone can decide to use, or they have bank/savings account for their self use.

The indicator AFWE_IV showed, most of them (93 percent of woman) have not justified for a husband to beat his wife if she goes outside without telling her husband; neglects her children and unfaithful; disrespectful to in-laws, argues with him and refuses to have sex with him. AFWE_V reveals that 71.58 percent of women believe that it is right to refusing their husband sex if either they know their husband has a STD, her husband has sex with other woman, they are tired or not in the mood. The sixth indicator of autonomy showed that more than two third of women are unemployed and the seventh indicator that nearly 61 percent of women are either using any contraceptive method or sought other health service.

Similarly, according to AFWE_VIII, less than half of the female population are literate in the common sense that they went to school at least five or more years. AFWE_IX represents nearly 60 percent of women are using any mass-media and AFWE_X gives more than half of women had ever experienced any emotional, severe and sexual violence.

When we talk about direct autonomy and indirect autonomy, we look at the AFWE indicator for strength of autonomy as women with more number of AFWE indicators are more empowered than those with less AFWE. Table 2 showed that only 13 percent of women have all AFWE indicator of direct autonomy and nearly 90 percent of women have more than two AFWE indicator of indirect autonomy. The overall situation of women's empowerment is described as less than 14 percent of women are in the better condition, while nearly 15 percent of women are having poor

Table: 1

Percentage distribution of AFWE indicator for currently married women to age group 15-49 years with all by ten autonomous factors in India.

Autonomy	Frequency (N=87,925)		Percentage (100%)	
Indicator	Yes	No	Yes	No
AFWE_1	35796	52129	40.71	59.29
AFWE_2	33453	54472	38.05	61.95
AFWE_3	44174	43751	50.24	49.76
AFWE_4	81744	6181	92.97	7.03
AFWE_5	62935	24990	71.58	28.42
AFWE_6	26552	61373	30.20	69.80
AFWE_7	54064	33861	61.49	38.51
AFWE_8	53701	34224	61.08	38.92
AFWE_9	52447	35478	59.65	40.35
AFWE_10	43312	44613	49.26	50.74

Table: 2

Percentage distribution of total number of AFWE indicator for currently married women to age group 15-49 years in India, (NFHS-III).

No. of AFWE factor	Frequency (N=87,925)			Percentage (100%)		
	Direct	Indirect	All	Direct	Indirect	All
0	20858	176	88	23.72	0.20	0.10
1	31387	1785	835	35.70	2.03	0.95
2	25004	6936	3240	28.44	7.89	3.68
3	10676	15224	7679	12.14	17.31	8.73
4	23267	13055			26.46	14.85
5		25264	17483		28.73	19.88
6		12873	18075		14.64	20.56
7		2400	14693		2.73	16.71
8		8737				9.94
9		3406				3.87
10		634				0.72

Table: 3

Percentage distribution of direct and indirect indicator of autonomy for currently married women toage group 15-49 year in India, (NFHS-III).

Autonomy	Frequency		Percentage	
Indicator	**Yes**	**No**	**Yes**	**No**
A) Direct	10676	77249	12.14	87.86
B) Indirect	79028	8897	89.88	10.12
C) Either A or B	79476	8449	90.39	9.61
D) A & B	10228	77697	11.63	88.37

Table: 4

Odds Ratio from Logistic Regression Analysis: for currently Married Women by their autonomy as dependent variable and residence, religion, caste, current age-group, age at marriage and number of living children are independent variable in India, (NFHS-III).

	India		North (UP & BR)		South (KE & TN)	
Background characteristics	**Odds Ratio**	**Std. Err.**	**Odds Ratio**	**Std. Err.**	**Odds Ratio**	**Std. Err.**
Residence>Rural (ref)						
Urban	2.096**	0.047	2.533**	0.166	1.332**	0.102
Religion >Hindu (ref)						
Muslim	0.589**	0.022	0.752*	0.062	0.548**	0.081
Others	1.170**	0.037	1.374	0.304	1.219	0.144
Caste>SC/ST (ref)						
Other Backward Caste	1.117**	0.034	0.9111	0.078	1.054	0.105
Others	1.305**	0.037	1.417**	0.129	0.798	0.103
Age group >15-24(ref)						
25-39	3.446**	0.146	4.344**	0.554	2.793**	0.427
40-49	4.937**	0.227	7.490**	1.021	3.483**	0.568
Age at marriage>Less than 18(ref)						
18-24	1.203**	0.029	1.066	0.080	1.259	0.109
25 and above	1.493**	0.058	1.816	0.301	1.460*	0.187
No. of living children> Up to 2(ref)						
3 and above	0.859**	0.029	1.074**	0.810	0.833*	0.079

Note: Significant at, *p<0.01 and **p<0.001

(Ref) Reference category

UP: Uttar Pradesh, BR: Bihar, KE: Kerala and TN: Tamil Nadu

autonomy. Total 72 percent of women are in their moderate situation of autonomy. From table 3, we observe that more than 90 percent of women have either direct or indirect autonomy but only less than 12 percent of them have attended all AFWE's indicators of autonomy.

The effects of residence, religion, caste, current age, age at marriage and the total number of living children on the women empowerment are described in table 4, by using the binary logistic regression. From Table 4, women living in urban areas are more likely empowered than women living in rural areas. In comparison to north India and south India, the effect of residence as rural-urban has more importance in the northern region than southern region, this is possibly because of wide gap exist between women living in urban and rural areas in north India is wider than that of south India. Also, women in Muslim community are less likely empowered than their Hindu counterpart, while women's in other community are more likely empowered than women in Hindu community. However, compare to the results of all India, there is no much difference observed in the women's empowerment. Empowerment status of women in SC/ST community is less than to other communities in India, while the north India women belonging to other caste are more likely empowered than those in SC-ST and less likely empowered in the south India. The observed differences might be due to the fact of their social and cultural importance.

Age of women have its own importance in Indian society, the women with higher age are more likely to control their own lives and hence more empowered. In India, age effect on autonomy is 3-4 times higher in older women than younger women. In comparison to this, north India has 4-7 and south India have 2-3 times higher in the older age than younger age women. The reason we observed the wider gap in autonomy in north India compared to south India is because of social and cultural differences. Age at marriage is also important for controlling the fertility behaviour of individual which affects the empowerment of woman. This component shows statistically significance in the overall India. Women with higher age at marriage were observed to be more empowered than those with lower age at marriage. Finally, the results for odds ratio shows that women having more than two children less likely empowered than those with less children, in all India and south India. However in north India the case is slightly different where women having more children were slightly more empowered than those with fewer children.

Summary and Conclusion

After the intensive study, this paper explains that ten AFWE indicators that based on demographic, social and economic status of women in society. This paper examines the female living in urban areas is more likely to have freedom of movement, control over resources and decision making power in comparison to women living in rural areas. Women belong to Muslim community have less autonomy and women belong to other community have more autonomy than women those belongs to Hindu community. A demographic characteristic as age of women is positively associated with their autonomy. The social characteristic as caste, women in SC/ST caste having less likely empowered in comparison to women in other caste. Along with demographic and social characteristics, cultural aspect having its own means. The paper recommends late marriage of women and less number of children for women's empowerment. By a policy maker and demographer, it can be utilised to implement new programs.

References

1. Dev R Acharya, J. S. (2010). Women's autonomy in household decision-making: a demographic study in Nepal. Reproductive Health .
2. Dharma Raj, A. I. (2014). Factor associated with Women's Empowerment based on NDHS and NFHS data: A comparative study between Nigeria and North India. http://www.sciencepub.net/report, Rep Opinion 2014;6(9):46-54.
3. Karen Oppenheim Mason, H. L. (2 January 2003). Women's Empowermentand Social Context: Results from five Asian Countries.
4. Neidell, S. G. (1998). Women's Empowerment as a Public Problem: A Case Study of the 1994 InternationalConference on Population and Development. Population Research and Policy Review,Vol. 17, No. 3 , 17 (3), 247-260.
5. Oluwole Odutolu, A. A. (Dec-2003). Economic Empowerment and Reproductive Behaviour of Young Women in Osun State, Nigeria. Women's Health and Action Research Centre (WHARC) , 92-100.
6. Reddy, D. S. (2009). Women's Education, Autonomy and fertility Behaviour. Asia-Pacific Journal of social Sciences, Vol.I(1) , 35-50.
7. Saraswati, P. M. (2007, Feb 01). Women's Empowerment and Gender Preferences for Children: A Study of Four Metropolitan Cities in India. Gender Issues and Empowerment of Women . Kolkata, West Bengal, India.
8. Shireen J. Jejeebhoy, Z. A. (December-2001). Women's Autonomy in India and Pakistan. Population and Development Review , pp 687-712.
9. UNFPA. (1990). Guidelines on Women's Empowerment. http://www.un.org/popin/unfpa/taskforce/guide/iatfwemp.gdl.html

UNIVERSE - AN INFINITE LIVING ENERGY CONTINUUM

PROF. RANJANA GHOSE[*] AND PROF. KRISHAN KUMAR NARANG[**]

It is generally believed that the Universe was created after a Big Bang and extremely infinitely dense matter exploded and totally transformed into energy [1]. Now the belief centers on the existence of several parallel universe or multiverse and multiple Big Bangs. On cooling due to expansion, first electron like particles were born which further condensed to create hydrogen like particles. The cooling and condensation process continued to form heavier nuclei and heavenly bodies, the Sun and similar stars and their planets in Galaxies, infinitely spaced over billion and billion years ago. This theory of creation of Universe appears one sided.

Considering the universal phenomena of recycling process in Nature, and every particle being a pack of Energy, the energy to matter transformation is given by Einstein by a simple mathematical equation:

$$E = mC^2$$

where E stands for Energy, m for mass and C for velocity of Light

Every particle or heavenly body has a life span and is back converted into Energy. This recycling process or conversion of matter into energy and vice versa is the basic phenomenon or is the only phenomenon in nature occurring at all levels with all kinds of species for all the times for which there is no beginning and no end. What happened before Big Bang no body can speculate. The theory of recycling process which governs the life cycle everywhere seems to be more reasonable.

The present authors believe that the entire life process is governed by energy through the fundamental intelligent particle Electron which is responsible for all types of bonding in all kinds of materials. The subject of chemistry is just a language to understand and communicate the behavior of electron in materials.

Wave - Particle Duality of Energy and Electron

The wave - particle character of electron has been elaborately dealt by Bohr and Schrodinger in their mathematical models for an atom. Electron is just a name given to an observed feeling that on rubbing two materials in which one is depleted of energy and the other gains energy as if there is an exchange of particles called electron. Or it is just a digitization of Electron for convenience. Advanced experimentation has confirmed both particle and wave characters of electron and further, the speed / velocity of electron has a phenomenon of uncertainty of determination. Volumes over volumes of experimental knowledge have been compiled in the subject called Chemistry but it is only the intelligence of electron and its wave - particle character that governs the life span of all matter.

Going through the entire span of formation of Universe down to present life on Earth there seem to be extremely mysterious phenomena governing the life processes of the minutest to the massive objects. It appears that nature very intelligently carries forward the process of life in all materials. But since all materials are assumed to have formed from energy after the Big Bang, all the intelligence is associated with that energy and that intelligence is transmitted along with the formative processes. The formative processes are taking place at all levels of energy, at all the times, at all the speeds from minimum to unimaginably maximum, with due intelligence. The entire infinite space of the Universe is filled with energy. The hurricane type of flow of energy simultaneously creates condensation and rarefaction of energy. The rarefaction or vacuum or absence of energy helps in densification of energy in a particular form. Learned scientists and thinkers have shown the formation of Universe after the Big Bang from electron to hydrogen atom to larger heavenly bodies like Sun, Stars and Galaxies. But the reverse process of conversion of the Universe into the situation just before Big Bang is a subject matter of speculation and discussion and is thought provoking.

We, the Earthlings on Earth continue to seek an explanation of the general phenomena of the reversibility of life process, recycling of life process through the recycling process of energy. Nature continues to function even at minimum temperature, pressure and the slowest kinetic conditions for sake of improvement over the previous or refinement of the previous material or reshaping the material under the circumstances. The life process on Earth is subject

* Professor, Department of Applied Chemistry, Indian Institute of Technology, Banaras Hindu University, Varanasi

** Professor Emeritus, Banaras Hindu University, Varanasi

matter of extreme interest [2,3,4,5]. How come, from a very high temperature in the beginning to moderate temperature on Earth, the life process has developed?

There are several examples that inorganic chemicals are transformed into organic chemicals over a period of times, e.g conversion of ammonium cyanate to urea [6, 7] as shown below:

$$NH_4(NCO) \leftrightarrow NH_3 + HNCO \leftrightarrow (NH_2)_2CO$$

It is adequately clear that every electron [8,9], surrounding the nucleus in an atom, intelligently joins the other to form a molecule and every molecule is surrounded by the bonding electrons which again intelligently combine to form macromolecules to an extent that they develop into a cell, which is a molecular machine, capable of replicating itself. A cell is an industrial complex, quite efficient of producing all materials required for progression and maintenance of Life.

Taking an overview of the development of life processes over millions years ago on Earth through chemicals in atmosphere on the surface of Earth and in oceans, it appears that developmental chemicals recognize each other. The moment they come close to each other, they join hands to form larger molecules. Taking example of formation of liquid water by attachment of two hydrogen with one oxygen to give a molecule of H_2O, in which there is a secondary bond called Hydrogen bond, which is much weaker than the covalent bond (H-bond is 1kcal/mol to 5kcal/mol while covalent bond is 50 kcal/mole to 200 kcal/mol). The entire oceanic waters would have evaporated in the absence of H-bond and then there would have been no life on the Earth. Is it not the intelligence and recognizing ability of the electron to appropriately associate with other molecule, even though weakly, to form liquid state of water? Once liquid water is available via such H-bond formation, in plenty, the other molecular species have a freedom to move through the structural domains of water. It is indeed the extreme intelligence of nature or energy that a spherical hydrogen atom has been formed. A single proton is surrounded by single electron spherically forming a neutral Hydrogen atom. If the electron surrounding the proton in hydrogen atom coalesces with the nucleus, it becomes a neutral particle, a Neutron. Hydrogen atom is neutral and the Neutron is also neutral. It appears that Neutron and Hydrogen atom are inter convertible. Experimentally it may be difficult to convert hydrogen into neutron and neutron into hydrogen, but nature has created hydrogen atom by keeping electrons slightly away from proton and making them rotate (spin) and revolve.

The spherical nature of Hydrogen atom gives it the property of binding through any angle anywhere. Virtually it serves as a wheel to carry bigger molecules, for transportation just as heavy load is carried on wheels. For this reason, probably, most of the organic chemicals end up with hydrogen atoms in living materials.(i.e. Hydrogen atoms at the end of the chain or structure of living cell). Therefore, it can be emphatically said that all cells and cellular bodies have multitude of hydrogen atoms on the surface, covered by electronic layer. All living bodies have an electronic layer on the surface i.e. skin of the bodies. It is this energy body, (the Ethereal Body) ,covering the living system intelligently communicates with Universal Energy Ocean, the Universal Creator or God, named differently in different languages, developed by Man on the Earth.

Brain has several epicenters like spots or memory points to receive signals and give command. The process continues infinitely,at infinitesimally small level, at every moment for all the times. The communicative languages are so specific and complex that it is a communication only in between the particular specie and the Nature or God.

Nature in its all forms is extremely intelligent. From the minutest particle to the mightiest bodies, it has its own language to communicate to transform or to convert one form to other.

Automation

Life on Earth seems to be automatic transformation under ambient conditions of environment. A cell is a molecular industry in itself taking raw materials from environment and synthesizing suitable chemicals to reproduce themselves, a million fold [10,11].

Meaning of Birth, Life Time and Death, are different at different places on Time scale and Space consideration. The entire Universe is Alive and full of life. The entire Ocean of Energy is Alive. Electron is Alive. There is life in its wave and particle form. There is life in solid, liquid, gas and plasma form. Electron is so intelligent that it sees the fellow Electron coming from infinite distance and orients itself accordingly to form or not to form a bond. Parallel and anti parallel spins, which are only different orientation of wave form, resulting in No bond -Bond formation process.

The Hydrogen Bond

Hydrogen atom is composed of millions of tiny particles called electronets. Probably Nature in its minutest creations participates through electronets Migration of Electron density may be the migration of electronets. Information storage and dissemination may occur through the wave form of these electronets with their infinite reach. The Hydrogen bond, obviously then is the migration of electron density or bunch of electronets towards more electron deficiency created on Hydrogen atom by bonding with oxygen

atom in liquid water as shown below:

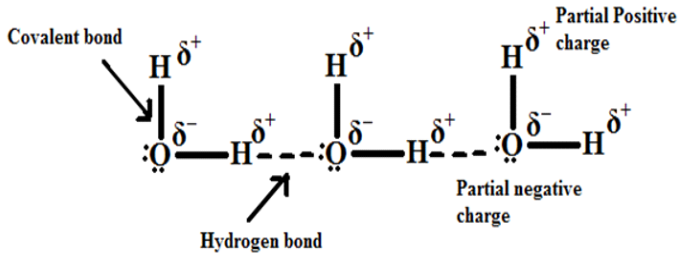

An atom of Hydrogen has only one proton and one electron surrounding it. Two hydrogen (H) atoms bond with the help of two electrons to give one hydrogen molecules (H_2). Here two protons are separated by two electron bond and also engulfed in two electron bond.

When two protons fuse and capture two neutrons and the system takes up two electrons, a Helium atom is born. Hydrogen burning process, responsible for the Energy emanating from Sun, is essentially a proton - proton fusion which releases tremendous amount of Energy and resulting into Helium atom.

$$^{1}/_{1}H + {}^{1}/_{1}H + 2n \rightarrow {}^{4}/_{2}He$$

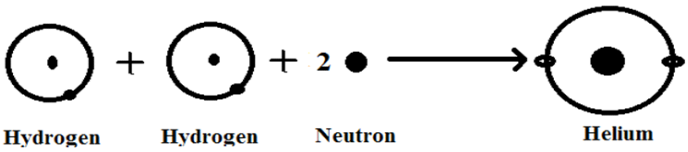

Our Universe is an Infinite ocean like expanse of Energy, which is recycled through Infinite Times. Life is just an automatic recycling process of Energy. Solid form of Energy, massing up to reach criticality, bursts to convert to wave form. The wave form travels with velocity reaching infinity and yielding energy concentrates or particulate form. The particulate form grows into massive stellar bodies floating in space which is believed to be vacuum but filled with rarefied form of Energy, i. e., different types of radiations. The massive bodies are whirling in space as if in a whirling pool, and the centre of Whirlpool, like a Black Hole, sucks in the Heavenly bodies like in a dustbin. The massive bodies collect at the base of Whirlpool to reach criticality again to burst into energy and dissipate into Infinite Energy Ocean. The process has continued since Infinite Times, within the unimaginably largest sphere of Energy.

Where from Intelligence has come in the Living being, All Life is made of materials and all materials are composed of Atoms bound by electrons. Since the nuclear part is not exposed to other atoms, it is being surrounded by multiple electron system. It is the Electron which is intelligent or holds the filament of intelligence overlapped on it.

There is a statement in books of Physics that an electron sees other electron coming from an infinite distance. It orients itself accordingly either to attract it to form a bond. Lowest energy well in H_2 molecule forms a two electron covalent bond. Or repel it to form no bond. Spin parallel and spin anti parallel have been suggested. **But what is about the Intelligence of Electron?**

Life on Earth is based on solar radiation which is composed naturally of $h\vartheta$ carrying smallest possible particulates $\beta^+ \beta^-$, positrino - electrino pair, which fall on to the green pigments, chlorophyll of plants. The chlorophyll has a Whirlpool of electron which traps the $h\vartheta$, (wholly or partially) to start the inbuilt molecular mechanics to trap $CO_2 + H_2O$ to synthesize glucose and other sugars as building blocks for cellulose structure needed for growth of plants.

Our stress is that it is the intelligence of electron of chlorophyll to selectively capture the electronets β^-, positronets β^+ for the growth process. In the same manner hemoglobin of blood captures O_2 molecule via a bond with Iron atom bonded in red corpuscles, carry it forward to lungs for other mechanisms to use energy stored into glucose and expel CO_2 molecules. Here the outer electrons play their part very intelligently. Electron and Energy are synonyms and indistinguishable in their minutest packs.

In particulate form, Electron absorbs energy and gets excited to higher states, then loses energy to come down to ground state. How nicely it obeys to carry energy and off load it as and when gets a chance to do so.

Spinning and orbital motion of electron generates magnetic lines of force. In the same way, energy radiation $h\vartheta$ photon $\beta^+ \beta^-$, may have spin and orbital motions generating magnetic lines of force at extremely or their infinitesimally small level with equal and opposite effect.

It appears, the collective intelligence or cooperative effect of neuro- chemicals in Brain of Man is responsible for overall intelligence which can dig out the past experience in a moment on seeing the other through eyes or even by thought process and extrapolate the future under the circumstances. Intelligence of not only Man but all living beings, is really due to electron. If any experiment is done to modify the intelligence, a lot more is needed to reach that level extremely minutely. No electronic instrument or even Large Hadrons Collider may help but it is the Human Mind which can resonate with the electron and observe it and its behavior.

Ultimately, man has to give in and accept that Nature is recycling the Energy - Electron system, since Times immemorial and shall continue to do so for infinite Times to come. The Universe is an Infinite and intelligent Living Energy Continuum.

References

1. "The Big Bang Theory", Karen C. Fox, Pub. John Wiley & Sons, Inc., New York and Canada, 2002.
2. "The State of the Universe", Pedro G Ferreira, Pub. Weidenfeld & Nicolson, London, 2006.
3. "Introduction to Cosmology", J. V. Narlikar, Cambridge University Press, 1993.
4. "Seven clues to the Origin of Life" - a scientific detective story, A. Cairns-Smith, Cambridge University Press, 1993.
5. "Origin of Life on Earth", A. T. Oparin, Oliver and Boyd, Edenberg Netherland, 1957.
6. Friedrich Wöhler (1828). "Ueber künstliche Bildung des Harnstoffs". Annalen der Physik und Chemie 88 (2): 253-256. Bibcode 1828AnP....88..253W. doi:10.1002/andp.18280880206
7. Wöhler's Synthesis of Urea: How Do the Textbooks Report It? Paul S. Cohen, Stephen M. Cohen J. Chem. Educ. 1996 73 883 Abstract
8. "History of the Electron" in The Birth of Micro Physics, A. Warwick and J. Z. Butchwald, The McGrraw Hill Companies Inc. New York, N.Y., 2001.
9. "Electron", Glen D. Considine and Peter H. Kulik (Eds) Van Nostrand's Scientific Encyclopedia, p-1771 (2008) Wiley Interscience, John Wiley & Sons Inc. Hoboken New Jersey.
10. "Principles of Biochemistry", Albert L Lehninger, p-12, 1987, CBS, Publishers Distributers Shahdara, India.
11 "Lehninger - Principles of Biochemistry", 4th Ed. Cellular Foundations p- 3- 20, David L Nelson & Michael M. Cox,2007.

●

CLIMATE CHANGE - A CHALLENGE TO WORLD AGRICULTURE

*DR. RAM NARAYAN MEENA**

The impact of climate change on the poorest people, which may exceed five hundred million in India, is rarely the central issue in all the debates on climate change. The central issue for policy makers seems to be the likely impact of any climate mitigation measures on economic growth.

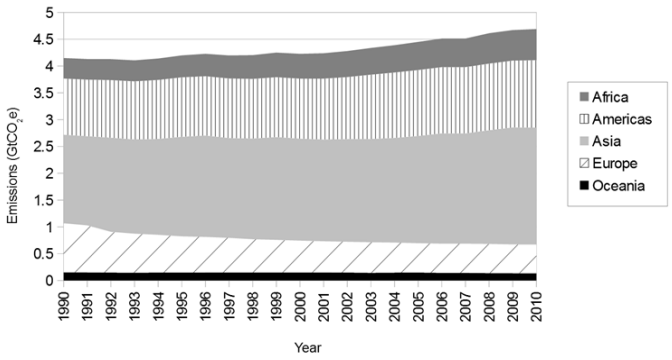

Fig.1: Greenhouse gas emissions from agriculture, by region, 1990-2010

However, economic growth alone will not insulate the poor against the adverse impact of climate change. High growth rates in the past decade have not made any significant impact on the quality of life of the poor. The poor in India are already exposed to severe water scarcity, water pollution, fodder and fuel wood scarcity, land degradation, desertification, droughts and floods. Unable to cope with the current environmental stresses such as drought and water stress, the poor will be vulnerable to climate change and will find it difficult to adapt. India needs to chart multiple strategies to cope with the impending threats of climate change, which are additional to the existing environmental stresses. This should include (i) Research for an improved understanding of climate change - related issues; (ii) The adoption of sustainable development pathways; (iii) Increasing the adaptive capacity of the poor; and (iv) Working towards a global arrangement to reduce emissions of green house gases at the earliest. Any delay in action to address the climate change will make future actions more expensive and even more difficult to agree upon.

Green House Gases (Emission from Agriculture)

The agricultural sector is a driving force in the gas emissions and land use effects. In addition to being a significant user of land and consumer of fossil fuel, agriculture contributes directly to green house gas emissions through practices such as rice production and the raising of livestock (FAO, 2007). According to IPCC, the three main causes of the increase in green house gases observed over the past 250 years have been fossil fuels, land use, and agriculture. Agriculture is itself responsible for an estimated one third of global warming and climate change. It is generally agreed that about 25 per cent of the main green house gas, carbon

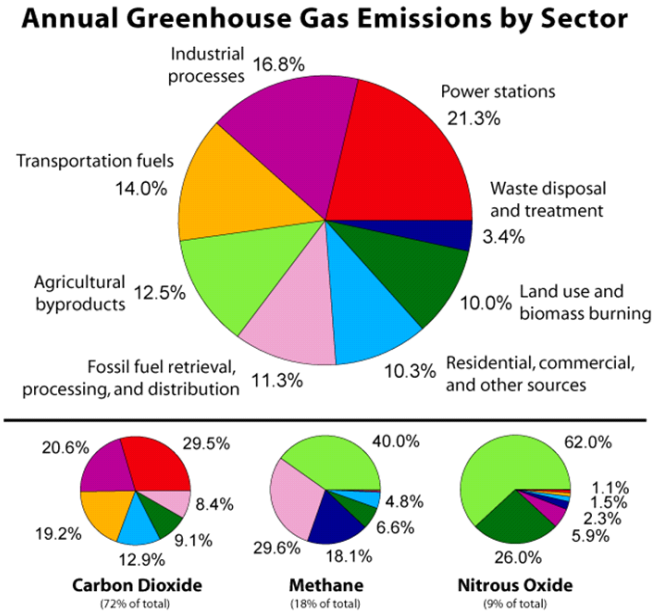

Fig. 2: Different sector of GHG emissions

dioxide, is produced by agricultural sources, mainly deforestation and burning of biomass. Most of the methane in the atmosphere comes from domestic Somains forest fires, wetland rice cultivation and waste products, while conventional tillage and fertilizer use account for 70 per cent of the nitrous oxides. The Food and Agriculture Organization has estimated that meat production accounts for nearly a fifth of global green house gas emissions. These are generated during the production of animal feeds. Ruminants particularly cows, emit methane which is 23 times more effective

* Department of Agronomy, Institute of Agricultural Sciences, Banaras Hindu University, Varanasi.

as global warming agent than carbon dioxide.

Impact on Agriculture

Agriculture will be impacted by climate change in several ways. There will be reduced crop yield, for example, an increase of temperature from 1 to 4°C can reduce grain yield of rice by 0-49% potato by 5-40%, greengram by 13-30% soybean by 11- 36%. Climate change can shorten rabi season and decrease yield. Vulnerability to diseases and pest attack increases. High temperatures affect the quality of produce. Increase in temperature can reduce 1000 grain weight (test weight) and the amylase content and also adversely affected grain elongation and aroma in basmati rice.

Increase in temperature causes distress to dairy animals affecting milk production. Studies indicated that India losses 1.8 million tonnes of milk production due to climatic stresses.

Crop Productivity Livestock

Climate change will affect the health, growth and productivity of crops, livestock, fish, forest and pasture in different ways. It will also have an impact on the incidence of pests and diseases, biodiversity and ecosystems. Frequent changes in weather parameters, more importantly temperature and precipitation would not only threaten food production but also access stability and utilization of food resources Livestock and livestock-related activities such as deforestation and increasingly fuel-intensive farming practices are responsible for over 18% of human-made green house gas emissions Important measures call for significantly increases in rural investments to reduce the long term effects of short term climate variability on food security, through provision of crop and livestock insurance and incentives that encourage farmers to adopt farm and social forestry, conserve resource and better agricultural and land use practices.

Impact on Fisheries

In the short term, climate change is expected to affect fresh water fisheries through changes in water temperature, nutrient levels and lower dry season water levels which in turn will have impact on quality, productivity, output and viability of fish and aquaculture enterprises, thereby affecting fishing community. Dry season flow rates in rivers are predicted to decline in south Asia and in most African river basins, leading to reduced fish yields, according to the FAO. In the longer term, larger changes in river flows are anticipated as glaciers melt, reducing their capacity to sustain regular and controlled water flows. Researchers found that lake fisheries have already begun to feel impact of climatic variability, affecting fish production.

Impact on Hydrology and Water Resources

Climate change will affect drinking, irrigation and hydro power production. It will have an impact on the predictability and variability of water and also increase in frequencies of droughts and floods. Climate change will accelerate damage to fresh water eco system such as lake & marshes & rivers, hill side, stone slide, problems in water shade management. By 2050 Annual run-off the Brahmaputra is projected to decline by 14% and Indus by 27%. sea level rise will effect ground water aquifers. Ocean chemistry is changing more than 100 times rapidly than it was during last 2100 years. Since industrial revolution, oceans have become 30% more acidic and the sea fish is under threat. More floods will degrade drinking water, damage crops, and livestock. Climate change related melting of glacier could seriously effect half billion people in the Himalaya-Hindu- Kush region, a quarter billion people in china, depending on Glacier melt for water supplies. India, China and Bangladesh are especially susceptible to increasing salinity to ground water and surface water resources especially along the coast , due to increase in sea level as a direct impact of climate change.

Impact on Land

Rising sea levels owing to climate change would force communities in low line coastal areas and river deltas to move to higher ground level. Similarly, increasing frequency of droughts due to climate change would force farmers and pastoralists, who rely on rainfall to raise their crops and livestock, to migrate to areas in search of land and water. This migration/displacement of people would result in direct conflict and competition between migrants and established communities for access to land and water. It may be difficult for displaced communities to maintain their farming or pastoral traditions. A broad based policy and program that provides opportunities for the displaced communities to earn livelihood outside the agricultural sector may need to be evolved

Effect on quality

According to the IPCC's TAR, "The importance of climate change impacts on grain and forage quality emerges from new research. For rice, the amylose content of the grain--a major determinant of cooking quality is increased under elevated C02" (Conroy et al., 1994). Cooked rice grain from plants grown In high-CO2 environments would be firmer than that from today's plants. However, concentrations of iron and zinc, which are important for human nutrition, would be lower (Seneweera and Conroy, 1997). Moreover, the protein content of the grain decreases under combined increases of temperature and CO2 (Ziska et al., 1997) http://en.wikipedia.org/ wiki/Climate_change_and_ agriculture - cite_note 21 Studies have shown that increases in CO2 lead to decreased concentrations of micronutrients in crop plants This may have knock-on effects on other parts of ecosystems as herbivores will need to eat more food to

gain the same amount of protein (Carlos E. Coviella and John T. Trumble, 1999)

Studies have shown that higher CO2 levels lead to reduced plant uptake of nitrogen (and a smaller number showing the same for trace elements such as zinc) resulting in crops with lower nutritional value (Scherer, Glenn Grist July, 2005) This would primarily impact on populations in poorer countries less able to compensate by eating more food, more varied diets, or possibly taking supplements.

Erosion and fertility

The warmer atmospheric temperatures observed over the past decades are expected to lead to a more vigorous hydrological cycle, including more extreme rainfall events. Erosion and soil degradation is more likely to occur. Soil fertility would also be affected by global warming. However, because the ratio of carbon to nitrogen is a constant, a doubling of carbon is likely to imply a higher storage of nitrogen in soils as nitrates, thus providing higher fertilizing elements for plants, providing better yields. The average needs for nitrogen could decrease, and give the opportunity of changing often costly fertilisation strategies.

Potential effects of global climate change on pests, diseases and weeds

Global warming would cause an increase in rainfall in some areas, which would lead to an increase of atmospheric humidity and the duration of the wet seasons. Combined with higher temperatures, these could favor the development of fungal diseases. Similarly, because of higher temperatures and humidity, there could be an increased pressure from insects and disease vectors.

Role of Organic Agriculture

Organic agriculture emits much lower levels of green hose gases (GHG), and quickly, affordably and effectively sequesters carbon in the soil; global adoption of organic agriculture would deliver additional emissions reductions of approximately 0.6 to 0.7 Gt CO2 through the avoidance of biomass burning (CH4 and NO2 emissions) and the avoidance of 0.41 Gt CO2 year emitted from the use of fossil energy consumption for chemical N fertilizer production.

Organic Agriculture minimizes the financial and resource barriers to farming and therefore enhances people's access to local food. Input costs in organic agriculture are much lower as it avoids costly external inputs such as chemical fertilizers, pesticides and fuel. Lower costs reduce financial risk, avoids the need for credit and subsequent indebtedness. As fossil fuel prices rise the cost of external chemical inputs will rise further, making reliance on these inputs increasingly risky. Organic agriculture also reduces risk by increasing the diversity of food and income sources and therefore reduces the risks associated with the failure of a particular crop. The high diversity of organic agriculture leads to greater ecological and economic stability through optimized ecological balance and risk spreading.

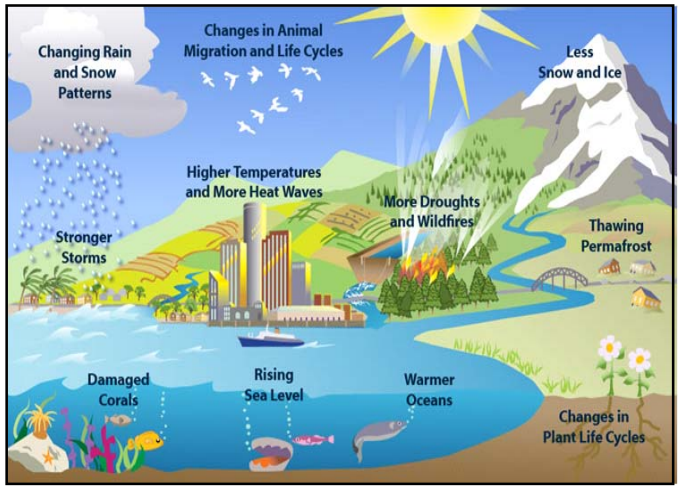

Fig.3: Impact of Climate Change

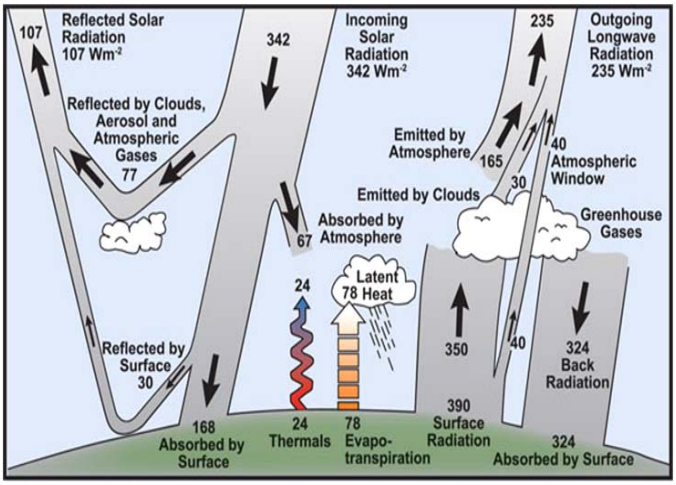

Fig. 4: Distribution of Solar radiations

In spite of all these potentials the penetration of natural/ organic farming is very weak due to the biased Government extension methods. Absence credible/accessible certification schemes for organic growers prevents them to compete successfully in export markets. This is primarily due to the fact multinational companies are dictating research priorities in food production / processing etc. and hence, there is low priority for locally relevant /self reliant solutions (Moli, 2010).

Mitigation and Adaptation Measures

* India needs to chart multiple strategies to cope with the impending threats of climate change, which are additional to the existing environmental stresses. This should include (i) Research for an improved understanding of climate change - related issues; (ii) The adoption of

sustainable development pathways ; (iii) Increasing the adaptive capacity of the poor; and (iv) Working towards a global arrangement to reduce ambitions of green house gases at the earliest.

* The synergy, or trade - off, between addressing climate change and economic development from the long term perspective needs to be understood. India should not focus only on short term financial gain from climate change-related global institutions and mechanisms. The government should treat it as a fundamental problem with potentially serious adverse socio economic and environmental consequences. It should seek long term solutions to mitigate climate change to reduce its adverse impact on the poor.
* An informed public debate involving all the stakeholders, such as policy makers experts, environmentalnongovernmentalorganizations, industryassociations, mass medium, farmers and fishermen's representatives, is necessary. The national climate change policy making process should be broad based, given the urgency, scale of impact and differing implications for different stakeholders.
* Developing climate impact modules that give a better understanding of how climate change affect crop, livestock and fish farming and forestry at a local level in order to be well prepared.
* A diversified pattern of livelihoods and adapting agricultural, fishing and forestry practices to efficient water management and soil conservation practices and growing resilient crops at praise.
* While agricultural research Institutes and Universities have already been engaged in researching drought- resistant and saline resistant crop varieties for arid regions and rainfall tolerant and short duration varieties for flood proven regions, Government and private sector will have to invest substantially in agricultural research on one hand and motivate/train farmers to take better advantage of the dry rabi season in the flood proven regions and help them supplement their income through non -farm activities on the other.
* To develop land use plans, food security programs, fisheries and forestry policies that can help farming community suitably adapt to climate changes.
* To undertake cost/benefit analyses of climate changes risks for irrigation or coastal protection and for investment decision.
* Promotion of "best crop- fish farming practices" through farmer's capacity building and networking. Conceptualization and implementation of "National Adaptation program of Action on climate change".
* Improve the management of rice paddies production through judicious use of organic manure, fertilizers, irrigation water, nitrification inhibitors, fertilizer placement and their schedling.
* Improve management of livestock population especially ruminants and its diet. Increase soil organic carbon through minimal tillage and residue management.
* Improve management of livestock population especially ruminants and its diet. Increase soil organic carbon through minimal tillage and residue management.
* Improve energy use efficiency in agriculture through better designs of machinery and by resource conservation practices.
* Change land use pattern by increasing ares under biofuels, agro-foresty but not at the costs of food production.
* A huge funds are required for adaptation. A new model of development is required to give urgency to copping with climate change. Funds are required to go in for researching crop varieties that are resistant to drought-heat and floods that sequester more carbon and can make better biofuels. Besides, other sectors too need funs adapt as well.
* Agro-forestry that is cultivation of trees together with crops can help farmers cope with several of the adverse consequences of climatic change. Planting of trees between the crops and in the boundaries around crops can help prevent soil erosion restore soil fertility and provide shade for other crops. The practice of improved fallow also holds great promise. Optimal use of retained rain water through agro-forestry practice could be one of the effective ways of improving adapting capacity of the systems to the climatic changes.

Conclusion

Climate change and agriculture are inseparably linked global scale, both affecting and influencing the other. Food sovereignty is the "right" of peoples to define their own food, agriculture, and livestock and fisheries system, in contrast to having food largely subjected to international market forces. Climate change and global food crisis have put spotlight on the vulnerability, unsustainability and social inequity

of agriculture and food production. The challenge for Indian Agriculture is to adopt to potential changes in temperature and precipitation and to extreme events without comprising productivity and food security. The consequences of these changes may result in a need to adopt existing regulations with respect to environmental-policy goals. The government should emphasis on climate change adaptation issues in development strategies and programmes. It is necessary to make sufficient investments to support climate change to adaptation and mitigation, technology development transfer and dissemination among farmers. Any delay in action to address the climate change will make future actions more expensive and even more difficult to agree upon.

References

1. Conroy JP, Seneweera S, Basra AS, Rogers G, Nissen-Wooller B (1994) Influence of rising atmospheric CO, concentrations and temperature on growth, yield and grain quality of cereal crops. Aust J Plant Physiol 21: 741-758.
2. Carlos E. Coviella and John T. Trumble (1999). "Effects of Elevated Atmospheric Carbon Dioxide on Insect-Plant Interactions". Conservation Biology (Conservation Biology, Vol. 13, No. 4) 13 (4): 700-712.
3. Seneweera, S P.and Conroy, J.P (1997) Growth, grain-yield and quality of rice (Oryza sativa L.) in response to elevated CO2 and phosphorus nutrition (Reprinted from plant nutrition for sustainable food production and environment, 1997), , Soil Science and Plant Nutrition, 43,pp. 1131-1136.
4. Ziska, L.H., Namuco, O., Moya, T. and Quilang, J. 1997 Growth and yield response of of field grown tropical rice to increasing carbon dioxide and air temperature. Agronomy Journal 89, 45-53.

●

RESTORATIVE JUSTICE : AN OVERVIEW

DR. BIBHA TRIPATHI*

The criminal justice system has been evolved to provide justice not only to the victim but also to the society, even to the accused too. There are different notions and justifications of justice based on several theories of punishment.[1] Restorative justice means the repair of harm through reaffirming a shared value-consensus in a bilateral process.[2] punishment can be, and often is, part of restorative justice practices but it is not central theme. Crucial for proper restorative justice is a process of deliberation that places emphasis on healing rather than punishing: healing the victim and undoing the hurt; healing the offender by rebuilding his or her moral and social selves; healing communities and mending social relationships.[3] The concept of restorative justice is applied in criminal justice system in general and in juvenile offending in particular. Since the cases of juvenile offending have now become controversial from the point of view of gravity of offence and relief available in the system and countries like India are rethinking to amend the law so that juvenile offenders could also be severely treated. Therefore the paper will focus on the concept of restorative justice from the victim's point of view. The paper will discuss different standards of restorative justice and the issues of the range of cases and offenders for which restorative justice is appropriate, and the extent to which restorative justice needs to incorporate due process safeguards which are important in formal criminal justice. It is submitted in the paper that Justice Innovation, such as restorative justice approaches, will benefit from close scrutiny and evaluation, and a re-examination of their basic tenets on the community and victim roles. To ensure procedural justice and human rights, it is submitted that the state's role and responsibility for the administration of justice and safeguarding protections is fundamental and primary.

Criminal Justice System: A Common Understanding

One of the prime objectives of the criminal law is imposition of appropriate, adequate, just and proportionate sentence commensurate with the nature and gravity of crime and the manner in which the crime is done. There is no straitjacket formula for sentencing an accused on proof of crime. The courts have evolved certain principles: the twin objective of the sentencing policy is deterrence and correction. What sentence would meet the ends of justice depends on the facts and circumstances of each case. The principle of proportionality in sentencing a crime-doer is well entrenched in criminal jurisprudence. As a matter of law, proportion between crime and punishment bears most relevant influence in determination of sentencing the crime-doer. The court has to take into consideration all aspects including social interest and consciousness of the society for award of appropriate sentence.[4] Thus, the graver the offence and the longer the criminal record, the more severe is the punishment to be awarded. Undue sympathy to impose inadequate sentence would do more harm to the public system to undermine the public confidence in the efficacy of law and society could not long endure under serious threats.[5]

Victims: Forgotten Forever

Victims are unfortunately the forgotten people in the criminal justice delivery system. The criminal justice system tends to think more of the rights of the offender than that of relief to the victims. The anxiety shown to highlight the rights of the offender is not shown in enforcing law relating to compensation which too has a social purpose to serve. Victim reparation is still the vanishing point of our criminal law! This is a deficiency in the system which must be rectified by the legislature.[6] The victim is certainly entitled to reparation, restitution and safeguard of his rights. Criminal justice would look hollow if justice is not done to the victim of the crime. Though an honour which is lost or life which is snuffed out cannot be recompensed but then monetary compensation will at least provide some solace.[7] Krishna Iyer J. has opined that while social responsibility of the criminal to restore the loss or heal the injury is a part of the punitive exercise, the length of the prison term is no reparation to the crippled or bereaved but is futility compounded with cruelty. Victimology must find fulfilment, not through barbarity but by compulsory recoupment by the wrongdoer of the damage inflicted not by giving more pain to the offender but by lessening the loss of the forlorn.[8] By laying emphasis on individualized justice, and shaping the result of the crime to the circumstances of the offender and the needs of the victim and community, restorative justice eschews uniformity of sentencing.

* Associate Professor, Law School, Banaras Hindu University, Varanasi.

Restorative Justice: Concept and Interpretation

Justice, having a proletarian face, has rightly been considered as a relative term. What is justice to one may be gross injustice to the other. Legal systems based on a restorative rationale are rare. Although there is still no single agreed definition of restorative justice, its key principles are now well defined and widely known that restorative justice processes are seen as a way of making the offender realize the harm done by the offence; as a way of acknowledging that there is a victim, and that the victim has been hurt in some significant way.

The criminal trial is meant for doing justice to all-the accused, the society and the victim. Then alone can law and order can be maintained.[9] Sentencing justice is a facet of social justice, even as redemption of a crime-doer is an aspect of restoration of a whole personality.[10] Realizing the relevance of restorative justice, more concentrated attention than ever before from both criminological theorists and policy makers are now being offered to establish justice in a just manner. Though there is diversity, complexity and restlessness of the articulation of restorative justice in theory as well as in practice but its general principle of providing restitution to victims and communities, promoting reintegration of offenders, and repairing relationships between victims, offenders and communities are well-understood and increasingly accepted. For most restorative justice advocates, restorative justice is consequentialist philosophically, methodologically, and politically. The restorative method is to discuss consequences of injustices and to acknowledge them appropriately as a starting point toward healing the hurts of injustice and transforming the conditions that allowed injustice to flourish. Politically, if citizens can see that there are consequences for offenders in taking responsibility for dealing with all of this, they may see less need for punishment because 'something needs to be done' and punishment seems the natural thing to do with crime. Notwithstanding this consequentialism, many of the limits that retributivists regard as central are also found to be important standards of restorative justice.[11] Court has to take into consideration all aspects including social interest and consciousness of society for award of appropriate sentence.[12]

International Standards

In general, UN Human Rights instruments give quite good guidance on the foundational values and rights restorative justice processes ought to observe. The first clause of the Preamble of the Universal Declaration that most states have ratified is: Whereas recognition of the inherent dignity and of the equal and inalienable rights of all members of the human family is the foundation of freedom, justice and peace in the world.

In its 30 Articles the Universal Declaration defines a considerable number of slightly more specific values and rights that seem to cover many of the things to restore and protect in restorative justice processes. These include a right to protection from having one's property arbitrarily taken (Article 17), a right to life, liberty and security of the person (Article 3), a right to health and medical care (Article 25) and a right to democratic participation (Article 21). From the restorative justice advocate's point of view, the most interesting Article is 5: 'No one shall be subjected to torture or to cruel, inhuman or degrading treatment or punishment.' Of course, all states have interpreted Article 5 in a most permissive and unsatisfactory way from a restorative justice point of view. The challenge for restorative justice advocates is to take the tiny anti-punitive space this Article creates in global human rights discourse and expand its meaning over time so that it increasingly acquires a more restorative interpretation. We can already move to slightly more specific and transformative aspirations within human rights discourse by moving from the Universal Declaration of 1948 to the less widely ratified International Covenant on Economic, Social and Cultural Rights of 1976 and the International Covenant on Civil and Political Rights of 1966. The former, for example, involves a deeper commitment to 'self-determination' and allows in a commitment to emotional wellbeing under the limited rubric of a right to mental health. The Second Optional Protocol of the Covenant on Civil and Political Rights, 1989 includes a commitment of parties to abolish the death penalty, something most restorative justice advocates would regard as an essential specific commitment. Equally most restorative justice advocates would agree with all the values and rights in the United Nations Declaration on the Elimination of Violence Against Women of 1993, the United Nations Standard Minimum Rules for Non-Custodial Measures of 1990 (the Tokyo Rules) and the Declaration of Basic Principles of Justice for Victims of Crime and Abuse of Power adopted by the General Assembly in 1985.

Standards of restorative justice

Three types of restorative justice standards are articulated: limiting or constraining, maximizing, and enabling standards. They are developed as multidimensional criteria for evaluating restorative justice programmes. A way of summarizing the long list of standards is that they define ways of securing the republican freedom (dominion) of citizens through repair, transformation, empowerment with others and limiting the exercise of power over others.[13]

Constraining standards

- Non-domination
- Empowerment
- Honouring legally specific upper limits on sanctions

- Respectful listening
- Equal concern for all stakeholders
- Accountability, appealability
- Respect for the fundamental human rights specified in the Universal Declaration of Human Rights, the International Covenant on Economic, Social and Cultural Rights, the International Covenant on Civil and Political Rights and its Second Optional Protocol, the United Nations Declaration on the Elimination of Violence Against Women and the Declaration of Basic Principles of Justice for Victims of Crime and Abuse of Power.

Maximizing standards

- Restoration of human dignity
- Restoration of property loss
- Restoration of safety/injury/health
- Restoration of damaged human relationships
- Restoration of communities
- Restoration of the environment
- Emotional restoration
- Restoration of freedom
- Restoration of compassion or caring
- Restoration of peace
- Restoration of a sense of duty as a citizen
- Provision of social support to develop human capabilities to the full
- Prevention of future injustice.

Emergent standards

- Remorse over injustice
- Apology
- Censure of the act
- Forgiveness of the person
- Mercy.

As a list of specific restorative values, the maximizing standards list is unsatisfactorily incomplete. The above list of emergent standards is nowhere to be found as values in UN documents. The list of emergent standards differs from the earlier list of maximizing standards in a conceptually important way. It is not that the emergent values are less important than the maximizing values. Many restorative justice advocates are inclined to agree that there is no future without forgiveness.

It is submitted that the constraining list are standards that must be honoured and enforced as constraints; the maximizing list are standards restorative justice advocates should actively encourage in restorative processes; the emergent list are values that should not urge participants to manifest-they are emergent properties of a successful restorative justice process.

Indian Judicial Trend

The case for restorative justice instead of formal criminal justice for gendered and sexualized violence usually starts with the failings of the latter. Low prosecution rates; low conviction rates; the 'revictimization' of women during the proceedings, are common complaints. It is widely held that criminal justice fails in these cases because of problems of evidence (most cases occur in private, so there are no witnesses), and because victims are often apprehensive of the consequences of prosecution. If the offender is acquitted or is not given a custodial sentence, they fear more violence, aggravated by the perpetrator's anger at being prosecuted; if he is convicted and imprisoned, there is the family break-up with all the emotional and financial consequences that entails. Victims may want the offender punished, but in many more cases they simply want the behaviour to stop. This is often even more so with child victims, especially if the abuser is their father, children tend to love their parents come what may, and want the behaviour to stop rather than their father imprisoned; children may be afraid of the consequences of breaking up the family, mothers may collude because of fear of the father or fear of the children being taken into institutional care. In cases of rape or other serious sexual assault there are enormous difficulties with evidence; with the high standard of proof required of interro gations into the victim's sexual behaviour, and so on. Very few feminists indeed would argue for leaving things as they are, but whether restorative justice offers better hope of protection and redress for women and children remains an open question.

The provision for payment of compensation has been in existence for a considerable period of time on the statute book in this country. Even so, criminal courts have not, it appears, taken significant note of the said provision or exercised the power vested in them thereunder. The Law Commission in its 42nd Report at para 3.17 refers to this regrettable omission in the following words:

We have a fairly comprehensive provision for payment of compensation to the injured party under Section 545 of the Code of Criminal Procedure. It is regrettable that our courts do not exercise their statutory powers under this Section as freely and liberally as could be desired. The Section has, no doubt, its limitations. Its application depends, in the first instance, on whether the Court considers a substantial fine proper punishment for the offence. In the most serious cases, the Court may think that a heavy fine in addi-

tion to imprisonment for a long term is not justifiable, especially when the public prosecutor ignores the plight of the victim of the offence and does not press for compensation on his behalf. In *Manish Jalan v. State of Karnataka*[14] even the Supreme Court felt that the provision regarding award of compensation to the victims of crimes had not been made use by the Courts as often as it ought to be. This Court observed that though a comprehensive provision enabling the Court to direct payment of compensation has been in existence all through but the experience has shown that the provision has really attracted the attention of the Courts. Time and again the Courts have been reminded that the provision is aimed at serving the social purpose and should be exercised liberally yet the results are not heartening.

There are some judgments of Supreme Court in which court has tried to invoke the concept of restorative justice. In *Hansa v. State of Punjab*[15] the accused had been convicted for an offence under Section 325 and sentenced to undergo one year rigorous imprisonment. The High Court had, however, given the accused the benefit of probation of offenders Act, and let him off on his giving a bond for good conduct for a year. The Supreme Court held that the power vested in the Court had been correctly exercised. In *Hari Singh v. Sukhbir Singh and Ors*[16] the court granted a similar benefit to a convict under Section 325 who had been sentenced to undergo two years rigorous imprisonment. The Court in addition invoked its power under Section 357 of the Code of Criminal Procedure to award compensation to the victim, and determined the amount payable having regard to the nature of the injury - inflicted and the paying capacity of the Appellant. This Court said that Sub-section (1) of Section 357 provides power to award compensation to victims of the offence out of the sentence of fine imposed on accused. In this case, we are not concerned with Sub-section (1). We are concerned only with Sub-section (3). It is an important provision but courts have seldom invoked it. Perhaps due to ignorance of the object of it. It empowers the court to award compensation to victims while passing judgment of conviction. In addition to conviction, the court may order the accused to pay some amount by way of compensation to victim who has suffered by the action of accused. It may be noted that this power of courts to award compensation is not ancillary to other sentences but it is in addition thereto. This power was intended to do something to reassure the victim that he or she is not forgotten in the criminal justice system. It is a measure of responding appropriately to crime as well of reconciling the victim with the offender. It is, to some extent, a constructive approach to crimes. It is indeed a step forward in our criminal justice system. We, therefore, recommend to all courts to exercise this power liberally so as to meet the ends of justice in a better way.

In *Roy Fernandes V. State of Goa and Ors*[17] A.K. Ganguly and T.S. Thakur, JJ opined that The power U/S 357 Cr.Pc would be exercised by Courts having regard to nature of injury or loss suffered by victim as also paying capacity of Accused. They further directed that the Appellant shall deposit a sum of Rs. 3,00,000/- towards compensation to be paid to the widow of the deceased, failing her to his surviving legal heirs.

Conclusion

The court has awarded exemplary compensation in number of cases but still there is enormous inconsistency towards restoration of victims through compensation. Sometimes the accused are not capable to pay that much amount or sometimes victims own societal and economic condition affects the amount of compensation. It seems that unless some uniform approach is adopted towards restoration of victims, it will only be a paper discussion. Time has come to think over some feasible solutions, if at all we wish to depend upon over restorative justice.

Very often it is argued that restorative justice can achieve a better balance between those aims than formal justice tends to do. Potentially, restorative justice offers the possibility of moving beyond the retribution or incapacitation, offender rehabilitation or public protection dichotomies. It also offers the possibility of moving beyond the victim-offender 'zero sum', that what is good for victims must be bad for offenders, and vice versa . One of the reasons restorative justice gathers modest support in reformist politics is that many can identify with a commitment to combating oppressive state structures of inhumane reliance on prisons. It also involves empowering citizens with responsibility for matters that over the past few centuries came to be viewed as state responsibilities.

References

1. Retributive, deterrent, preventive and reformative theories have been evolved in the due course of time to justify the quantum of punishment in a particular criminal justice system.
2. Michael Wenzel, Tyler G. Okimoto, Norman T. Feather and Michael J. Platow, Retributive and Restorative Justice, Law and Human Behavior,Vol. 32, No. 5 (Oct., 2008), pp. 375-389: Springer
3. Braithwaite, J. (1998). Restorative justice. In M. Tonry (Ed.), The handbook of crime and punishment (pp. 323-344). Oxford: Oxford University Press. Braithwaite, J. 2002). Restorative justice and responsive regulation. New York: Oxford University Press.
4. Alister Anthony Pareira v. State of Maharashtra MANU/SC/0015/2012, AIR 2012 SC 3802,
5. State of Uttar Pradesh v. Sanjay Kumar MANU/SC/0693/2012, (2012) 8 SCC 537
6. Rattan Singh v. State of Punjab, MANU/SC/0226/1979, (1979) 4

SCC 719, Krishna Iyer J.,

7. State of Gujarat v. Hon'ble High Court of Gujarat, MANU/SC/0632/1998, (1998) 7 SCC 392, See also, Andrew Ashworth, The Oxford Handbook of Criminology, Restorative and Reparative Theories are not theories of punishment, rather, aimed at restoring the harm done and calculated accordingly. Restorative theories are therefore victim-centred, although in some versions they encompass the notion of reparation to the community for the effects of crime. They envisage less resort to custody, with onerous community-based sanctions requiring offenders to work in order to compensate victims and also contemplating support and counselling for offenders to reintegrate them into the community. Such theories therefore tend to act on a behavioural premise similar to rehabilitation, but their political premise is that compensation for victims should be recognized as more important than notions of just punishment on behalf of the State.
8. Maru Ram v. Union of India, MANU/SC/0159/1980, (1981) 1 SCC 107,
9. Dayal Singh v. State of Uttaranchal, MANU/SC/0622/2012, (2012) 8 SCC 263,
10. Satya Prakash v. State MANU/DE/3921/2013
11. John Braithwaite "Setting Standards For Restorative Justice" The British Journal of Criminology, Vol. 42, No. 3 (SUMMER 2002), pp. 563-577, See also, Tutu, D. (1999), NoFuture Without Forgiveness. London: Rider.
12. Ajai Hussain V. State MANU/DE/4859/2013
13. Supra note 9 at 563
14. MANU/SC/7819/2008 : (2008) 8 SCC 225,
15. MANU/SC/0091/1977 : 1977 (3) SCC 575
16. MANU/SC/0183/1988 : 1988 (4) SCC 551.
17. MANU/SC/0072/2012
18. Zimring, F. (2001), 'Imprisonment Rates and the New Politics of Criminal Punishment', Punishment and Society, 3/1: 161-6. Cited in Barbara Hudson, "Restorative Justice And Gendered Violence: Diversion Or Effective Justice?" The British Journal of Criminology, Vol. 42, No. 3 (SUMMER 2002), pp. 616-634

●

A STUDY OF GOLD WORKING IN ANCIENT INDIA : AN OVERVIEW

*DR. NIDHI PANDEY**

Gold had always been highly prized and considered to be the most precious metal. Gold has allured the ancient and modern people for its colour, luster and resistance to corrosion. The first grains of this metal fell into human hands several thousand years ago and almost immediately came to be considered precious. Being a heavy metal having a density of 19.3 it is usually found in its native variety and occurs in gold bearing quartz veins. Its glittering yellow colour, simplicity of treatment in obtaining it and high ductility makes it easy to shape into small ornaments and may be hammered into sheets of less than 0.0025 mm without melting and annealing. This must have encouraged man to utilize it at an early stage of human civilization. Of the metals, gold being a rare commodity has always stood for weather and power. Gold also occurs as composite deposit, thus requiring that some ingenuity be used in isolating it. In placer deposits, gold often forms a natural alloy with varying amounts of silver. As an ore, gold occurs in quartz veins in combination with lead, copper and sometimes zinc. Gold has been reported from Harappan sites as well as Neolithic-Chalcolithic levels in Deccan. The present paper seeks to throw light on gold working techniques prevalent in ancient India as revealed in literary as well as archaeological sources.

Gold in Ancient Indian Literary

The ancient Indian literature, right from the earliest time is replete with reference to gold. We find many terms and frequent references of gold in Rigveda. The terms used for gold are Jatarupa, Suvarna, Harita and Hiranya etc. The use of the word hiranya is quite frequent while the other synonyms have been used rather sparingly. Hiranya occurs 174 times in the Rigveda. The term is used mostly as an adjective to qualify various things such as golden hair, golden chariots, golden house, golden ornaments etc. (Nanda, R., 1992). There are similar references in AtharvaVeda also. It occurs 91 times there and is mostly used as adjectives, for example hiranya Kasipu meaning a golden cushion or seat or clothing (V. 7. 10), hiranya tvachas - having a golden skin (XXII.2.8), hiranyanemi- having a golden fellies or wheel (XVII. 4.89) hiranya sraj meaning a garland or ring or chain of gold (X.6.4) etc. Suvarna (XV, 1.2) and harita (V.28.5.9, XI 3.8) are the other terms denoting gold in the Atharva Veda. We find a number of verses in the Atharva-Veda to substantiate this (IV 10.01:7, XIX, 26.1, 2, 3) (Nanda, op. cit.).

Vajasaneyi Samhita, Dharamsutras, Mahabharata and Ramayan have mentioned variety of uses of gold. Greeks and Romans give account of Indian gold too. Gold objects have been recovered from excavations of different cultures as will be examined below. Before we discuss the techniques of gold working, it may be apt to take a look at occurrence of gold in India.

Ores and Mining of Gold

Gold occurs in two forms either as placer metal viz. alluvial or detritus gold or in the form of quartz vein or reefs. It is found as placer metal in the auriferous sands and gravels of a large number of rivers which pass over auriferous rocks. Gold panning from sands of the rivers was in vague in Madhaya Pradesh, Maharastra and Bihar (especially in the region of Singhbhum and Manbhum district, in the valley of Suvarnarekha). Though it is well known, that major part of gold produced in India- comes from the Kolar mines and Hutti gold field, both being in Karnataka, small gold deposits (both lode deposit and placer) are reported from Andhara Pradesh, Assam, Bihar, Chhattisgarh, Gujarat, Himachal Pradesh, Jammu & Kashmir, Jharkhand, Karnatka, Kerala, Madhya Pradesh, Maharashtra, Meghalaya, Orissa, Punjab, Rajasthan, Sikkim, Tamil Nadu, Uttranchal, Uttar Pradesh and West Bengal. Several of these widely distributed occurrences were exploited in the antiquity. Gold deposits can be broadly classified as lode deposits and placer deposits. Gold deposit in India has all along been associated with Sugriva land, consisting of the continental nucleus in Mysore which is composed by the most ancient rocks in India. The gold occurs at Kolar, Hutti, Wainad in Mysore and Ramagiri in district Anantpur, Andhra Pradesh. The area is surrounded by peninsular gneisses intersected by basic by basic dykes.

Types of Ores

Gold is generally closely associated with sulphurous compounds of nonferrous metals and the related minerals

* Assistant Professor, Department of AIHC & Archaeology, Banaras Hindu University, Varanasi.

or the products of their oxidation. Such companions of gold include chalcopyrite, sphalertie, galenite, arsenopyrite, pyrite antimonite and limonite (Kitaisky, nd : 120).

Antimonite - Usually occurs as columnar and acicular crystals or as radiated not infrequently felted, aggregates in quartz. It is soft and brittle, lead-grey in colour and has a metallic luster (Antimony galena).

Limonite - Accumulation of this mineral over sulphide bodies in the "iron hats" may be of great interest because they sometimes contain large quantities of gold (Brown iron ore).

Quartz - Is the chief mineral associated with gold and most frequently gold occurs in quartz veins, visible gold is often found in yellow-brown quartz together with ochreous inclusions.

Chalcopyrite - Is a brass yellow, has a metallic lustre and is of low hardness. It can be readily scratched with the point of a knife. Its streak is greenish grey.

Sphalerite - Occurs in association with galenite. Its colour is brown to black, sometimes yellow green or red and colourless sphalerite are also found.

Arsenopyrite - It is silver white to steel grey. It has a metallic lustre and is brittle, of medium hardness and cannot be scratched with a knife. When it is struck with a hammer it emits a garlicky odour by which it can be identified.

It may be said at the very outset that deposits of various metal ores in India were easily available right on the surface. In most of the cases little excavation was required in the ancient times as attested by ethnographic evidence. However, there are a few regions which yield mines indicating mining of ore. It is observed that even without prior knowledge of the properties of different ores the ancient or traditional workers had a good understanding of ores and their suitability to specific tool types. Local availability must have been the most important consideration in ore selection but a careful sorting of the required type of ore ensured the desirable result in the end product.

Extraction of Gold- In lode mining gold is extracted from the veins of igneous rocks while in placer mining it is recovered from gravel and sands, accumulated generally by water erosion. In ancient India both the above mentioned deposits were tapped.

Method of Mining

Open cast mining was generally restricted to surface outcrops. With the help of pick axe. Trenches were made with stairs on the sides. Ores were dug out and taken out of the trench as filed in cane baskets. Traces of numerous surfaces and near surface workings are visible in a number of ancient mines.

Shaft Mining - Traces of early mining are visible along the strike of ridges for at least a few kilometre at Kolar. These include major excavations forming the top of stopes, shafts for ventilation, access and haulage routes leading vertically down to intersect the inclined stopes. It may be presumed that once the metal and its veins were found, the miners followed these to greater depths in several cases as would be shown below.

Mining of native gold and silver in different part of India have been practiced since Pre-Harappan period. Bose (1968) describes ancient mining practices in some details. He emphasizes that early mining was handicapped due to non-availability of better mining tools and ancient miners limited themselves to surface alluvial deposits or shallow deposits occurring at the surface. Munn (1936) has also described the contrivances used to extract gold from the reefs in great details from the south Indian sources. Iron gauges, crucible, stone crushers and wind lashers appear to be the main equipment used during the ancient period as indicated by their presence in several ancient mines.

At present only a few 14^C dates of early mining activities are available. At Dariba the date goes back to 360 B.C. (Agarwal, 1975) and the dates of Hutti gold mining goes back to the Christian era - 1890-70 and 1810 70 BP (Allchin, 1962 : 284-85) 14C dates from Kolar gold mines are still later i.e. 5 century A.D. (Agrawal, 1975-76 : 138-39). Allchin in his notes on Mysore gold mines has given extensive evidence of the old working. Notwithstanding these dates, he rightly concluded that gold mining was current during Neolithic period datable to the end of third millennium B.C.

14^C Dates of Mysore Gold Working are given below: (Agrawal, 1975-76)

S. No.	Site	Sample No.	Location	14C in B.P. based on 5730 yrs.
1.	Kolar	TF II 99	Superficial excavation	1290 90
2.	Kolar	TF 879	Champion reef 50 m depth	1500 115
3.	Hutti	S. No. 1	Oakleys shaft 80 m depth	1945 70
4.	Hutti	S.No. 2	- do -	1865 70

The 14^C dates in above table show that Kolar gold fields were being exploited from the fifth century A.D. The Hutti mining activity goes back to the beginning of the Christian era. It will be interesting to explore and date other shafts to locate the Neolithic mining activity and to determine if gold was being exported from the Neolithic sites to Harappans. These dates indicate early antiquity of the Kolar Gold field. The metallurgical processes involved in metal extraction are being discussed below.

Metallurgy

Gold mined from quartz veins had to be obtained by crushing the ore into fine powder, which was washed and gold particles were separated. Alluvial gold was obtained by agitating with water in pans, cradles and sluices and earthy matter was faceted off and gold particles were retained. Gold particles separated from either source were fused into small ingots in clay crucibles over charcoal fire for which a temperature of 10630C was necessary. Metallurgy of gold in India was possibly developed during the Harappan period. Although the use of native gold was known from the early culture of the Ganga plain. For a meaningful metallurgical exercise, early workers of metals had to be familiar with four minimum essentials viz.

i) Ore beneficiation

The metallic nuggets and pieces were carried outside the mine, where they were crushed in large stone mortars and hand querns to the size of pea, and then ground to fine powder, Gold particles were separated by crushing and sifting the ore by making use of high density of gold. The pulverized ore was swirled with water in open pans and gangue material was poured off by gradual inclination of the pan, without disturbing the gold particles at the bottom.

The alluvial deposit, the sand and gravel are agitated with water in pans, the rocky matter is floated off and gold particles are collected at the bottom, alternatively, the alluvial sand was passed through agitating cradles or sluices provided with obstruction to retain gold. In this process lighter sand is washed away and gold particles are retained.

Reef gold was extracted by open cast, method. The method used for mining appears to have been fire setting where rock faces were heated and then cracked by throwing water on them.

ii) Fuel

Wood was the main source of energy and a popular fuel material easily available in plenty around the ancient settlements and the mines.

iii) Air blast

Air blast with the help of bellows was essentially used for smelting of ores. It is indispensable where high temperature is required over a particular spot of metal for smelting. A blow pipe is imminent for this purpose and is still used by gold smiths today.

iv) Tools

Such tools are recovered from Chhotanagpur, Jashpur and Assam. The ethnic societies have used this type of tools for metallurgical process till recently. A number of chisels, axes, adzes, saws etc. of different shaped and sizes were recovered from the Harappan sites. A few fragments of crucibles made of clay mixed sand in metals still attached were also recovered with sand with in metals still attached were also recovered. Panning of gold was prevalent around Assam. They used elementary tools in panning as given below-

Phara- It is shallow wooden gold washing dish.

Dhuin- Used in separating the larger gravel preliminary to washing in the 'Phara'.

Kari- A peculiarly shaped wooden vessel used in pouring water in the dhuin.

Kori - A small flat tapering wooden stick, used in scraping the gravels in the 'dhuin'.

Kahur- A very shallow wooden tray resembling a 'Phara'.

Nizar- A very small wooden tray is used for keeping the gold before its final separation.

Akhur- It is a long iron hook, with a wooden, handle. It is used for scraping the gravels from the sides of an exposure.

Korne- It is small flattened iron hook; it is used in scraping the surface material.

Method of Separation

In several areas one comes across mixed ores of gold and silver known as electrum. Methods seem to have been devised to separate the two precious metals. The method of separation of silver from gold has been described by scholars, (Prakash, 1997). Separation method used in antiquity was either by :

1) Salt process or 2) Sulphur Process

Salt process

In this process the metal (Electrum) is heated in a crucible with requisite amount of salt (NaCl) and organic matter like charcoal. Salt attacks silver and converts silver into silver chloride, silver chloride is absorbed by the walls of the crucible and gold is left in crucible. In a way this is a combination of cupellation and cementation by salt process. This process is described by Theophilus and Agricola and Agatharchides mentioned by Forbes (1964, VIII). Variation of this process seems to have been used in antiquity all over the old world.

Sulphur process

This method of separation consists of heating electrum with Sulphur/Sulphides and charcoal. By this process, silver is converted into black sulphide of silver and regulus of gold is left behind. This method is described by Theophilus, Biringuccio and Agricola as mentioned by Forbes (1971, VIII).

Flux

Flux is added to the smelting charge to facilitate the separation of metal from the unwanted non metallic sub-

stance in the ore that is gangue. This also helps in reduction of melting or smelting temperature. Gold and silver in purest forms do not oxidize during heating. Because of the copper and other contents in them, there appears a thin layer of grayish and somewhat light reddish colour on the surface of metals, when they are heated. This layer is called an oxide scale.

Gold has been melted in a crucible and refined by the addition of flux like borax and mixture of ammonium chloride. Borax and ammonium nitrate are used in the ratio 6:1:3 since gold occurs in metallic state. After mining, gold is simply melted and fused into small ingots in clay crucible over charcoal fire and finally cast into requisite shapes.

Gold Smithy

In ancient India variety of techniques gold objects had been in vogue as indicated by archaeological investigations. The Harappans prepare alloy of copper and silver with gold and could solder gold by applying inferior molten metal. The tools of gold smith usually consisted of short stout, chisel, small saw, copper knife, and copper borer, copper drills for making holes copper tube for blowing fire and hammer stones to make thin sheets out of ingots. These types of tools are recovered from the various excavation sites. Pots containing metal were put in the fire-pits which were ignited and fed with charcoal. The gold smith might have been employing the same process of melting gold pieces as they do today. After the metallurgical process, the metal must have been hammered into sheets and later cut into desired shapes by means of chisels and stone hammer for making jewellery. The gold smith used to make hollow-pieces of ornaments like bangles of thin sheets of gold wire first bent into tubes and then were given shape. The gold smiths were required to bore holes with the help of drills and attach them with other pieces. All such complex process was used by the ancient craftsman. The Harappan gold smith knew how to mould thin sheets of gold. They could draw wire, prepare alloy of copper and silver with gold and could solder gold by applying inferior molten metal.

The gold objects have been recovered from the archaeological sites like Vaisali, Bhita, Pataliputra, Hastinapura, Atranjikhera etc. Therefore, it is through their study that one can get insight in gold working as the techniques remain more or less the same for centuries. Gold ornaments were made both by casting and hammering. The art of drawing gold wire, soldering the metal and making both hollow and solid gold ornaments was known. Even rolling and wire drawing was known to the ancient craftsman. Gold coins were either made by die casting in clay moulds or the technique of punch- marked coin and the quality of the metal was judged with the help of "Touch Stone". Touch stones have a hoary antiquity in India. There are references to them in literature - Buddhist as well as Brahmanical. Excavations of sites like Khairadih (dist. Ballia, U.P.) have yielded specimens with number of test marks on the touch stones.

Annealing

Gold and silver becomes hard by hammering or by drawing it often to make a wire out of it. In case the process is continued without re-heating the metal, it is likely to break. To prevent metals from becoming brittle, re-heating is done. This process of softening is called annealing. After annealing metals becomes ductile and easier to work on. While annealing a metal sheet or wire of any gauge, goldsmiths heat them to a dull red in the soft flame of charcoal. While annealing, a keen eye is needed so that the metal does not melt again. The air is supplied through blow pipes so that the metal is evenly heated. With deft training the gold smith manages to keep a balanced flow of the blast. The metal is removed from the forge after it has been evenly annealed. Heated metals are either left to cool or dipped in water, if the work is to be taken up soon after. Once the metal is annealed it could be worked any time. There are no chances of its breaking or cracking. After thirty to forty gentle strokes, re-annealing becomes necessary to avoid cracks, splits or stresses. In case of drawing wires, the metal is drawn from draw plates for about ten to fifteen times at each annealing. For this procedure the judgment and experience of gold smith counts very much.

Amalgamation

The process of amalgamation is used to separate gold particle from coarsely ground material. Before the development of the cyanide extraction processes, the only alternative was simple gravity separation. It may still be applied today to gravity concentrates by mixing them with mercury in barrels which are rotated to assist the formation of mercury gold amalgam. This is then separated from excess mercury and barren residues to spongy gold silver alloy.

Making of Gold Foil, Sheet and Designing

No measurement of the thickness of the gold foil is reported but it is likely to be in the range 0.1 mm to 0.01mm as per visual perception. Quite likely there was a certain amount of specialization in the gold smith craft like "Gold beater". Gold being extremely malleable, a small square piece would have been covered with some skin kept on an anvil and beaten with some sort of hammer. Gold sheets for repousse work or making ornament could have been made without the skin cover.

The annealed metals are shaped and designed step by step according to the requirement of the ornaments. The ornaments are made either from a sheet, wire, pellet or all of them together. For designing a number of implements are required for carving various depressions. Metal and wooden moulds are required to give shape to the sheet. For

large depressions bossing hammers and mallets are used. Engravings are done with pointed chisels, scrapers and scribes and for embossing a number of iron and bronze dies are prepared by the goldsmiths.

Soldering and Joining

Gold smiths might from the ancient days specialized in soldering work. After shaping different pieces of an ornament, these are deftly joined together. When soldering is done a specially prepared metal is placed in between the joints and is evenly heated. Compared to the metal to be joined, the solder has lower melting points so that is a fuse at the melting point and blends both the pieces and forms a firm joint.

Embossing

It is an art of raising designs on ornaments in relief from the reverse side. The design is first drawn with a tracer; which transfers the essential part of the drawing to the back of the plate. The plate is then embedded face down in to the asphalt block and the portions to be raised are hammered. Then the plate is removed and re-embedded with the face uppermost. The hammering is once again continued and series of this process is done (hammering and re-embedding) followed finally by chasing, after which the metal gains its final finished appearance.

It is clear from the aforesaid that gold was being used by man in the ancient India from the Harappan period. Techniques of purification extraction and separation of gold were well known. Various methods of smithy of gold have been testified. Nevertheless the gold objects found from excavations are quite small in number. However, a close looks at the literary tradition manifests not only allurement of gold but its frequent references suggest a widespread usage or at least one of the objects desired by man from an early age. This must have encouraged man to utilize it at an early stage of human civilization.

References

1. Agarwal, D.P. 1975-76. Ancient gold working some new 14C dates, Puratattva, no. 8, pp. 138-139
2. Allchin, F.R. 1962. Upon the antiquity and methods of gold mining in ancient India, Journal of the Economic and Social History of the Orient, pp. 195-211.
3. Bose, H.K. 1968. Mining in ancient India, Transactions of Mining Geology and Metallurgical Institute of India, Vol. 65, No. 1, pp. 83-89.
4. Farbes, R.J. 1964. Studies in ancient technology, Vol. III Leiden, Netherlands.
5. Gaur, R.C. 1983. Excavations at Atranjikhera, Munshiram Manoharlal, Delhi.
6. Kitaisky, Y.D. and N.D. Prospecting for Minerals, Foreign Language Publishing House, Moscow.
7. Lal, B.B., 1954-55. Excavations at Hastinapur and other exploraitons in Ganga Stlej Basin, Ancient India, No. 10-11, p. 5-151, ASI, New Delhi.
8. Lal, B.B., 1993. Excavations at Sringaverapur (1977-86), Vol. I, New Delhi.
9. Marshall, J., 1931. Mohenjodaro and Indus Valley civilization, Vol. II, 1931, p. 675.
10. Mishra Anup and U.P. Arora, 2005-06. Excavation at Abhaipur, district Pilibhit, Uttar Pradesh Pradesh, Puratattav, No. 36, p. 76-84.
11. Munn, L., 1936. Observations and notes on the methods of ancient gold mining in Southern India. Jour. Min. Geol. Inst. Ind., Vol. 30.
12. Nanda Rajni, 1992. The early history of gold in India, Munshiram Manoharlal Pub. Pvt. Ltd., New Delhi, p. 168-169.
13. Prakash, B., 1997. Metals and Metallurgy, History of Science and Technology (A.K. Bag, ed.) Vol. I, INSA, New Delhi.
14. Sahi, M.D.N. Aspects of Indian Archaeology, p. 150.
15. Sharma, D.V., K.K. Mauriyal and V.N. Prabhakar, 2005-06. Excavation at Sanauli - A Harappan Necroplis in the upper Ganga-Yamuna Doab, Puratattav, No. 36, p. 173-174.
16. Sharma, G.R., 1968. Excavation at Kausambi, 1957-59, Allahabd.
17. Singh, B.P., 1990. Excavations at Khairadih, J.B.P.P., Vols. IX and X, p. 78-86.
18. Sinha, B.P. and Narain, L.A. 1970. Patliputra Excavations (1955-56), Patna.
19. Sinha, B.P. and Roy, S.R. 1969. Vaishali Excavation 1958-62, Patna.

TECHNOLOGICAL PEDAGOGICAL CONTENT KNOWLEDGE (TPACK): A FRAMEWORK FOR TEACHER KNOWLEDGE

*MRS. SANGEETA CHAUHAN**

The growth of TPACK by teachers is critical to effective teaching with technology. The paper begins with a brief introduction to the multifarious, ill structured nature of teaching. The nature of technologies (both analog and digital) is considered, as well as how the inclusion of technology in pedagogy further complicates teaching. The TPACK framework for teacher knowledge is described in detail, as a complex relation among three bodies of knowledge: Content, pedagogy, and technology. The interaction of these bodies of knowledge, both theoretically and in practice, produces the types of flexible knowledge needed to successfully integrate technology use into teaching. As educators know, teaching is a convoluted process that requires an interweaving of many kinds of specialized knowledge. In this way, teaching is an example of an ill- structured discipline, requiring teachers to apply complex knowledge structures across different cases and contexts (Mishra, 1996). Teachers practice their skill in highly complex, dynamic classroom contexts that require them constantly to shift and progress their understanding. Thus, effective teaching depends on flexible access to rich, well-organized and integrated knowledge from different domains (Glaser, 1984; Shulman, 1986, 1987), including knowledge of student thinking and learning, knowledge of subject matter, and increasingly, knowledge of technology.

Teaching with Technology

Teaching with technology is very thorny process further considering the challenges newer technologies present to teachers. In our work, the word technology applies equally to analog and digital, as well as new and old, technologies. As a subject of practical significance, however, most of the technologies under consideration in current literature are newer and digital and have some innate properties that make applying them in uncomplicated ways difficult.

Particular technologies have their own propensities, potentials, affordances, and constraints that make them more suitable for certain tasks than others (Bromley, 1998; Bruce, 1993; Koehler & Mishra, 2008). Using email to communicate, for example, affords asynchronous communication and easy storage of exchanges. Email does not afford synchronous communication in the way that a phone call, a face-to-face conversation, or instant messaging does. Nor does email afford the conveyance of subtleties of tone, intent, or mood possible with face-to-face communication. Understanding how these affordances and constraints of specific technologies influence what teachers do in their classrooms is not easy and may require rethinking teacher education and teacher professional development.

Social and contextual factors also complicate the relationships between teaching and technology. Social and institutional contexts are often unsupportive of teachers' efforts to integrate technology use into their work. Teachers often have poor experience with using digital technologies for teaching and learning. Many teachers earned degrees at a time when educational technology was at a very different stage of development than it is today. It is, thus, not surprising that they do not consider themselves sufficiently prepared to use technology in the classroom and often do not appreciate its value or relevance to teaching and learning. Acquiring a new knowledge base and skill set can be challenging, particularly if it is a time-intensive activity that must fit into a busy schedule. Moreover, this knowledge is unlikely to be used unless teachers can conceive of technology uses that are consistent with their existing pedagogical beliefs (Ertmer, 2005). Furthermore, teachers have often been provided with inadequate training for this task. Many approaches to teachers' professional development offer a one size-fits-all approach to technology integration when, in fact, teachers operate in diverse contexts of teaching and learning.

Teaching with Technology Integration

An approach is required that treats teaching as an in-

* Assistant Professor, Department of Education, Sampurnanand Sanskrit University, Varanasi

teraction between what teachers know and how they apply what they know in the unique circumstances or contexts within their classrooms. There is no "one best way" to integrate technology into curriculum. Rather, integration efforts should be creatively designed or structured for particular subject matter ideas in specific classroom contexts. Honoring the idea that teaching with technology is a complex, ill-structured task; we propose that understanding approaches to successful technology integration requires educators to develop new ways of comprehending and accommodating this complexity.

There are three core components of good teaching with technology: content, pedagogy, and technology, plus the relationships among and between them. The interactions among the three components, playing out differently across diverse contexts, account for the wide variations seen in the extent and quality of educational technology integration. These three knowledge bases (content, pedagogy, and technology) form the core of the technology, pedagogy, and content knowledge (TPACK) framework. An overview of the framework is provided in the following section, though more detailed descriptions may be found elsewhere (e.g., Koehler & Mishra 2008; Mishra & Koehler, 2006). This perspective is consistent with that of other researchers and approaches that have attempted to extend Shulman's idea of pedagogical content knowledge (PCK) to include educational technology.

The TPACK Framework

The TPACK framework argues that effective technology integration for teaching specific content or subject matter requires understanding and negotiating the relationships between these three components: Technology, Pedagogy, and Content. Equally important to the model are the interactions between and among these bodies of knowledge, represented as PCK, TCK (technological content knowledge), TPK (technological pedagogical knowledge), and TPACK. A teacher capable of negotiating these relationships represents a form of expertise different from and (perhaps) broader than, the knowledge of a disciplinary expert (say a scientist or a musician or sociologist), a technology expert (a computer engineer) or an expert at teaching/pedagogy (an experienced educator).The TPACK framework highlights complex relationships that exist between content, pedagogy and technology knowledge areas and may be a useful organizational structure for defining what it is that teachers need to know to integrate technology effectively.

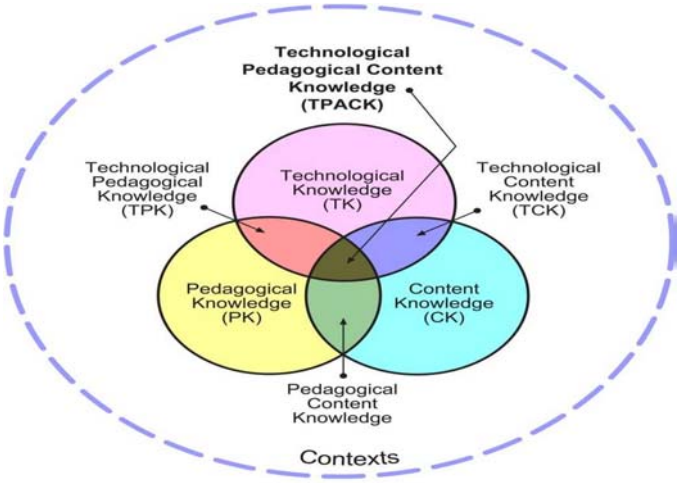

Source: - Lee Shulman's The TPACK framework and its knowledge (1986, 1987)

TPACK Knowledge Areas

TPACK consists of 7 different knowledge areas: (i) Content Knowledge (CK), (ii) Pedagogical Knowledge (PK), (iii) Technology Knowledge (TK), (iv) Pedagogical Content Knowledge (PCK), (v) Technological Content Knowledge (TCK), (vi) Technological Pedagogical Knowledge (TPK), and (vii) Technological Pedagogical Content Knowledge (TPCK). All of these knowledge areas are considered within a particular contextual framework.

(1) Technology Knowledge (TK)

Technology knowledge refers to an understanding of the way that technologies are used in a specific content domain. Within the context of technology integration in schools, it appears to most often refer to digital technologies such as laptops, the Internet, and software applications. TK does however go beyond digital literacy to having knowledge of how to change the purpose of existing technologies (e. g. Wikis) so that they can be used in a technology improved.

(2) Content Knowledge (CK)

Content knowledge may be defined as "a thorough grounding in college- level subject matter" or "command of the subject" (American Council on Education, 1999). It may also include knowledge of concepts, theories, and conceptual frameworks as well as knowledge about accepted ways of developing knowledge (Shulman, 1986).

(3) Pedagogical Knowledge (PK)

Pedagogical knowledge includes generic knowledge about how students learn, teaching approaches, methods of assessment and knowledge of different theories about learning (Shulman, 1986). This knowledge alone is necessary but insufficient for teaching purposes. In addition a teacher requires content knowledge.

(4) Pedagogical Content Knowledge (PCK)

Pedagogical content knowledge is knowledge about how to combine pedagogy and content effectively (shulman, 1986). This is knowledge about how to make a subject understandable to learners.

(5) Technological Content Knowledge (TCK)

Technological content knowledge refers to knowledge about how technology may be used to provide new ways of teaching content.

(6) Technological Pedagogical Knowledge (TPK)

Technological pedagogical knowledge refers to the affordances and constraints of technology as an enabler of different teaching approaches (Mishra & Koehler, 2006).

(7) Technological Pedagogical Content Knowledge (TPCK)

Technological pedagogical content knowledge refers to the knowledge and understanding of the interplay between CK, PK and TK when using technology for teaching and learning. It includes an understanding of the complexity of relationships between students, teachers, content, practices and technologies.

Use of the TPACK framework

The TPACK framework is becoming increasingly popular as an organizing frame for the development of educational technology professional development programs for teachers. The use of TPACK in this way has created a need to be able to measure teacher TPACK. Research in this field is currently ongoing as it is proving to be difficult to define the boundaries of the different TPACK knowledge areas.

TPACK framework does not necessarily mean that new technologies must be introduced, but instead relating creative ideas to using the technologies already available to educators. Each component: Technology, Pedagogy, and Content must all be within a given contextual framework.

Implications of the TPACK Framework

We have argued that teaching is a complex, ill-structured domain. Underlying this complexity, however, are three key components of teacher knowledge: understanding of content, understanding of teaching, and understanding of technology. The complexity of technology integration comes from an appreciation of the rich connections of knowledge among these three components and the complex ways in which these are applied in multifaceted and dynamic classroom contexts.

Since the late 1960's a strand of educational research has aimed at understanding and explaining "how and why the observable activities of teachers' professional lives take on the forms and functions they do" (Clark & Petersen, 1986, p. 255; Jackson, 1968). A primary goal of this research is to understand the relationships between two key domains: (a) teacher thought processes and knowledge and (b) teachers' actions and their observable effects. The current work on the TPACK framework seeks to extend this tradition of research and scholarship by bringing technology integration into the kinds of knowledge that teachers need to consider when teaching. The TPACK framework seeks to assist the development of better techniques for discovering and describing how technology-related professional knowledge is implemented and instantiated in practice. By better describing the types of knowledge teachers need (in the form of content, pedagogy, technology, contexts and their interactions), educators are in a better position to understand the variance in levels of technology integration occurring.

In addition, the TPACK framework offers several possibilities for promoting research in teacher education, teacher professional development, and teachers' use of technology. It offers options for looking at a complex phenomenon like technology integration in ways that are now amenable to analysis and development. Moreover, it allows teachers, researchers, and teacher educators to move beyond oversimplified approaches that treat technology as an "add-on" instead to focus again, and in a more ecological way, upon the connections among technology, content, and pedagogy as they play out in classroom contexts.

Conclusion

The TPACK framework suggests that content, pedagogy, technology, and teaching/learning contexts have roles to play individually and together. Complexity is an everyday part of teaching and the ubiquitous nature of digital technologies only adds to the complexity that teachers face. In addition, the TPACK framework offers several possibilities for promoting research in teacher education, teacher professional development, and teachers' use of technology. It offers options for looking at a complex phenomenon like technology integration in ways that are now amenable to analysis and development. The TPACK framework describes how effective teaching with technology is possible by pointing out the free and open interplay between technology, pedagogy and content. TPACK provides teachers and teacher educators with a framework that guides them to achieve meaningful and authentic integration of technology into the classroom.

References

1. Bromley, H. (1998). Introduction: Data-driven Democracy? Social Assessment of Educational Computing. In H. Bromley & M. Apple (Eds.), Education, Technology, Power Albany, NY: SUNY Press, Pp. 1-28.
2. Bruce, B. C. (1993). Innovation and social change. In B. C. Bruce, J.

K. Peyton, & T. Batson (Eds.), Network-based Classrooms Cambridge, UK: Cambridge University Press, (pp. 9-32).

3. Bruce, B. C. (1997). Literacy Technologies: What Stance Should We Take? Journal of Literacy Research, 29(2), Pp. 289-309.
4. Bruce, B. C. & Hogan, M. C. (1998). The Disappearance of Technology: Toward an Ecological Model of Literacy. In D. Rein king, M. McKenna, L. Labbo, & R. Kieffer (Eds.), Handbook of Literacy and Technology: Transformations in a Post-Typographic World Pp. 269-281. Hillsdale, NJ: Erlbaum.
5. Clark, C. M. & Peterson, P. (1986). Teachers' Thought Processes. In M. C. Witt rock (Ed.), Handbook of Research on teaching (3rd ed.), Pp. 255-296. New York: Macmillan.
6. Ertmer, P. A. (2005). Teacher Pedagogical Beliefs: The Final Frontier in Our Quest for Technology Integration. Educational Technology, Research and Development, 53(4). P. 2539.
7. Glaser. R. (1984). Education and Thinking: The Role of Knowledge. American Psychology, 39(2), Pp. 93-104.
8. Jackson, P. W. (1968). Life in the Classroom. New York: Holt, Rinehart and Winston Pp. 42-68.
9. Koehler, M.J., & Mishra, P. (2008). Introducing TPCK. AACTE Committee on Innovation and Technology (Ed.), the Handbook of Technological Pedagogical Content Knowledge (TPCK) for Educators (pp. 3-29). Mahwah, NJ: Lawrence Erlbaum Associates.
10. Mishra, P., Spiro, R.J., & Feltovich, P.J. (1996). Technology, representation, and cognition: The prefiguring of knowledge in cognitive flexibility hypertexts. In H. van Oostendorp & A. de Mul (Eds.), Cognitive aspects of electronic text processing Pp. 287-305. Norwood, NJ: Ablex.
11. Mishra, P., & Koehler, M.J. (2006). Technological pedagogical content knowledge: A framework for integrating technology in teacher knowledge. Teachers College Record, 108(6), Pp. 1017-1054.
12. Peruski, L., & Mishra, P. (2004). Webs of Activity in Online Course Design and Teaching. ALT-J: Research in Learning Technology, 12(1), Pp. 37-49.
13. Shulman, L. (1986). Those Who Understand: Knowledge Growth in Teaching. Educational Researcher, 15(2), Pp. 4-14.
14. Shulman, L. S. (1987). Knowledge and Teaching: Foundations of the New Reform. Harvard Educational Review, 57(1), Pp. 1-22.

●

ONLINE EDUCATION : A TECHNOLOGICAL BOON

VISHAKHA SHUKLA

The World has now entered into an information age and the developments in communication, information processing and transmission and technologies have opened up new avenues in higher education so as to meet the demands of information explosion, fast changing nature of education and occupation. Unimaginable advances in knowledge and its applications have made significant changes in the objectives, contents and methods of our higher education system. The most important development in this context is internet particularly the World Wide Web. Internet is considered a technological, social and cultural phenomenon that has brought out fundamental changes in handling the information that is useful for education and research.

Online education is an attempt to impart education with complete freedom and creating interest in learning process through presenting lectures in the form of multimedia using information and communication technologies. It makes students more comfortable and also provides a scientific way to learn the advanced concepts. The distinctive feature of online education is 'learner orientation and not teacher orientation'. Students can get everything they want without going to the schools. Online education techniques involve delivering the study material over internet. In this case students need not go to the conventional classroom to learn. It involves distance learning over internet or education imparted using computer network.

Thus online education can simply be defined as "teaching and learning mediated by a remote computer system connected to the learner's personal computer located at a distant venue through tele-communication line.

Web based learning is online learning or education; it can supplement or replace traditional distance education opportunities which have been provided in the past through postal correspondence, printed material and television.

The important benefits of online education are:

* Performance driven benefits- including elements such as student/ instructor satisfaction, learning outcomes, and return on investment.

* Value driven benefits- include increased access, flexibility and ease of use.

* Societal or value added benefits- include aspects such as reduced traffic to campus and the potential for new markets.

Educational Crisis

The problems and issues in the education system that contributed to the 'educational crisis' in education was best cited in 'coomb (1985) and Simmons (1980). The issues and problems are:

Inefficiency in educational system: there is increase in educational expenditure on per student not accompanied by a comparable improvement in the quality of education. The problem increases further by an increasing gap between the cost of education and the resources available, brought about by either an overall reduction in the amount of resources available for government.

Mismatch in demand and supply: there is mismatch in demand and supply in terms of, labour market demands skilled and well educated personnel while the expectations of parents, students and employers and what is taught in schools colleges and universities is totally different.

Growing disparity in education: there is growing disparity in education as well as employment opportunities. Rapid expansion of education in 70s and 80s has hardly resulted in either a more equal distribution of education attendance by geographical, sex and socio-economic groups or an improved distribution of income.

Lack of sufficient knowledge or 'information gap': it is one of the serious issue for educational planners in India. Information gap arises from two main causes. The first is the ignorance of educational planners and researchers about the so-called 'black box' in the educational process. The second cause is the uncertainty as regards the future behaviour of pupils. Parents and employers which ultimately determines the success or failure of an educational programme.

Tele Communication in Indian education system: telecommunication refers to the exchange of messages over distance between a sender and receiver. The merger of tele-communication facilities with large scale computers was found accelerated in the 1980s with rapid growth of micro computers and communication software. The reduction in

* Assistant Professor, Department of Education, Sampurnanand Sanskrit University, Varanasi

cost, increased number of telecommunication units, and case of operation brought telecom with computers within the reach of virtually every branch of education and to many individual teachers and students.

Challenges to planners and academicians

These days educational institutes, colleges and universities are expected to contribute to the knowledge creation and distribution through research and engaging themselves in communication around them. These aspects require skilled and qualified workforce who are capable of using such tools.

When the use of ICT will enhance, areas like bank office operation, business process outsourcing, personal and human resource management, departmental business are those areas which require good knowledge of information technology enabled services.

For quality research leading to knowledge creation, knowledge of informatics, (geo-informatics, chemo-informatics, bio-informatics, medical informatics etc.) will be necessary in future. It is necessary to introduce such courses at graduate and under-graduate level.

The planners in this way get the opportunity to make use of information and accordingly plan for requirement of teachers as per their qualifications and grades for teacher training while administrators use IT for calculating the amount of subsidies required to pay salaries.

Deconcentration and decentralization of planning takes place as district planners and administrators are in a better position to understand how schools and colleges are performing, how plans are being implemented, and to appreciate the educational needs and aspirations of parents, students and employers, the desirability of deconcentrating the planning process is self evident.

The rapid advances in knowledge and techniques tend to make the work force of modern organization obsolescent and there is a great need of retraining and skill improvement.

Other challenges include

Correspondence is the most critical activity in any education system, and the number of circulars, notices documents and letters on paper form the key to the success of any media of education. Whereas online education does not provide for such means of communications.

Online education does not provide for discussions, sharing of ideas and knowledge that we normally do in traditional way of education.

It does not provide for exchange of ideas, opinions and comments, which are essential part of student teacher interaction.

On line education does not provide for higher education facilities. Also it does not facilitate face to face interaction between learners and instructors as being done in off line education. Newspapers, journals, books and magazines form the integral part of any means of education. There is apprehension on the same in online education.

Library services form the most integral part of any education. There is a popular feeling that such facilities are not feasible in online education.

Suggestions

The desire to excel communication more comfortable than in the paper era, is the essence of networking. People have always wanted to correspond with each other in the fastest possible way. E-mail is the most basic form of communication on the Internet and by far the most popular one used in education and research. It is very fast, confidential and instils a sense of connectedness. The message is received within a few seconds irrespective of the distance between them. Documents can also be attached to e-mail messages.

Newsgroups are popular online education programmes which facilitate for free exchange of ideas, opinions and comments. The newsgroups does not fill ones mail box. But it requires added work of having to load an additional programme to interrogate the groups. There are hundreds of thousands of newsgroups covering an enormous range of subjects.

In online education 'internet conferencing' is a great leveller, which provides for not only higher education but also opportunity to interact between the learned and the learners as well among the learners. These programmes require both the users be connected to the internet simultaneously. It enables two people to work on the same project from different locations simultaneously. Each uses other contributions and if it is connected with a telephone programme they can also discuss with each other.

The internet and the world wide web unlocked the long recognized potential of e-publishing wherein everything in the form of books, newspapers, journals etc. can be converted into e-documents that blend traditional print formats with interactive multimedia technologies.

The explosion of information and the popularity of internet and commercial search engine have required the librarians to look afresh at their profession. Traditional information research tools and resources found in the libraries have been recently supplemented by the information available on the internet.

Interplay of technological developments and socioeconomic changes which have had a great impact on the commercial sector, have already begun to change the process of teaching and learning. The emergence of internet and

the WWW as a medium of communication and information dissemination in education is unbeatable since it provides information with greater speed and economy with no limits of tie and boundary. It has revolutionised the whole concept of education and research by providing new opportunities and challenges in creation and dissemination of information by way of e-mail, e-journal etc. thereby removing the economic, cultural, social and political barriers. The challenges today are to ensure that the framework within which they are deployed is adequate for the achievement of educational objectives.

Weaknesses of online education

***Equity and Accessibility to Technology**

Before any online program can hope to succeed, it must have students who are able to access the online learning environment. Lack of access whether it be for economical or logistics reasons will exclude otherwise eligible students from the course. This is a significant issue in rural and lower socioeconomic neighbourhoods. Furthermore, speaking from an administrative point of view, if students cannot afford the technology the institution employs, they are lost as customers. As far as Internet accessibility is concerned, it is not universal, and in some areas of the country, Internet access poses a significant cost to the user. Some users pay a fixed monthly rate for their Internet connection, while others are charged for the time they spend online. If the participants' time online is limited by the amount of Internet access they can afford, then instruction and participation in the online program will not be equitable for all students in the course. This is a limitation of online programs that rely on Internet access.

***Computer knowledge**

As far as students and faculty are concerned both of them must possess a minimum level of computer knowledge in order to function successfully in an online environment. For example, they must be able to use a variety of search engines and be comfortable navigating on the World Wide Web, as well as be familiar with Newsgroups, and email. If they do not possess these technology tools, they will not succeed in an online program; a student or faculty member who cannot function on the system will drag the entire program down.

***Limitations of Technology**

User friendly and reliable technology is critical to a successful online program. However, even the most sophisticated technology is not 100% reliable. Unfortunately, it is not a question of if the equipment used in an online program will fail, but when. When everything is running smoothly, technology is intended to be low profile and is used as a tool in the learning process. However, breakdowns can occur at any point along the system, for example, the server which hosts the program could crash and cut all participants off from the class; a participant may access the class through a networked computer which could go down; individual PCs can have numerous problems which could limit students' access; finally, the Internet connection could fail, or the institution hosting the connection could become bogged down with users and either slow down, or fail all together. In situations like these, the technology is neither seamless nor reliable and it can detract from the learning experience.

***The Students**

While an online method of education can be a highly effective alternative medium of education for the mature, self-disciplined student, it is an inappropriate learning environment for more dependent learners. Online asynchronous education gives students control over their learning experience, and allows for flexibility of study schedules for non traditional students; however, this places a greater responsibility on the student. In order to successfully participate in an online program, student must be well organized, self-motivated, and possess a high degree of time management skills in order to keep up with the pace of the course. For these reasons, online education is not appropriate for younger students (i.e. elementary or secondary school age), and other students who are dependent learners and have difficulty assuming responsibilities required by the online paradigm.

***The Facilitator**

Lack of Essential Online Qualities

Successful on-ground instruction does not always translate to successful online instruction. If facilitators are not properly trained in online delivery and methodologies, the success of the online program will be compromised. An instructor must be able to communicate well in writing and in the language in which the course is offered. An online program will be weakened if its facilitators are not adequately prepared to function in the Virtual Classroom.

An online instructor must be able to compensate for lack of physical presence by creating a supportive environment in the Virtual Classroom where all students feel comfortable participating and especially where students know that their instructor is accessible. Failure to do this can alienate the class both from each other and from the instructor. However, even if a virtual professor is competent enough to create a comfortable virtual environment in which the class can operate, still the lack of physical presence at an institution can be a limitation for an online program. For the faculty as well as the participants, such things as being left out of meetings and other events that require on-site interaction could present a limiting factor in an online program.

***The Administration and Faculty**

Some environments are disruptive to the successful implementation of an online program. Administrators and/

or faculty members who are uncomfortable with change and working with technology or feel that online programs cannot offer quality education often inhibit the process of implementation. These people represent a considerable weakness in an online program because they can inhibit its success.

Sometimes administration cannot see beyond the bottom line and look at online programs only as ways to increase revenues and are thus not committed to seeing online programs as a means of providing quality education to people who would otherwise not be able to access it. In such a case, an institution that is not aware of the importance of proper facilitator training, essential facilitator characteristics, and limitations of class size would not understand the impact that these elements can have on the success of an online program.

***The Online Environment**

Levels of Synergy

Online learning has its most promising potential in the high synergy represented by active dialog among the participants, one of the most important sources of learning in a Virtual Classroom. However, in larger classes (20 or more students), the synergy level starts to shift on the learning continuum until it eventually becomes independent study to accommodate the large class. At this point, dialog is limited as well as interaction among participants and the facilitator. The medium is not being used to its greatest potential.

What Should Not Be Taught Online

In the excitement and enthusiasm for online programs that has been generated recently, it is important to recognize that some subjects should not be taught online because the electronic medium in its current state of development does not permit the best method on instruction. Examples are hands-on subjects such as public speaking, surgery, dental hygiene, and sports where physical movement and practice contribute to the achievement of the learning objectives. These subjects are probably best taught in a face-to-face traditional learning environment. Hybrid courses may represent a temporary solution to this problem thus making that portion of the course more accessible to a greater number of people who would otherwise have difficulty getting to campus. However, solutions of that sort still underline the fact that online teaching cannot satisfy all educational needs and goals. Just because it may be technologically possible to simulate a physical learning experience, this does not necessarily mean that it is the best way to teach it.

***The Curriculum**

The curriculum of any online program must be carefully considered and developed in order to be successful. Many times, in an institution's haste to develop distance education programs, the importance of the curriculum and the need for qualified professionals to develop it is overlooked. Curriculum and teaching methodology that are successful in on-ground instruction will not always translate to a successful online program where learning and instructional paradigms are quite different. Online curriculum must reflect the use of dialog among students (in the form of written communication), and group interaction and participation. Traditional classroom lectures have no place in a successful online program. Education of the highest quality can and will occur in an online program provided that the curriculum has been developed or converted to meet the needs of the online medium.

Today is a very exciting time for technology and education. Online programs offer technology-based instructional environments that expand learning opportunities and can provide top quality education through a variety of formats and modalities. With the special needs of adult learners who need or want to continue their education, online programs offer a convenient solution to conflicts with work, family and study schedules. Institutions of higher education have found that online programs are essential in providing access to education for the populations they wish to serve. In order for an online program to be successful, the curriculum, the facilitator, the technology and the students must be carefully considered and balanced in order to take full advantage of the strengths of this format and at the same time, avoid pitfalls that could result from its weaknesses.

Thus online education has become a challenge to traditional universities. Despite the education crisis, efforts should be made to meet this challenge, and unless properly planned to meet this challenge the education system may meet the doom as predicted by the management guru Peter Drucker in 1999. Globalization and liberalization have led to new challenges to our academic institutions and programmes. Many programmes and courses of good institutions are available on internet. Such courses are usually more relevant to the current needs of learner. Learning from internet and World Wide Web cannot be just the any means of education but with the combined efforts of IT professionals and the traditional academicians can only be the key to success and this is the need of the hour.

References

1. Bajaj K. and Nag D. (2003). E-Commerce. New Delhi. Tata Mc Graw Hill Publishing Company.
2. Coombs P.H. (1985). The world Crisis in Education. New York. Oxford University Press.
3. Computer essentials 2001-2002: Maharashtra Knowledge Corporation. New Delhi. Tata Mc Graw Hill Publishing Company.
4. www.itu.int/asean2001/documents/pdf/Document25.pdf
5. www.unesco.org/bankok/education/ict/ict_enabling/ap_policy/thailand.htm

EFFECT OF HOUSEHOLD ENVIRONMENTAL HEALTH HAZARDS ON CHILDHOOD MORBIDITY IN EAG STATES AND ASSAM

KRISHNA KUMAR PANDEY[*] AND DR. HEMKHOTHANG LHUNGDIM[**]

Health status of children is an important component of overall health of any community and population. Childhood disease contributes substantially to overall morbidity and mortality. The problem is compounded by prevalence of malnutrition and living in poor household environmental health as observed in most developing countries. Environment can be divided into three components namely physical (water, air, housing, wastes etc.), biological (plants and animals life) and social (custom, culture, habits, occupation etc.). The term "environmental sanitation" has been defined by W.H.O. as "the control of all those factors in man's physical environment which exercise a deleterious effect on his physical development, health and survival". The term environmental sanitation is being replaced by environmental health. The purpose of environmental health is to create and maintain ecological condition that will promote health and thus prevent the disease.

Environmental risks to children vary from region to region. Children in many countries still face the major traditional environmental hazards, including unsafe water, lack of sanitation and contaminated food, injuries, indoor air pollution from use of solid fuel, outdoor air pollution and exposure to a myriad of toxic heavy metals, chemicals and hazardous wastes that may be brought home from the workplace. This study makes an attempt to examine health hazards within the household environment as they affect child health across EAG states and Assam in India.

Literature Review

Nutritional deficiencies, illnesses such as malaria, diarrhea, and acute respiratory infection (ARI), as well as vaccine-preventable diseases are also recognized as causes of under-five mortality in most countries in sub-Saharan Africa (Boerma and Bicego1, 1992; Caldwell2, 1979). Decline in under-five deaths in Africa has been slow, despite various approaches to improving child health (WHO3, 2005). Children in sub-Saharan Africa, as in other developing countries, are vulnerable to the health hazards from their household environment (Fayehun4, 2010). Although there are large variations across regions and countries in the developing world, mortality rates among children under age five in African countries are higher compared with other less developed societies. Environmental contamination (e.g. destruction of ecosystems, loss of biodiversity, climate change, and the effects of globalization) has contributed to an increasing number of health hazards (Gyimah and Fernando5, 2000), and all affect nutritional status. Studies have shown that sanitation, water supply, and hygiene are generally poor in developing countries; more than 1 billion people live without adequate shelter, about 1.4 billion people lack access to safe water, and over 2.9 billion people have no access to adequate sanitation (World Resources Institute6, 1999; Rutstein7, 2000).

Need for the Study

In India the household environmental risk factor is unequally distributed within and between states due to different socio-economic standards. The situation is particularly more vulnerable in poor states especially EAG states and Assam. These states are demographically large and poor in health status. Children in early years of life are often particularly more susceptible and may be more exposed than adults to many environmental risk factors. Children live in complex environment and variable environment where, it will be needed to understand how multiple media and pathways can interact to influence their exposure potential. Knowing the determinants affecting child health will help in proper preventive and curative care and many lives can be prevented by reducing child morbidity and mortality.

Objectives of the Study

The broad objective of the study is to understand the association between household environmental health hazard on childhood morbidity in India with reference to EAG states and Assam. However, the specific objectives have been framed as follows:

* Research Scholar, Department of Statistics, Banaras Hindu University, Varanasi

** Professor, Department of Public Halth and Mortality, IIPS, Mumbai

1. To examine the pattern and differential of Household Environmental Health Hazards in EAG states and Assam.

2. To examine the association between household environmental health hazard and childhood morbidity with demographic and socio-economic correlates in EAG states and Assam.

Methodology

Sources of Data

This comparative study examines secondary data from third round of National Family Health Survey8 (NFHS-III) conducted in 2005-2006 in India. The focus of this study is on how the differences in under-five morbidity can be explained by household environments. Therefore, Empowered Action Group (EAG) states and Assam is selected for the study which is based on two criteria that the theses are among the highest under-five mortality and fertility states in India and also the highly focused states. A total of 22,200 children were selected for the study.

Variable Measurement

The dependent variables for this study are under-five childhood morbidity. Childhood morbidities are measured by the occurrence of symptoms of diarrhea, fever, and acute respiratory infection (ARI) within two weeks preceding the survey. The household environmental variables include sources of drinking water, time to water source, types of toilet facilities, main flooring material of the household, and type of cooking fuel use in the household. The socioeconomic factor is measured with variables such as the mother's highest educational level, father's highest educational level, rural or urban residence, and household wealth index.

An index of the status of household environmental health hazards is derived from the responses on some household environmental factors. The household environmental health hazard variable is defined below.

i. Source of drinking water:

1. Improved source of drinking water (scored 1)
2. Unimproved source of drinking water (scored 0)

ii. Time to get to water source:

1. On premise or less than 30 minutes (scored 1)
2. 30 minutes and more (scored 0)

iii. Type of toilet facility:

1. Improved sanitation facility (scored 1)
2. Unimproved sanitation facility and no facility (scored 0)

iv. Main flooring material:

1. Finished flooring (scored 1)
2. Natural and rudimentary flooring (scored 0)

v. Type of cooking fuel:

1. Non-biomass fuel (scored 1)
2. Biomass fuel (scored 0)

The sum of the scores was further categorized into: no potential health hazard (NPHH) (scored 5=2), low potential health hazard (LPHH) (scored 3-4= 1) and high potential health hazard (HPHH) (scored 0-2 = 0). The analysis involved the use of descriptive statistics to examine the distribution of household environmental health hazards in each state. Percentage distribution tables were used to provide a general overview of the different socioeconomic and demographic variables, household environment, and health hazards categories after weighing the samples.

Results and Discussion

Household Environmental Health Hazards and Background Characteristics

There are significant associations between household environmental health hazards and background characteristics such as maternal education, paternal education, and rural or urban residence, as well as household wealth. Further measures of association for categorical rank variables-Spearman rank correlations-also shows the magnitude and direction of these relationships (Table 1). The significant positive relationship observed in this study among all the selected states implies that those living in urban areas are much less likely to have health hazards in their household environment. However, the pattern of household environmental health hazards differs among the selected states for both rural and urban areas. More than 9 in 10 children in urban Uttaranchal and Rajasthan live in households with non- or low health hazards however only 43% of the children in rural Uttaranchal live in low households with non- or low health hazards.

The household wealth index, categorized into highest, middle, and lowest, is another background characteristic examined in this study. For this study, there is a significant strong inverse relationship between being in households in the highest wealth index quintile and living in a poor environment, for all the selected states. In Rajasthan, Uttar Pradesh, Bihar, Assam, Jharkhand, Orissa Chhattisgarh and Madhya Pradesh over 90% of children living in households in the lowest wealth quintile are exposed to high household environmental health hazards. Almost 6 out of every 10 other caste children in Rajasthan, Uttar Pradesh and Chandigarh enjoying low or no potential health environment however more than 90 percent of tribal children in Uttar Pradesh, Jharkhand, Chhattisgarh, Orissa and Madhya Pradesh are expose to high potential health hazard environment. The Religion is categorised as Hindu, Muslim and others. It has been observed that Muslim children are more likely to subject to poor physical condition due to more exposed to high potential health hazard household environmental health hazards than their Hindu and other counterparts in Uttar

Pradesh, Bihar and Assam and Jharkhand. As expected, the parental working status is directly associated to the household environments in this study; in all the selected states, the children of working mothers are more exposed to the risk of high potential health hazard compared the children of non working mothers. More than 90% of children of working mothers live in households with high potential health hazards environment in Bihar, Jharkhand Orissa and Chhattisgarh.

Patterns of Childhood Morbidity by Household Environmental Health Hazards

This part discusses the prevalence of acute respiratory infection, fever, and diarrhoea among the children under-five by household environment. Mothers of the children born during the five years preceding the survey were asked if their children had suffered from cough, fever, or diarrhoea during the two weeks preceding the survey.

Table 2 shows the percentage of children under-five living in high and low or no potential health hazard environment, with symptoms of ARI, fever and diarrhea during the two weeks preceding the survey by the selected background characteristics. Results indicate that there are merely marginal differences in the prevalence of ARI by most of the background characteristics included in both health hazard environments. ARI is somewhat less prevalent among older children. Up to some extent ARI is less prevalent among older children in both the household health hazard environments. The prevalence of ARI is high among children in the age groups 6-11 months and low in age groups 48-59 months. The prevalence of ARI decreases steadily with increasing maternal education and higher wealth quintile in high potential health hazard environment.

Fever contributes to high level of malnutrition and mortality. Table 2 presents the percentage of children under five with fever during the two weeks preceding the survey. The prevalence of fever is high among children in the age groups 6-11 months and 12-23 months (20 and 23 percent) in high potential health hazard environment, (23 and 20 percent) in low potential health hazard environment. Likewise ARI, the prevalence of fever decreases steadily, as the children becomes older. The prevalence of fever decreases from 20 percent among children whose mother has no education to 15 percent among children whose mother has tertiary education in high potential health hazard environment. However, the prevalence of fever is little marginal in low potential health hazard environment.

Diarrhea is a state that involves the recurrent passing of loose or watery stools. Table 2 shows the percentage of children under age five with diarrhoea in the two weeks preceding the survey, by selected background characteristics. Among children 0-59 months, children 6-11 months (21.9 in HPHH and 19.6 in LPHH) are most susceptible to diarrhoea (as is in the case with ARI and fever as well) in both the health hazard environments.

Association between Household Environmental Health Hazard and Child Morbidity

Child health status (morbidity) can be affected through biological factors, demographic (sex, age etc), socio-economic (place of residence, religion, caste, parental education, wealth index etc.) and environmental factors (water, flooring material, toilet facility and cooking fuel).

Table 3 portrays that if the drinking water of a household is from an improved source, the risk of diarrhea significantly decreases by 28% in Bihar and Rajasthan, 26% in Orissa, 21% in Madhya Pradesh and 15% in Uttaranchal and Uttar Pradesh. Likewise, in the households with better accessibility to water on their residential premises, the risk of diarrhea significantly decreases by 22% in Uttaranchal and Jharkhand, 15% in Bihar and Assam both 28% for Chhattisgarh. Households that did not have access to water on their housing premises or nearer to the premises, it takes more time to go to the water source, get water, and return with the water.

Household with finished flooring material, shows the risk of childhood diarrhea significantly decreases by 27% in the Rajasthan, 45% in Uttar Pradesh, 25% in Jharkhand and 14% in the Orissa, compared with households where the flooring material is rudimentary or non-finished. Therefore a change in the household flooring material to finished floor such as polished wood, vinyl/ asphalt strips, ceramic tiles, cement and carpet can reduce the risk of childhood diarrhea significantly. In a household where non-biomass using as cooking fuel, the risk of childhood diarrhea significantly decreases (by 17% in Rajasthan, 16% in Uttar Pradesh, 21% in Bihar and 24% in Orissa) compared with households that use biomass fuel such as charcoal, firewood, and straw. Therefore, use of non-biomass cooking fuel, such as electricity, Liquefied Petroleum Gas (LPG), and kerosene, can reduce the risk of childhood diarrhea.

Children under age five in households with an unimproved toilet, such as open pit, bucket, hanging toilet, pit latrine without a slab, or with no facility are significantly more likely to have episodes of fever than others with an improved toilet facility. An unimproved toilet facility that is not always clean is a route for infection and germs that could affect young children. The risk of fever decreases by 11% in Rajasthan and 17% in Uttar Pradesh, 11% in Orissa and 19% in Madhya Pradesh. The type of toilet facility that member of a household use is strongly related to morbidity among young children. Poor households are more likely to have no toilet facility or to use unimproved facilities. In addition, the use of improved facilities reduces the risk of con-

Table : 1 Background characteristics and household environmental health hazards in EAG states and Assam, 2005-06

Background Characteristics	Uttaranchal		Rajasthan		Uttar Pradesh		Bihar		Assam	
	H PHH	L/N PHH	H PHH	L/N PHH	H PHH	L/N PHH	H PHH	L/N PHH	H PHH	L/N PHH
Maternal Highest Education										
No Education	62.5	37.5	74.4	25.6	87.7	12.3	73.6	26.4	92.2	7.8
Primary Education	53.4	46.6	62.1	37.9	68.1	31.9	73.5	26.5	78.7	21.3
Secondary Education	33.1	66.9	41.3	58.7	31.6	68.4	51.8	48.2	52.2	47.8
Higher Education	6.1	93.9	14.2	85.8	9.4	90.6	11.1	88.9	12.2	87.8
Spearman rank correlation	0.369**	0.417**	0.321**	0.496**	0.243**					
Paternal Highest Education										
No Education	61.5	38.5	80.1	19.9	73.5	26.5	91.1	8.9	81.0	19.0
Primary Education	60.2	39.8	70.3	29.7	68.9	31.1	87.2	12.8	68.1	31.9
Secondary Education	45.3	54.7	52.3	47.7	64.0	36.0	62.9	37.1	54.6	45.4
Higher Education	11.8	88.2	20.1	79.9	32.7	67.3	25.6	74.4	18.0	82.0
Spearman rank correlation	0.288**	0.342**	0.192**	0.411**	0.306**					
Place of Residence										
Urban	6.9	93.1	8.9	91.1	12.7	87.3	38.0	62.0	17.8	82.2
Rural	56.8	43.2	75.6	24.4	78.0	22.0	79.9	20.1	69.5	30.5
Spearman rank correlation	0.424**	0.554**	0.551**	0.304**	0.336**					
Wealth Index										
Low	89.1	10.9	93.4	6.6	91.7	8.3	96.8	3.2	87.1	12.9
Middle	71.0	29.0	50.1	49.9	54.6	45.4	56.8	43.2	38.1	61.9
High	11.4	88.6	19.0	81.0	11.9	88.1	9.7	90.3	7.5	92.5
Spearman rank correlation	0.699**	0.679**	0.690**	0.748**	0.659**					

** p<0.01; * p<0.05; HEHH: Household environmental health hazards;

N/LPHH: Non/Low Potential health hazards; HPHH: High Potential health hazards

(Cont'd)

Background Characteristics	Jharkhand		Orissa		Chhattisgarh		Madhya Pradesh	
	HPHH	L/N PHH	HPHH	L/N PHH	HPHH	L/N PHH	HPHH	L/N PHH
Maternal Highest Education								
No Education	91.5	8.5	96.3	3.7	89.3	10.7	81.5	18.5
Primary Education	76.9	23.1	83.5	16.5	76.2	23.8	70.1	29.9
Secondary Education	45.2	54.8	64.7	35.3	50.6	49.4	44.3	55.7
Higher Education	13.3	86.7	7.8	92.2	16	84.0	11.0	89.0
Spearman rank correlation	0.452**	0.485**	0.465**	0.413**				
Paternal Highest Education								
No Education	95.0	5.0	96.1	3.9	92.5	7.5	84.2	15.8
Primary Education	85.7	14.3	92.9	7.1	79.3	20.7	76.6	23.4
Secondary Education	73.0	27.0	76.9	23.1	70.3	29.7	62.7	37.3
Higher Education	34.9	65.1	41.2	58.8	27.4	72.6	28.1	71.9
Spearman rank correlation	0.385**	0.438**	0.363**	0.361**				
Place of Residence								
Urban	24.8	75.2	39.4	60.6	34.4	65.6	31.6	68.4
Rural	93.1	6.9	77.9	22.1	92.8	7.2	89.3	10.7
Spearman rank correlation	0.664**	0.296**	0.581**	0.567**				
Wealth Index								
Low	97.9	2.1	95.4	4.6	98.0	2.0	97.8	2.2
Middle	62.8	37.2	48.9	51.1	81.4	18.6	63.5	36.5
High	11.6	88.4	10.5	89.5	9.9	90.1	12.5	87.5
Spearman rank correlation	0.771**	0.747**	0.707**	0.768**				

** $p<0.01$; * $p<0.05$; HEHH: Household environmental health hazards; (Cont'd)

N/LPHH: Non/Low Potential health hazards; HPHH: High Potential health hazards

Background Characteristics	Uttaranchal		Rajasthan		Uttar Pradesh		Bihar		Assam	
	H PHH	L/N PHH	H PHH	L/N PHH	H PHH	L/N PHH	H PHH	L/N PHH	H PHH	L/N PHH
Caste										
Scheduled caste	54.6	45.4	62.1	37.9	80.7	19.3	90.5	9.5	65.2	34.8
Scheduled tribe	73.3	26.7	87.4	12.6	93.3	6.7	79.5	20.5	60.1	39.9
Other backward class	37.3	62.7	61.7	38.3	66.5	33.5	74.5	25.5	62.7	37.3
Others	41.3	58.7	39	61	37.9	62.1	62.1	37.9	59.7	40.3
Spearman rank correlation	0.11**	0.193**	0.309**	0.197**	0.052**					
Household's Religion										
Hindu	48.6	51.4	59.6	40.4	64.1	35.9	66.4	33.6	49.1	50.9
Muslim	18.2	81.8	58.6	41.4	72.9	27.1	71.4	28.6	75.3	24.7
Others	29.8	70.2	0	100	8.3	91.7	0	100	68.4	31.6
Spearman rank correlation	0.198**	0.041**	0.329**	.045**	0.24**					
Reapondent's Occupation										
Not Working	34.5	65.5	51.4	48.6	55.7	44.3	66.2	33.8	65.4	34.6
Working	60.9	39.1	70.6	29.4	84.5	15.5	91.1	8.9	58.9	41.1
Spearman rank correlation	-0.261**	-0.197**	-0.278**	-0.279**	0.057*					
Partner's Occupation										
Not Working	75	25	48.4	51.6	43.7	56.3	69.6	30.4	66.7	33.3
Working	44.7	55.3	62.1	37.9	64.7	35.3	75.3	24.7	63.8	36.2
Spearman rank correlation	0.086	-0.040*	-0.040**	-0.012**	0.005					

** $p<0.01$; * $p<0.05$; HEHH: Household environmental health hazards; (Cont'd)

N/LPHH: Non/Low Potential health hazards; HPHH: High Potential health hazards

Table 1 Cont'd

	Jharkhand		Orissa		Chhattisgarh		Madhya Pradesh	
Background Characteristics	**HPHH**	**L/N PHH**	**HPHH**	**L/N PHH**	**HPHH**	**L/N PHH**	**HPHH**	**L/N PHH**
Caste								
Scheduled caste	86.3	13.7	82.8	17.2	88.0	12.0	75.5	24.5
Scheduled tribe	94.0	6.0	94.7	5.3	94.0	6.0	96.2	3.8
Other backward class	79.4	20.6	65.8	34.2	81.0	19.0	77.7	23.3
Others	51.5	48.5	48.0	52.0	40.0	60.0	46.3	53.7
Spearman rank correlation	**0.321***		**0.364****		**0.303****		**0.302****	
Household's Religion								
Hindu	74.0	26.0	69.1	30.9	81.0	20.0	63.6	36.4
Muslim	64.1	35.9	42.9	57.1	28.0	72.0	25.5	74.5
Others	92.5	7.5	63.4	36.6	37.0	63.0	15.5	84.5
Spearman rank correlation	**0.058****		**0.051****		**0.266****		**0.258****	
Reapondent's Occupation								
Not Working	60.3	39.7	63.4	36.6	58.0	42.0	61.3	38.7
Working	95.1	4.9	90.9	9.1	92.9	7.1	89.1	10.9
Spearman rank correlation	**-0.435****		**-0.292****		**-0.416****		**-0.326****	
Partner's Occupation								
Not Working	57.1	42.9	69.2	30.8	67.0	33.0	34.3	65.7
Working	81.2	18.8	72.8	27.2	83.0	17.0	76.8	23.2
Spearman rank correlation	**-0.054**		**-0.007**		**-0.04**		**-0.099****	

** p<0.01; * p<0.05; HEHH: Household environmental health hazards; (Cont'd)

N/LPHH: Non/Low Potential health hazards; HPHH: High Potential health hazards

Table : 2 Prevalence of ARI, Fever and Diarrhea among children under-five according to household potential health hazard in EAG states and Assam by selected background characteristics, 2005-06

Background Characteristics	Percentage of children with ARI1		Percentage of children with fever		Percentage of children with Diarrhea	
	HPHH	L/NPHH	HPHH	L/NPHH	HPHH	L/NPHH
Age in months						
0-5	7	5.1	12.2	11.8	10.2	11.3
6-11	8.9	9.1	23.2	22.9	21.9	19.6
12-23	7.3	6.7	19.8	20.8	14.5	14.3
24-35	4.7	6.1	16.5	18.1	10.1	9
36-47	5.7	4.1	15	12.9	5.5	5.2
48-59	4.4	3.7	11.8	10.2	4.5	4.8
Residence						
Urban	5.8	4.6	15.7	14.7	9.6	9.5
Rural	6.1	5.5	17.2	17.3	12.1	10.1
Mother's education						
No Education	7.0	5.2	19.6	17.5	9.3	9.4
Primary Education	6.4	6.1	16.7	14.7	11.8	11.1
Secondary Education	6.8	6.8	17.2	15.6	10.6	10.1
Higher Education	4.8	4.8	15.3	14.2	10.2	8.5
Religion						
Hindu	5.1	5.1	14.8	14.4	9.3	9
Muslim	8.4	7.9	20.9	21.3	11.7	12.3
Others	5.7	4.3	22	13.2	16.5	7.1
Caste						
Scheduled caste	5.7	5.3	17.1	13.4	9.4	9.9
Scheduled tribe	3.9	3.5	12.9	14	9	8.5
Other backward class	6.1	5.4	15.4	16.6	10.2	10.3
Other	7.3	6.7	17.4	16.8	9.7	9.3
Wealth Index						
Low	7.3	5.4	16.8	15.7	7.1	9.7
Middle	7.2	6	17.8	16.2	11.2	10.6
High	5.2	5.8	15.3	16	9.7	8.5

1 Symptoms of ARI (cough accompanied by short, rapid breathing which was chest-related) are considered a proxy for pneumonia.

HPHH: High Potential Health Hazards, L/NPHH: Low or no Potential Health Hazards

Table : 3 Odds ratio of childhood morbidity by household environmental factors in the Uttaranchal, Rajasthan and Uttar Pradesh, 2005-06

Background Characteristics	Uttaranchal			Rajasthan			Uttar Pradesh		
	Diarrhea	Fever	ARI	Diarrhea	Fever	ARI	Diarrhea	Fever	ARI
Source of drinking water -									
Unimproved Source ®									
Improved source	0.851*	0.599	0.906*	0.833**	0.824**	0.931**	0.855**	0.698**	0.812**
Time to get water source -									
30 minutes and more®									
On premises/less than 30 min	0.779*	0.893*	0.832**	0.967**	0.779**	0.619**	0.949**	0.858**	0.935**
Toilet facility -									
Unimproved toilet facility®									
Improved toilet facility	0.655	0.749	0.726	1.718	0.891**	1.359	1.042	0.833*	1.313*
Flooring material -									
Natural and rudimentary®									
Finished flooring	1.145	1.221	0.93	0.737*	0.942	1.071	1.052	0.645**	0.824*
Type of cooking fuel -									
Biomass fuel ®									
Non-biomass fuel	0.986	1.094	1.133	0.832*	0.816	0.894	0.843**	0.890**	0.928
Disposal of child's feces -									
Unsanitary disposal®									
Sanitary disposal	0.821	0.626	0.918	0.825	0.903	0.94	0.873	0.882*	1.297

®Reference Category (Cont'd)

*** p<0.01; ** p<0.05; *<0.1

Table 3 Cont'd

Background Characteristics	Bihar			Assam			Jharkhand		
	Diarrhea	Fever	ARI	Diarrhea	Fever	ARI	Diarrhea	Fever	ARI
Source of drinking water -									
Unimproved Source ®									
Improved source	0.721**	0.882**	0.955**	0.825*	0.794	0.839	0.725**	0.782**	0.845**
Time to get water source -									
30 minutes and more®									
On premises/less than 30 min	0.852**	0.891**	0.751**	0.841**	0.799**	0.876**	0.782**	0.672**	0.808**
Toilet facility -									
Unimproved toilet facility®									
Improved toilet facility	0.724*	0.875	0.961	0.939	0.703	0.703*	0.847	1.122	1.567
Flooring material -									
Natural and rudimentary®									
Finished flooring	1.057	0.838	0.705	0.868	1.656	1.176	0.756*	0.828	0.766
Type of cooking fuel -									
Biomass fuel ®									
Non-biomass fuel	1.355	0.789***	1.319	1.41	0.583	1.513	1.304	1.316	0.91
Disposal of child's feces -									
Unsanitary disposal®									
Sanitary disposal	1.74	0.809**	0.975	0.51	0.983	0.807	0.859*	0.863*	0.806**

®Reference Category (Cont'd)

*** p<0.01; ** p<0.05; *<0.1

Table 3 Cont'd

Background Characteristics	Orissa			Chhattisgarh			Madhya Pradesh		
	Diarrhea	Fever	ARI	Diarrhea	Fever	ARI	Diarrhea	Fever	ARI
Source of drinking water -									
Unimproved Source ®									
Improved source	0.748**	0.700**	0.918**	0.824**	0.742**	0.898**	0.794**	0.855**	0.885**
Time to get water source -									
30 minutes and more®									
On premises/less than 30 min	0.894**	0.867**	0.860**	0.724**	0.862**	0.686**	0.833**	0.703**	0.797**
Toilet facility -									
Unimproved toilet facility®									
Improved toilet facility	1.346	0.894*	1.567	1.324	1.602	1.567	1.097	0.817*	1.432
Flooring material -									
Natural and rudimentary®									
Finished flooring	0.865**	0.794*	0.766	0.822	0.999	0.766*	1.185	0.815**	0.765**
Type of cooking fuel -									
Biomass fuel ®									
Non-biomass fuel	0.938	0.767**	0.91	1.608	1.371	0.91	1.447	0.978	0.984
Disposal of child's feces -									
Unsanitary disposal®									
Sanitary disposal	1.287	0.683	0.706**	0.782	0.922	0.863*	1.673	0.865	0.866

®Reference Category

*** p<0.01; ** p<0.05; *<0.1

tracting ARI, fever and diarrhoeal diseases. The childhood fever decreases significantly if the household using sanitary disposal of children fecate, the risk is decreases by 18% in Uttar Pradesh, 19% in Bihar and 14% in Jharkhand. Similarly the risk of prevalence of diarrhea and ARI significantly decreases in Jharkhand and Orissa.

Discussion

Inequality exists in the household environment of children in all the nine selected states under study. The children living in EAG states and Assam are relatively at a disadvantage of basic household environmental variables that effect hygiene and sanitation. There are significant associations between household environment and background characteristics indicated as maternal education, paternal education, and place of residence, wealth index, religion and caste etc. A substantial proportion of households in the selected states have unimproved sources of drinking water, lack basic sanitary facilities, and use more biomass fuel for cooking except Uttaranchal. A marginal difference is observed in the prevalence of ARI, fever and diarrhea for both the health hazard environment by the selected characteristics. The prevalence of the selected three morbidities (i.e. ARI, Fever, and Diarrhea) is high among children in the age group 6-11 months and low in age group 48-59 months. Household that uses unprocessed bio-fuels for cooking exposes young children at high risk of ARI. Likewise, type of toilet facility and flooring material are also important household environment risk factors that can significantly reduce the risk of diarrhea in Rajasthan, Jharkhand, Bihar and Orissa.

References

1. Boerma, J.T. and G.T. Bicego. 1992. Preceding Birth Intervals and Child Survival: Searching for Pathways of Influence. Studies in Family Planning 23(4): 243-256.
2. Caldwell, J.C. 1979. Education as a Factor in Mortality Decline: An Examination of Nigerian Data. Population Studies 33(3): 395-414.
3. World Health Organization (WHO). 2005. World Health Report: Make Every Mother and Child Count. Geneva: The World Health Organization.
4. Fayehun, Olufunke A. 2010. Household Environmental Health Hazards and Child Survival in Sub-Saharan Africa. DHS Working Papers No. 74. Calverton, Maryland, USA: ICF Macro.
5. Gyimah, S.O. and R. Fernando. 2002. The Effects of Infant Deaths on the Risk of Subsequent Birth: A Comparative Analysis of DHS from Ghana and Kenya. Social Biology 49: 44-57.
6. WRI (World Resources Institute). 1999. World Resources (1998-99): Environmental Change and Human Health. New York: Oxford University Press.
7. Rutstein, S.O. 2000. Factors Associated With Trends in Infant and Child Mortality in Developing Countries during the 1990s. Bulletin of the World Health Organization 78:1256-1270.
8. IIPS and Macro International (2005-06). National Family Health Survey-3, Ministry of Health and Family Welfare, Government of India, New Delhi.

●

POSITIVE THINKING - THE MASTER KEY TO SUCCESS

PAWAS KUMAR[*] *AND DR. O. P. RAI*[**]

Thinking is an integral process of human brain. Willingly or unwillingly, knowingly or unknowingly, one goes on thinking. The thinking process is so deep that when one is in sleep, the brain continues to think. So just think how the human brain is so lustful of thinking! In fact when the brain stops thinking, a person no longer remains alive. 'Thinking' means considering anything. It is a process of giving thought to something. It refers to dwelling on or pondering over an issue. It is a state of mind when a person either goes back in the past or dreams of the future events. It is a system of brain wherein pieces of information flow continuously in the mind of a person. It is a stage when a person's brain is not in a think-less state. It is an indicator of aliveness-it indicates that a person is alive.

Thinking can be of two types-positive thinking and negative thinking. Positive thinking means looking at the brighter side of an event whereas negative thinking means concentrating at a darker side of situation. For example, if a half-glass water is kept on the table the positive thinker will think that the glass is half filled up with water. On the contrary, the negative thinker will think that the glass is half empty of water. Positive thinking means adopting an optimistic approach whereas negative thing means going by a pessimistic approach. A positive thinker thinks that nothing is impossible whereas a negative thinker perceives that everything is impossible. Positive thinking means finding favorable aspects of failures wherein negative thinking means tracing out unfavorable aspects of success. Positive thinking means seeing a ray of future light even in the darkest night whereas negative thinking means visualizing the darkest night in future even in the brightest day. In brief, positive thinking is a boon whereas negative thinking is a bane in normal situations

The Positive & the Negative Thinkers

In our society we may easily find people who are unhappy with their life, people considering themselves a big failure or people who are very dissatisfied with their present state of affairs etc., but in the same society we have people who are the exact opposite and they are satisfied and happy with everything they have with them. Same job may be a source of pleasure for some people but at the same time may be a source of pain for some other persons. So the question is what makes people happy or unhappy with their life. There are a number of reasons for feelings of satisfaction or dissatisfaction but one thing which is common in both the cases is the individual shades of thinking pattern. We can increase or decrease the level of suffering by being aware of our thoughts pattern. Some of the important common features of positive and negative thinkers are listed below[1]-

Positive Thinkers

* Positive thinkers try hard to bring happiness for others.
* Positive thinkers are pleasure giving persons.
* Positive thinkers make efforts to find solution to every problem.
* Positive thinkers are of constructive nature.
* Positive thinkers are enthusiastic.
* Positive thinkers believe in praising others[2].
* Positive thinkers are willing to help others.
* Positive thinkers motivate others to do better in life.
* Positive thinkers like to behave in adult ego state[3].
* Positive thinkers like to adopt "I am OK, you are OK" approach.

Negative Thinkers

* Negative thinkers work hard for creating troubles for others.
* Negative thinkers are pain giving persons.
* Negative thinkers attempt to trace out a problem in every solution.
* Negative thinkers are of destructive nature.
* Negative thinkers are non-enthusiastic.
* Negative thinkers believe in criticizing others[4].

* Assistant Professor in Commerce, Rajiv Gandhi South Campus, B. H. U
** Professor, Faculty of Commerce, Banaras Hindu University, Varanasi

* Negative thinkers believe in torturing everyone.
* Negative thinkers create panic in others.
* Negative thinkers like to behave in parent ego state[5].
* Negative thinkers like to adopt "I am OK, you are OK" approach.

Significance of Positive Thinking

Thoughts create situations far more powerfully than situations create thoughts. So, when one thinks positively, he creates positive energy in him which also affects his surroundings in a positive way which ultimately facilitates to get positive results. On the other hand if a person thinks negatively, he generates negative energy in him which makes him uneasy adversely affecting his performance with all possibilities of getting negative results. In order to experience the importance of positive thinking, you can do one experiment. When you are in normal mood, measure your blood pressure and pulse rate and then sit lonely in a room and start criticizing somebody whom you badly dislike. After five minutes, you stop the criticism and measure your blood pressure, pulse rate and overall state of your mood. You will find that the negative thinking has adversely affected your biological and as well as your psychological system of the body. Now, once again sit for another five minutes and start praising somebody whom you extremely love. After the exercise once again observe the physical condition of your body - you will find that the blood pressure, pulse rate and the overall mood have become normal or almost normal. It scientifically proves that positive thinking is essential for keeping the peace of mind and health of the body through which only one can ensure success in one's life.

In brief, positive thinking is beneficial to human beings in many ways as is evident from the following list of disadvantages-

* Sound Health
* Rational Thinking
* Strong Inter-personal Relations
* Improved Performance
* Increase in Income
* Faster Development
* Influential Personality
* Better Job Satisfaction
* Higher Morale
* Higher Caring for Others
* Decrease in Anger and Ego
* Lower Stress
* Higher Acceptability for Change
* Higher Possibility of Success

Positive thinking is advantageous not only for human beings but also for the organizations. It helps the management in many ways as given below-

* Helpful in Achievement of Goals.
* Increase in Productivity.
* Decrease in Cost of Operations.
* Lower Cases of Accidents.
* Lesser Cases of Absenteeism.
* Lesser Employee Turnover.
* Reduction in Grievances.
* Congenial Environment.
* Effective Conflict Management.
* Successful Change Management.
* Better Stress Management.
* Better Competition Management.
* Higher Team Spirit.
* Higher Generation of Creative Thoughts.
* Faster Growth of Organization.

Suggestions for Developing Positive Thinking

For replacing negative thinking by positive thinking, N.V.Peale has strongly advocated for executive the following seven-step model-

(i) For the next 24 hours, deliberately speak hopefully about everything, about your job, about your health and about your future etc. Do not allow yourself to become pessimistic in spite of strong temptation to become so- remain optimistic for the whole day and night.

(ii) After speaking hopefully for 24 hours, continue this practice for one week. After that you can become realistic for a day or two. You will discover that the meaning of realistic has changed for you.

(iii) You must feed your mind as you feed your body. To make your mind healthy, you must feed it with rich mental food of right quantity and quality. If you cannot do it yourself, consult somebody who is competent enough to guide you.

(iv) Then starts deleting negative thoughts one by one preferably one negative thought per day. It will take time but remember you have taken much more time to learn these negative thoughts then to unlearn them.

(v) Identify the positive thinkers amongst your friends and join their company for as much time as possible. There is no need to abdomen your negative friends-simply go closer to your positive friends till you yourself believe that you have become pro-positive-thinker. At a later

stage, you can go back to your negative friends to tell them the newly acquired thought pattern without taking anything from their negativism.

(vi) Avoid argument, but whenever a negative attitude is expressed, counter it with a positive and optimistic opinion.

(vii) Thank the God for giving you great and wonderful things, for if you think He is, He surly is[6].

For further strengthening positive thinking, the following suggestions deserve special attention-

* One should try to understand other's perceptions. If somebody has perceived something in a wrong way, all possible efforts should be made to persuade him to correct his perception.
* One should be encouraged to behave like the way one likes to be behaved by others. Many times we like to criticize others but hate those who criticize us. This is not logical thinking. Therefore either we love our criticism also or stop criticizing others.
* One should concentrate on work and not on results. It is because we have control only on our efforts, we have no say on its results. If we concentrate on result, it may adversely affect our performance[7].
* Many times when a person does not succeed, he begins thinking in negative way and starts blaming others on one or other ground. One should develop the habit of accepting failures pleasantly. One must remember that every failure is a step towards success.
* Positive thinking can be developed by remaining in present. Generally criticism is of past or future acts. So, one of the best ways of remaining positive in life is by living in present. Giving our best in the present is the best way to become a positive thinker[8]!
* One should learn from the mistakes committed in the past. If a person finds that he did negative thinking and as a result of that he could not succeed, he should try to change his thinking pattern in the future.
* One should try to sharpen one's personality. For this purpose a person should try to minimize his anger, jealously and hatred etc. and should try to become cool, calm, professional and pleasure giving person. It should be noted that 'Anger' is only one letter lesser than 'Danger'[9]!
* One should try to forgive others for their misdeeds to the extent possible. It could save her from negative thinking. If it is not done, it may bring large number of chain reactions. Remember, forgiveness is a very effective medicine for vivid nature of behavioral complications[10].
* One should regularly review one's thinking. Whenever it is noticed that negative elements are penetrating in thinking, one should come up with neutralizing thoughts to reduce the impact of the same.
* One should think of advantages of positive thinking from time to time. Such exercise will encourage him to adopt positive thinking in all the situation at all the time.
* Positive thinking can also be developed by doing meditation regularly. Talking daily with God in or out of meditation is also very satisfying activity[11].
* One should always believe in his own abilities. Having firm believe in oneself gives confidence and that facilitates positive thinking in due course of time.

Besides the above measures, one can think of one's own innovative ways to adopt and apply positive attitude in one's life. The most important thing is. We should believe - deeply in our heart and brain - that positive thinking is a must for peace and prosperity in our life. Once the will to have positive thinking is created, the ways will be automatically found by us. However, it is to be remembered that old habits die hard, and 'Rome was not build in a day.' As such, it may be possible that in spite of our best efforts, we may fail in the beginning but this should not be taken as a excuse to remain negative thinker. We should make more serious and sincere efforts to bring positivity in our attitude. With our deepest devotion and dedication, we are bound to become a positive thinker; there is no doubt about it. Almost all great personalities in the world whom we remember in our history as role models, have been positive thinkers. So, if they could become positive thinkers, why not we. Therefore, arise and awake-right now- to be a positive thinker and reap its benefits for leading a glorious life.

References

1. The comparison presented is between extreme positive thinkers and extreme negative thinkers who are seldom found around us. Most of the persons in the organizations are a mixture of positive and negative thinking. So, features may appear to be in over-generalized form in some cases.
2. A positive thinker praises even a negative thinker because the latter works hard to find drawbacks of the positive thinker which helps him to further improve his behavior. On the other hand, a negative thinker hates a positive thinker because he is full of negative energy which prevents him from loving others-the poor fellow does not know the pleasure of praising others.
3. An ego state is a person's way of thinking, feeling and behaving in a particular situation at a particular time. Adult ego state refers to that ego state wherein a person thinks, feels and behaves like an adult, i.e., in a rational manner.
4. Here it is pertinent to understand that 'constructive criticism' (criticism for improving others -e.g., parents criticizing their child) is a

form of positive thinking. It is the 'destructive criticism' (criticism for the sake of criticism - e.g., criticizing on baseless grounds) which is termed as negative thinking. In fact, in our Indian culture, true critics have been applauded as is evident from the couplet of the famous saint-cum-poet Kabir Das- Nindak niyare rakheye, aagan kutti chawaye. Bin sabun paani bina, nirmal kare swabhav.

5. Parent ego state refers to that ego state wherein a person thinks, feels and behaves like a parent i.e., in a dominating manner.
6. Norman Vincent Peale, The Power of Positive Thinking, Prentice Hall, New York, 1982, pp. 163-165.
7. For example, when a candidate goes for viva-voice examination or for attending an interview he generally becomes tensed and many times nervous also. It happens only when he concentrates on the possible outcome of the examination/interview-i.e., what questions will be asked, what will be the attitude of the members in the interview board, what will happen if the result was not favorable etc. If a candidate thinks on those aspects on which he has no control, he is bound to become stressful which may have negative impact on his performance. Therefore, while going for viva/interview, one should concentrate only on giving one's best performance and should not think on the possible outcome.
8. Eckhart Tolle, The Power of Now, Yogi Impressions Books Pvt. Ltd., Mumbai, 2001(Website: www.yogiimpressions.com).
9. Rai.O.P. and Kumar Pawas, 2014, Principles of Business Management, Varanasi, Wisdom Publication.
10. The practice of "confession of sin" by Christians before Jesus Christ in a church is based on this approach itself.
11. Swami Kriyanand, the disciple of famous Yogi Paramhansa Yoganand, has rightly remarked in his article "How to practice the presence of God" (http:// spirituality.indiatimes.com) that "I suggest that you test religion or spirituality within your own self. As of an experiment, try for one week to think of God and talk to him…….. Be a spiritual scientist. You take one or two minutes for brush your teeth and five to ten minutes for bathe, so why not take five minutes of your day for God. Share with God every feeling and every thought. It may become difficult after five minutes, but little by little you shall see that it becomes a habit. You shall see that gradually you will be in continuous conversations with God…… I found it to be very inspiring, when slowly walking, to try to share every moment, thought and sound with God." In this regard it may be pertinent to note that once Henry Ford, the famous industrialist from U.S.A., had said, "I feel God is managing affairs and that He does not need advice from me. With God in charge, I believe that everything will work out for the best in the end. So what is there to worry about."
12. http://abcnews.go.com/Health/story?id=117317
13. http://www.huffingtonpost.com/tamsenfadal/how-saying-thank-you-can-make-you-happier_b_6098090.html?ir=India
14. http://io9.com/does-positive-thinking-really-make-our-lives-better-1661658148/+whitsongordon
15. http://www.nytimes.com/2014/10/26/opinion/sunday/the-problem-with-positive-thinking.html?_r=0
16. http://www.successconsciousness.com/index_000009.htm
17. http://jamesclear.com/positive-thinking
18. http://www.sparkpeople.com/resource/wellness_articles.asp?id=835
19. http://www.highexistence.com/power-of-positive-thinking/
20. http://www.briantracy.com/blog/personal-success/positive-attitude-happy-people-positive-thinking/
21. http://psychcentral.com/lib/the-power-of-positive-thinking/000227
22. http://www.applythelawofattraction.com/positive-thinking-exercises/
23. http://www.positive-thinking-principles.com/positive-thinking-activities.html
24. http://www.self-esteem-experts.com/benefits-of-positive-thinking.html

●

PRAJÑĀ : RULES AND GUIDELINES

1. As far as possible "**Prajñā**" will be published twice a year : One Issue at the time of the start of the academic session, the other on the occasion of the Malaviya Jayanti.
2. The Teachers/Research Scholars of B.H.U. intending to publish their articles/research papers in the first issue of "**Prajñā**" are required to submit their manuscripts in the office of "**Prajñā**" before 30th November. The deadline for the submission of the articles/research papers for the second issue shall be 30th April. The research papers/articles of research scholars should be forwarded and recommended by the Supervisor/Head of the Department concerned.
3. The Authors contributing their research papers/ articles shall get two copies of "**Prajñā**" : The first one would be the author's copy and second will be 10 reprints of their articles.
4. All donations/subscriptions should be sent to the Editor, "**Prajñā**", B.H.U., Journal, Varanasi- 221005.
5. **Guidelines for preparation of Manuscript of Articles/Research Papers:**
   a. Articles/Research Papers should be Computer typed. Authors are required to submit a C. D. of their manuscripts alongwith the hard copy.
   b. The manuscript should be typed in double-space with 2 cm margin on the A-4 size bond paper.
   c. **For the manuscripts in Hindi and Sanskrit, the following instructions be followed:**

      APS-DV-Priyanka Roman font, Title-17 point Roman All Cap. Black, Author's Name -13 point Italic All Caps black, Text- 13 Point Upper-Lower, folio- 11 point and footnote- 9 point.

   d. **For the manuscripts in English, the following instructions be followed :**

      "Times New Roman' font, Title- 14 point, All Caps Black, Author's Name-11 Point, All Caps Italic Black, Text- 11 Point, upper Lower, footnote and folio-9 points. Text should be composed on A-4 Size in the above font.

   e. **The Research Papers/Articles should not go beyond a maximum of 10 typed pages.**
6. **The Declaration of the Author for Publication of Articles in the "Prajñā" Journal :**

   I, the Author of the research paper/article entitled "....."declare that :

   a. I take the responsibility of the content and material of my paper as I myself have written it and also have read the manuscript of my paper carefully. Also, I hereby give my consent to publish my paper in the "**Prajñā**" Journal.
   b. This article/research paper is my original work and no part of it or it's similar version is published or has been sent for publication anywhere else.
   c. I authorise the Editorial Board of the "**Prajñā**" Journal to modify and edit the manuscript. I also give my consent to the editor of **"Prajñā"** to own the copyright of my research paper/article.

   Author's Name and Signature : .....

   Date and Place : .....

   Mob : .....

TRAUMA CENTRE & SUPERSPECIALITY HOSPITAL

BANARAS HINDU UNIVERSITY

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

BANARAS HINDU UNIVERSITY

सर्वविद्या की राजधानी

विश्वविद्यालय के उद्देश्य

1. अखिल जगत् की सर्वसाधारण जनता के एवं मुख्यतः हिन्दूओं के लाभार्थ हिन्दू शास्त्र तथा संस्कृत साहित्य की शिक्षा का प्रसार करना, जिससे प्राचीन भारत की संस्कृति और उसके विचार-रत्नों की रक्षा हो सके तथा प्राचीन भारत की सभ्यता में जो कुछ महान् तथा गारैवपूर्ण था, उसका निदर्शन हो।
2. साधारणतः कला तथा विज्ञा की समस्त शाखाओं में शिक्षा तथा अन्वेषण के कार्य की सर्वतोन्मुख उन्नति करना।
3. भारतीय घरेलू धन्धों की उन्नति और भारत की द्रव्य-सम्पदा के विकास में सहायक आवश्यक व्यावहारिक ज्ञान से युक्त वैज्ञानिक, तकनीकी तथा व्यावसायिक शिल्प कलादि सम्बन्धी ज्ञान का प्रचार और प्रसार करना।
4. धर्म तथा नीति को शिक्षा का आवश्यक अंग मानकर नवयुवकों में सुन्दर चरित्र का गठन करना।

Objectives of the University

1. To promote the study of the Hindu Shastras and of Samskrit literature generally as a means of preserving and popularizing for the benefit of the Hindus in particular and of the world at large in general, the best thought and culture of the Hindus, and all that was good and gerat in the ancient civilization of India;
2. To promote learning and research generally in Arts and Sciences in all branches;
3. To advance and diffuse such scientific, technical and professional knowledge, combined with the necessary practical training as is best calculated to help in promoting indigenous industries and in developing the material resources of the country; and
4. To promote the building up of character in youth by religion and ethics as an integral part of educationa